हिन्दी आत्मकथा–लेखन और साहित्यकारों की आत्मकथाएं

समकालीन परिदृश्य 1969 से 1999 तक

पी–एच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध

शोध निर्देशिका
(प्रो. ज्योतिसर शर्मा)

शोध–कर्त्ता
(मीनेश शर्मा)

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवम् संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2003

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE LITERATURE & CULTURAL STUDIES
NEW DELHI-110067 INDIA

DATE 21.7.03

DECLARATION

I declare that the material in this thesis entitled "HINDI AATMKATHA LEKHAN AUR SAHITYAKARON KI AATMKATHAIN SAMKALEEN PARIDARSHIYA-1969 SE 1999 TAK" submitted by me is an original research work and has not been previously submitted for any othre degree of this or any other University/Institution.

MINESH SHARMA
RESEARCH SCHOLAR

SUPERVISOR
CIL/SLL&CS/JNU
18.7.03

Prof. NASEER AHMAD KHAN
CHAIRPERSON
CIL/SLL&CS/JNU

विषय–सूची

भूमिका i-vii

अध्याय–एक 1 -- 40

आत्मकथा का उदय और विकास

क) आत्मकथा का स्वरूप

ख) आत्मकथा तथा सहधर्मी विधाओं में पृथक्करण के बिंदु

ग) संस्कृत साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन के संकेत

घ) प्रारम्भिक आत्मकथा लेखन से आत्मकथा विधा का सूत्रपात

अध्याय — दो 41 -- 74

हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लेखन की परम्परा

क) आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल में आत्मकथात्मक लेखन

ख) आत्मकथालेखन का आरंभ : बनारसीदास जैन (अर्द्धकथानक – 1641)

ग) भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग में आत्मकथा लेखन

घ) छायावाद युग में आत्मकथा लेखन

ङ) स्वातन्त्र्योत्तर युग में आत्मकथा लेखन (1947–69)

अध्याय — तीन 75 – 147

हिन्दी साहित्यकार और आत्मकथा लेखन : अभिव्यक्ति के विभिन्न स्वर

क) जीवन संघर्ष

ख) दुनिया और साहित्यिक दुनिया का द्वन्द

ग) ज्ञापन और गोपन

अध्याय — चार 148 – 190

दलित आत्मकथाएं : व्यवस्था के प्रति विद्रोह

क) दलित आत्माभिव्यक्ति की परम्परा

ख) दलित आत्माभिव्यक्ति की आवश्यकता

ग) दलित आत्मकथाएं : संवेदना के विभिन्न धरातल

घ) दृष्टिकोण

अध्याय — 5 191 — 232

महिला आत्मकथाकार : व्यक्ति और परिवेश का द्वन्द

क) महिला आत्माभिव्यक्ति के विभिन्न रूप और आत्मकथाएं

ख) अभिव्यक्ति के ख़तरे

ग) परिवार और साहित्य : प्राथमिकता का प्रश्न

घ) दृष्टिकोण

अध्याय — 6 233 — 267

आत्मकथा में शिल्प–विधान

क) अभिव्यंजना के विविध प्रसाधन – प्रस्तुत योजना, बिम्ब, वक्र एवं वैचित्र्यपूर्णअभिव्यक्ति

ख) भाषा – स्वरूप, शब्द भण्डार, व्याकरण

ग) शैली – विवरणात्मक शैली, वर्णनात्मक, औपन्यासिक वार्ता शैली

उपसंहार 268 — 277

परिशिष्ट 278 — 288

सहायक ग्रंथ–सूची

.....

भूमिका

भारतीय परम्परा में 'स्व' का प्रदर्शन प्रशंसनीय कृत्य कभी भी नहीं रहा है, इसी आत्मनिषेध की प्रवृत्ति के कारण संस्कृत–पाली–प्राकृत या प्राचीन अपभ्रंश साहित्य में आत्म–परिचय के नाम पर छोटे–मोटे आत्मकथन, उद्धरण या उक्तियाँ मात्र ही मिलते है।

आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल में भी आत्मकथा लिखने का प्रचलन नहीं रहा, विभिन्न कवियों के ग्रंथों में अपना नाम अथवा कुलगोत्र इत्यादि देने की एक अस्पष्ट सी प्रवृत्ति मात्र मिलती है। 'स्व' के प्रकाशन–प्रदर्शन के प्रति हेय दृष्टि रखने के कारण भारतीय धर्म और दर्शन में 'अहं' का सर्वथा तिरस्कार किया गया है। ऐसी परिस्थतियों एवं सामाजिक वातावरण में भी सन् 1641 ई. में जैन कवि बनारसीदास जैन कृत आत्मकथा 'अर्धकथानक' की प्राप्ति निश्चय ही एक विस्मयकारी तथ्य है क्योंकि आत्मविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का तब तक साहित्य में उदय नहीं हुआ था।

यद्यपि उसी दौरान तुर्की–फारसी में अवश्य ही आत्मकथाओं का प्रणयन होता रहा। बाबर की आत्मकथा 'तुजुके–बाबरी' तथा जहाँगीरी की आत्मकथा 'तुजुके–जहाँगीरी' इसी युग की देन है। रीतिकाल के दौरान मीर द्वारा लिखित 'ज़िक्रे–मीर' भी मिलती है। इन आत्मकथाओं के लेखन में निश्चय ही ईरानी पृष्ठभूमि प्रेरणादायी रही, जहाँ आत्मकथा लेखन प्रचलन में था।

बनारसीदास जैन की आत्मकथा से हिंदी साहित्य में आत्मकथा लेखन का आरंभ हो कर भी नहीं हो सका। आधुनिक युग में नवजागरण के फलस्वरूप साहित्य और समाज में वैचारिक परिवर्तन आया और समष्टि के स्थान पर व्यष्टि की प्रतिष्ठा हुई। फलस्वरूप साहित्य में भी यथार्थपरक एवं आत्मसमीक्षापूर्ण लेखन का उदय हुआ तथा 'अर्धकथानक' के दौ सौ अड़तीस वर्षों के उपरांत सन् 1879 ई. में स्वामी दयानंद सरस्वती की आत्मकथा 'आत्मचरित' आई।

भारतेंदु युग तथा द्विवेदी युग तक आते–आते साहित्यकारों की झिझक टूट चुकी थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र (2 पृष्ठीय), प्रताप नारायण मिश्र (अपूर्ण), राधाचरण गोस्वामी (12 पृष्ठीय) इत्यादि ने अत्यंत सक्षिप्त आत्मकथ्य लिखे। 1901 में अंबिकादत्त व्यास ने छप्पन पृष्ठीय 'निज वृत्तांत' लिखा। सत्यानंद अग्निहोत्री (मुझमें देव जीवन का विकास), भाई परमानंद (आपबीती) रामप्रसाद बिस्मिल (आत्मकथा) इत्यादि की आत्मकथाऐं इसी युग में आई।

1932 में प्रेमचंद के 'हंस' के आत्मकथा विशेषांक ने इस विधा को और प्रोत्साहन दिया।

स्वतंत्रता के पश्चात हिन्दी साहित्य आत्मकथा के क्षेत्र में विपन्न नहीं रहा। अब न केवल साहित्यकारों बल्कि राजनेताओं, प्रशासकों, अभिनेताओं इत्यादि ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया।

हाल के कुछ वर्षों में आत्मकथा लेखन का क्षेत्र और विस्तृत हुआ है। आत्मकथा लेखन अब जीवन के इतिहास का कलात्मक प्रस्तुतिकरण मात्र ही नहीं बल्कि विचारधारा की अभिव्यक्ति, समाजपरिवर्तन आदि उद्देश्यों से भी लिखी जा रही है। दलित आत्मकथाऐं तथा महिला आत्मकथाऐं इन्हीं सन्दर्भों से अपने कथ्य एवं उद्देश्य में नवीनता लिये हुए है। मोहनदास नेमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' आदि दलित चेतना आंदोलन की प्रतिनिधि कृतियाँ है। नब्बे के दशक के उत्तरार्ध में कुसुम अंसल (जो कहा नहीं गया), कृष्णा अग्निहोत्री (लगता नहीं है दिल मेरा) तथा पद्मा सचदेव (बूंद बावड़ी) की आत्मकथाएं भी महिलाओं की प्रतिनिधि कृति बन कर आत्मकथा लेखन के क्षेत्र में शामिल हुई हैं। इन आत्मकथाओ से जहाँ स्त्री का समाज के प्रति तथा समाज का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है वहीं स्त्री लेखन की दिशा भी पता चलती है। वर्तमान में आत्मकथा विधा काफी लोकप्रिय हो चुकी है अतः समीक्षकों–आलोचकों तथा शोधकर्ताओं का आत्मकथा के महत्त्व पर ध्यान आकृष्ट हुआ है।

हिन्दी में आत्मकथा विषय से सम्बन्धित अभी तक निम्न शोधकार्यों की जानकारी मुझे मिली।

1967 में सरोज जग्गी ने 'हिन्दी साहित्य में आत्मकथा' शीर्षक से दिल्ली विश्वविद्यालय के अंतर्गत शोध प्रबंध प्रस्तुत किया। 1978 ई. मे कमलेश अरोडा द्वारा मेरठ विश्वविद्यालय से 'हिन्दी और गुजराती आत्मकथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध किया गया। 1979 में विनीता अग्रवाल का शोध प्रबंध 'हिंदी आत्मकथाएं, सिद्धांत एवं स्वरूप विश्लेषण' पटना विश्वविद्यालय से आया। 1983 में विश्वबंधु शास्त्री का शोध प्रबंध दिल्ली विश्वविद्यालय से आया। इसी क्रम में 1989 में गुजरात विश्वविद्यालय से कमलेश सिंह का शोध प्रबंध 'हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप और साहित्य' विषय पर प्रस्तुत हुआ।

ये शोध प्रबंध आत्मकथा के सिद्धांत तथा स्वरूप पक्ष पर विशेषतः केन्द्रित है। कुछ ऐसे शोध प्रबंध भी दृष्टि में आऐ जो समग्र आत्मकथा साहित्य को न लेकर किसी लेखक विशेष की आत्मकथा पर केन्द्रित हैं – यथा 1988 में महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय रोहतक से स्नेहलता शर्मा का शोध प्रबंध 'आत्मकथाकार बच्चन : काव्यात्मक मूल्यांकन', जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से पंकज चतुर्वेदी द्वारा 1994 में 'आत्मकथा की संस्कृति और अपनी ख़बर', 1996 में अभयकुमार द्वारा 'दलित आत्मकथा की परम्परा' और 'अपने–अपने पिंजरे' तथा 1997 में राजेश पासवान द्वारा 'दलित आत्माभिव्यक्ति' और 'जूठन' विषय पर लघु शोध प्रबंध प्रस्तुत किये गए।

इन सभी शोधकार्यों में आत्मकथा के स्वरूप अथवा आत्मकथा साहित्य के क्रमिक विकास का निरूपण किया गया है अथवा किसी एक कृति पर ध्यान केंद्रित किया गया है।

आधुनिक काल में हिन्दी में शताधिक आत्मकथाएं आ चुकी हैं, इनमें से अधिकतर आत्मकथाएं साहित्यकारों द्वारा लिखी गई हैं जिसमें उनकी विचारधारा, उनके जीवनानुभव और व्यक्तित्व इत्यादि पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही शैली भी परिनिष्ठित है। साहित्यकारों की आत्मकथा की इस रोचकता को देखते हुए ही मैंने उनकी आत्मकथाओं को यहाँ शोधकार्य का विषय बनाने का निश्चय किया।

यद्यपि 1939 ई. में देवदत्त शास्त्री ने पांच साहित्यकारों – प्रेमचंद, कृष्णदत्त पालीवाल, अंबिकादत्त वाजपेयी, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की आत्मकथाओं का एक संकलन 'साहित्यकारों की आत्मकथा' शीर्षक से निकाला था, पर इस पुस्तक में इन आत्मकथाओं का संकलन मात्र था, विश्लेषण नही। अतः यह शोधकार्य अपने ढंग का मौलिक कार्य है अभी तक साहित्यकारों की आत्मकथाओं पर शोधकार्य नहीं हुआ है।

इस शोध प्रबंध में 1969 से 1999 तक की कालावधि में प्रकाशित उन्नीस आत्मकथाओं का चयन किया गया है। चयन का आधार कवि, उपन्यासकार, ऐतिहासिक उपन्यासकार, मनोवैज्ञानिक लेखक, शिक्षाविद्, हास्य–व्यंग्य लेखक सभी की आत्मकथाओं को प्रतिनिधि तौर पर शामिल करना रहा है। नब्बे के दशक में दलित आत्मकथाएं तथा महिला आत्मकथाएं आत्मकथा के क्षेत्र में प्रभावशील रही हैं। अतः दलित एवं महिला आत्मकथाओं में हमने अभी तक प्रकाशित सभी आत्मकथाओं को लिया है। इस प्रकार साहित्य के विविध क्षेत्रों के प्रतिनिधि लेखकों की आत्मकथाएं समग्रतः तथा तुलनात्मक रूप से पहली बार इस शोध प्रबंध में विवेचित हो रही हैं।

इस शोधकार्य में 1969–1999 तक प्रकाशित साहित्यकारों की जिन आत्मकथाओं को लिया है उनकी सूची निम्नवत है –

साहित्यकार	शीर्षक	प्रकाशन वर्ष
हरिवंशराय बच्चन	क्या भूलूं क्या याद करूँ	1969
हरिवंशराय बच्चन	नीड़ का निर्माण फिर	1970
डॉ. देवराज	यौवन के द्वार पर	1970
डॉ. वृन्दावनलाल वर्मा	अपनी कहानी	1972
डॉ. हरिवंशराय बच्चन	बसेरे से दूर	1977
हंसराज रहबर	मेरे सात जन्म भाग–1	1985
अमृतलाल नागर	टुकड़े टुकड़े दास्तान	1986

हंसराज रहबर	मेरे सात जन्म भाग–3	1987
डॉ. नगेन्द्र	अर्द्धकथा	1988
हंसराज रहबर	मेरे सात जन्म, भाग–3	1990
हंसराज रहबर	मेरे सात जन्म, भाग–4	1991
हरिवंशराय बच्चन	दशद्वार से सोपान तक	1992
गोपाल प्रसाद व्यास	कहो व्यास कैसी कटी	1994
मोहनदास नैमिशराय	अपने–अपने पिंजरे	1995
कुसुम अंसल	जो कहा नहीं गया	1996
ओमप्रकाश वाल्मीकि	जूठन	1996
कृष्णा अग्निहोत्री	लगता नहीं है दिल मेरा	1998
कौशल्या बैसन्त्री	दोहरा अभिशाप	1999
पद्मा सचदेव	बूंद–बावड़ी	1999

इस शोध–प्रबंध में आत्मकथाओं के विश्लेषण हेतु समाजशास्त्रीय दृष्टि को आधार बनाया है जिससे आत्मकथा को मात्र वैयक्तिक सरोकारों से ही नहीं, सामाजिक सरोकारों से भी समझा जा सके। प्रत्येक आत्मकथा एक साहित्यिक कृति होने के साथ ही लेखक के जीवन का दर्पण तथा लेखक की दृष्टि से समाज का विश्लेषण भी होती है, इसलिये हमने इनका विश्लेषण समाजशास्त्रीय विधि से करने का प्रयास किया है।

शोध प्रबंध को सुचारू और सुविचारित विश्लेषण के लिये छः अध्यायों में बांटा गया है। प्रथम अध्याय का शीर्षक है – 'आत्मकथा का उदय और विकास'। इसमें आत्मकथा की परिभाषा, आत्मकथा की रचना–प्रक्रिया तथा आत्मकथा लेखन के प्रेरणा एवं प्रयोजनों पर विचार करते, हुए उसका स्वरूप जीवनी, संस्मरण, यात्रा वृत्तांत आदि से किस प्रकार भिन्न है, यह स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय – 'हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लेखन की परम्परा' को पांच सह–अध्यायों में विभक्त किया गया है तथा उसमें क्रमशः आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल

तथा आधुनिक काल में क्रमशः आत्मकथा लेखन की स्थिति तथा विकासक्रम की पड़ताल की गई है।

बनारसीदास जैन की आत्मकथा 'अर्धकथानक' के ऐतिहासिक महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए एक सह–अध्याय में इस आत्मकथा का विश्लेषण किया गया है।

तृतीय अध्याय 'हिंदी साहित्यकार और आत्मकथा लेखन : अभिव्यक्ति के विभिन्न स्वर' में सभी विवेच्य आत्मकथाओं का विश्लेषण किया गया हैं यह विश्लेषण तीन स्तरों पर किया गया है (1) जीवन संघर्ष; (2) दुनिया और साहित्यिक दुनिया का द्वन्द; तथा (3) ज्ञापन और गोपन। ये तीन सह–अध्यायों के शीर्षक हैं तथा इन तीन स्तरों से प्रत्येक आत्मकथाकार के जीवनानुभवों का विलेषण किया गया है।

चौथे अध्याय का शीर्षक है – 'दलित आत्मकथाएं : व्यवस्था के प्रति विद्रोह' इसमें हमने दलित आत्माभिव्यक्ति की परम्परा, उसकी आवश्यकता, उसके वर्तमान स्वरूप तथा साहित्यकारों, समीक्षकों का दलित लेखन के प्रति दृष्टिकोण विषयों पर उनके विचारों का विश्लेषण किया है।

पंचम अध्याय में महिला आत्मकथाकारों को रखा गया है। इसका शीर्षक है 'महिला आत्मकथाकार : व्यक्ति और परिवेश का द्वन्द' इसे चार सह–अध्यायों में बांटा गया है – (1) महिला आत्माभिव्यक्ति के विभिन्न रूप और आत्मकथाएं (2) अभिव्यक्ति के ख़तरे (3) परिवार और साहित्य प्राथमिकता का प्रश्न और (4) दृष्टिकोण।

छटवें तथा अंतिम अध्याय में 'आत्मकथा में शिल्प विधान' पर चर्चा की गई है। आत्मकथा में विषय तो लेखक के जीवन की कथा के रूप में पूर्व निर्धारित रहता है किंतु शिल्प का निर्धारण नहीं रहता है वह रचनाकार की रुचि, उसकी मनःस्थिति तथा आत्मकथा लेखन के उसके उद्देश्य के अनुरूप बदल सकता है। अतः विभिन्न आत्मकथाओं में भिन्न–भिन्न भाषा और शैली मिलती है। आत्मकथाकारों द्वारा अपनाए गए अभिव्यंजना के प्रसाधनों, भाषा शैली इत्यादि पर इस अध्याय में चर्चा की गई है, तथा अंत में 'उपसंहार' में इन अध्यायों में किये गए विश्लेषणों की सहायता से प्राप्त निष्कर्ष बिंदुओं पर प्रकाश डाला गया है।

इस शोध प्रबंध के लेखन में शुरू से लेकर समाप्ति तक कई पड़ाव ऐसे भी आए जहाँ विषय–सामग्री अथवा कार्य की गति को लेकर मैं हतोत्साहित हो गई किंतु मेरी शोध निर्देशिका डॉ. ज्योतिसर शर्मा की मैं विशेषतः आभारी हूँ जिन्होंने न केवल श्रेष्ठ मार्गदर्शन दिया बल्कि मातृवत स्नेह भी दिया जिससे मैं यह कार्य सम्पन्न कर सकी ! इतना सहयोग कम ही शोध निर्देशक अपने छात्र का करते होंगे, जितना आदरणीया मैडम ने मेरा किया। मैं उन्हें धन्यवाद देती हूँ।

साथ ही केंद्रीय पुस्तकालय जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, साहित्य अकादमी पुस्तकालय नई दिल्ली, ज़ाकिर हुसैन पुस्तकालय जामिया मिल्लिया इस्लामिया नई दिल्ली तथा हिन्दी भवन पुस्तकालय, भोपाल के कर्मचारियों का भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ जिनकी व्यवस्था के सहयोग से मैं अपना कार्य व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत कर पा रही हूँ।

अंत में, यद्यपि दोस्तों को धन्यवाद नहीं दिया जाता पर फिर भी, मैं अपनी मित्रों जे.एन.यू. की मेरी सीनियर कमला वर्मा तथा जामिया मिल्लिया इस्लामिया की अपनी जूनियर किश्वर जहाँ को, हार्दिक धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने गंगा छात्रावास के उस कमरे में जहाँ मैंने यह शोध–प्रबंध लिखा, माहौल को जीवंत बनाए रखा एवं न केवल अध्ययन में बल्कि अध्ययनेतर विषयों में भी मेरी मदद की जिससे मैं एकाग्र चित्त होकर अपना शोधकार्य सम्पन्न कर सकी।

मैं इन सभी की आभारी हूँ।

– मीनेश शर्मा

अध्याय—एक

आत्मकथा का उदय और विकास

क) आत्मकथा का स्वरूप

ख) आत्मकथा तथा सहधर्मी विधाओं में पृथक्करण के बिंदु

ग) संस्कृत साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन के संकेत

घ) प्रारम्भिक आत्मकथा लेखन से आत्मकथा विधा का सूत्रपात

अध्याय – 1

आत्मकथा का उदय और विकास

आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा आदिकाल से मनुष्य के भीतर रही है। कला और साहित्य के सभी रूप आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा के ही प्रतिफल होते हैं। काव्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, वास्तुशिल्प इत्यादि के रूप में मनुष्य ने वस्तुतः इसी आत्माभिव्यक्ति की साध को पूरा किया है, इसीलिए साहित्य को 'जीवन की समालोचना' कहा जाता है, किन्तु साहित्य के भी विभिन्न प्रकारों में जीवन की जो सबसे सच्ची तथा प्रमाण समर्थित समालोचना है वह है – आत्मकथा।

यही प्रमाणिकता आत्मकथा को जीवंतता प्रदान करती है। ख़ुद की कहानी ख़ुद की जुबानी। कथानायक ही कथावाचक भी है इसलिये कहीं कोई शंका–संदेह नहीं। 'स्वयं' के लिए स्वयं लिखी हुई 'स्वयं' की कथा ! बल्कि कभी–कभी तो वह स्वयं को ही संबोधित भी करने बैठ जाता है, जैसे गोपाल प्रसाद व्यास ने अपनी आत्मकथा का शीर्षक ही दिया है 'कहो व्यास, कैसी कटी ?'

वस्तुतः आत्मकथा जीवन का पुनः स्मरण है। यह मात्र स्मृति पर आधारित तथ्य संकलन नहीं होती है, इसमें जीवन यथार्थ का संवेदनात्मक पुनः स्मरण, वैचारिक सामान्यीकरण तथा साभिप्राय मगर कलात्मक रूपान्तरण किया जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जीवन सत्य को कला सत्य में ढ़ालना है। 'सत्य' की रक्षा करते हुए कथा कहनी है। अतः सत्यनिरूपण आवश्यक है किन्तु यह मात्र सत्यनिरूपण नहीं है इसमें सत्य संवेदना से परिपूर्ण होता है अतः सर्जनात्मक आनंद भी है। यह तथ्यात्मक साहित्य होते हुए भी रसात्मक साहित्य है। इसमें ज्ञानात्मक संवेदना भी है और संवेदनात्मक ज्ञान भी। इसीलिए आत्मकथाएं प्रमाणप्रभूत होते हुए भी शुष्क नहीं होतीं।

पाठक आत्मकथा पढ़कर मुलाकात का अनुभव करता है।

आत्मकथा का स्वरूप

आत्मकथा में 'आत्म' भी है और 'कथा' भी। 'आत्म' तत्व जहाँ इसे सत्यता प्रदान करता है वहीं 'कथा' तत्व इसे रोज़नामचा बनने से बचाता है। जीवन के अस्फुट टूटे–बिखरे घटनाक्रम को एक सूत्र में पिरोने के लिए आत्मकथा में आत्मतत्व के साथ–साथ ही कथातत्व भी चलता है इसीलिए बहुत बार 'आत्मकथा' विधा को 'आत्मविज्ञापन' का प्रकार भी मान लिया जाता है। किन्तु 'आत्मज्ञापन' और 'आत्मगोपन' के मध्य का सन्तुलित मार्ग 'आत्मविश्लेषण' भी होता है तथा इसमें लेखक को वही आत्मविश्लेषण का रास्ता अख़्तियार करना होता है और यहीं पर लेखक की परीक्षा होती है कि, वह आत्माख्यापन, आत्मप्रकाशन करता है या जीवन का उबाऊ इतिवृत्त सुनाता है, जगबीती को आपबीती बना देता है या वाकई सन्तुलित आत्मविश्लेषण कर अपने आप को प्रकाशित करता है। सिर्फ 'आत्म' को 'कथात्मक' और 'कलात्मक' ढंग से संप्रेषित कर देना ही आत्मकथा का लक्ष्य नहीं होता बल्कि यह आत्मपरीक्षण, आत्मनिरीक्षण की सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया भी है। इसे 'आत्मआविष्कार' भी कह सकते हैं।

व्युत्पत्ति तथा परिभाषा

हिन्दी में जीवन की कथा के द्योतक अनेक शब्द प्रचलित हैं – आत्मवृत्त, आत्मजीवनी, आत्मचरित्र, आत्मकहानी, आत्मवृत्तांत, आत्मगाथा, आपबीती, अपनी रामकहानी, जीवनकथा, जीवन कहानी, इत्यादि–इत्यादि।

अंग्रेज़ी में 'बायोग्राफी' शब्द के आगे 'ऑटो' उपसर्ग लगाकर ऑटोबायोग्राफी नामकरण किया गया है। जिस जीवनी का लेखक स्वयं कथानायक हो वह आत्मकथा होती है। इस अनुवाद की तर्ज़ पर हिन्दी में अनुवाद बनना चाहिए 'आत्म–जीवनी' किन्तु 'आत्मजीवनी' शब्द में 'कथा' की सरसता लुप्त हो जाती है तथा जीवन के आद्योपांत विवरण का ही आभास मिलता है। अकबर इलाहाबादी के शेर की तरह कुछ इस प्रकार –

'अब क्या कहें अहबाब, क्या कारे नुमायां कर गए
बी.ए. किया, नौकर हुए, शादी करी और मर गए।'[1]

---

1. उर्दू साहित्य का इतिहास : फिराक गोरखपुरी, पृ. 222

आत्मकथा को जीवन का इस प्रकार का क्रमानुसार यंत्रवत कथावाचन बनने से बचाने के लिए ही हिन्दी में ऑटोबायोग्राफी के लिए 'आत्मजीवनी' शब्द न चुनकर, नामकरण किया गया – 'आत्मकथा' !

परिभाषा — हिंदी में ऑटोबायोग्राफी की अनुवाद पीठिका पर 'आत्मजीवनी' न स्वीकार करके 'आत्मकथा' शब्द अधिग्रहीत किया गया जोकि उसे क्रमबद्ध बिंदुवार जीवन स्मरण से पृथक करता है। किंतु आज भी हमारे यहाँ पुस्तकालयों में आत्मकथाएं जीवनी, यात्रावृत्तांत, संस्मरणों या जेलकथा, शिकारकथा, सत्यकथा के साथ ही रखी हुई मिलती है तथा जीवनी विधा से अलग नहीं समझी जाती हैं तब साहित्य के इतिहास में इसके लिये अलग से परिभाषा कैसे संभव है। हिन्दी के अधिकतर समीक्षक व विद्यार्थी इसे जीवनी का ही एक प्रकार मानते हैं। आमधारणा आज भी यही है कि जीवन चरित्र के दो रूप हैं जीवनी तथा आत्मकथा। "आत्मकथा और जीवनी में प्रायः विशेष अंतर नहीं होता।"[1] जीवनी दूसरे के द्वारा लिखी जाती हैं जबकि आत्मकथा का लेखक स्वयं चरित नायक होता है। संस्कृत कोशों में आत्मकथा शब्द नहीं मिलता है। वहाँ 'आत्मवृत्त कथन' और 'आत्मचरित्' जैसे शब्द अवश्य मिलते हैं जो आत्मकथा के समकक्ष अर्थ में ही लिये जाते हैं।

परम्परागत हिन्दी समीक्षाशास्त्रों में आत्मकथा का सैद्धांतिक विवेचन न के बराबर हुआ है अतः आत्मकथा के स्वरूप विवेचन पर हमें निराशा ही हाथ लगती है किंतु आत्मकथा की परिभाषा के निर्धारण में हम विभिन्न कोशों से मदद ले सकते हैं। हिंदी के सभी कोशों में 'आत्मकथा' शब्द पर विचार और परिभाषा निरूपित की गई है :

(1) **मानक हिंदी कोश** – मानक हिंदी कोश में आत्मकथा को इस प्रकार परिभाषित किया है – "आत्मकथा 'आत्मन' और 'कथा' का सामासिक रूप है जिसमें आत्मन का अर्थ है – अपना, निज का आत्मा का, मन का और कथा का अर्थ है अपनी जीवन कहानी। इस प्रकार आत्मकथा का अर्थ हुआ अपने जीवन की कहानी।[2]

---

1. आधुनिक हिंदी साहित्य (1947–1962) – डॉ. रामगोपाल सिंह चौहान, पृ. 210
2. मानक हिन्दी कोश : संपादक – रामचंद्र वर्मा, खण्ड–1

(2) **समानान्तर कोश** – अरविंद कुमार तथा कुसुम कुमार द्वारा निर्मित समानान्तर कोश हिंदी 'थिसॉरस' में आत्मकथा के लिये चार पर्याय दिये गए हैं – आत्मचरित, आत्मचरित्र, तुजुक, मेरी कहानी ![1]

(3) **भार्गव शब्द कोश** – भार्गव शब्द कोश में आत्मकथा को ज्यादा व्याख्यायित न करके मात्र 'स्वलिखित जीवनी'[2] बताया गया है।

(4) **हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार** – "आत्मकथा लेखक के जीवन का सम्बद्ध वर्णन है। इसमें बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्त्व दिखलाया जाना संभव है।"[3]

(5) **आदर्श हिन्दी कोश में आत्मकथा की यह परिभाषा दी गई है** – "जीवन चरित्र का अर्थ है जीवन का वृत्तांत, जिन्दगी का हाल, जीवन वृत्तांत युक्त ग्रन्थ।"[4]

(6) **हिन्दी शब्द सागर में आत्मकथा की संक्षिप्त परिभाषा है** – "जीवन चरित्र अर्थात् जीवनभर का वृत्तांत"[5]

विभिन्न कोशों के अलावा विभिन्न लेखकों और स्वयं आत्मकथाकारों ने भी आत्मकथा को परिभाषित किया है :

(7) **डॉ. वासुदेव सिंह** – "जब कोई लेखक अपना जीवनवृत्त स्वयं लिखता है तो उसे आत्मकथा या आत्मचरित कहते हैं। इस विधा के माध्यम से लेखक अपने अतीत के जीवन को प्रस्तुत करके आत्म निरीक्षण करता है।"[6]

---

1. समानान्तर कोश – अरविंद कुमार – कुसुम कुमार
2. भार्गव शब्द कोश – भार्गव बुक डिपो, सं. 2000
3. हिन्दी साहित्य कोश, भाग– सम्पा. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा
4. आदर्श हिन्दी कोश – प्रथम संस्करण, सम्पा. रामचन्द्र पाठक
5. हिन्दी शब्द सागर – पांचवा संस्करण
6. हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास (आधुनिककाल) : डॉ. वासुदेव सिंह, पृ. 244

(8) · **रमेश कुन्तल मेघ** – "आत्मचरित में लेखक और चरितनायक एक ही हो जाते हैं। घटनाओं के बजाए व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है और निष्पक्षता के बजाय आत्मोद्घाटन प्रमुख हो जाता है। इसमें संस्मरण व रेखाचित्र दोनों ही घुले–मिले चलते हैं। लेखक स्वयं अपना विश्लेषण भी करता चलता है और दृष्टिकोणों के द्वारा पाठकों को प्रवृत्तिमूलक सूचनाएं भी देता है।"[1]

(9) **डॉ. भगवानशरण भारद्वाज** – "अपने जीवन के अनुभवों को सुसम्बद्ध रूप में उपन्यस्त किया जाता है और उसके विकास की गति को रेखांकित किया जाता है तो आत्मकथा की सृष्टि होती है"[2]

(10) **देवेन्द्र सत्यार्थी** – "आत्मकथा को 'टू इन वन' क्यों न कहा जाए साहित्य और कला की वस्तु होने के साथ–साथ इतिहास की सौगात अथवा दस्तावेज़ कहना रचना के मूल्यांकन के अनुरूप होगा।"[3]

(11) **अमृता प्रीतम** – "आत्मकथा यथार्थ से यथार्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया है।"[4]

(12) **हरिवंशराय बच्चन** – बच्चन जी आत्मकथा को जीवन की एक तस्वीर मानते हैं – "आत्मकथा जीवन की एक तस्वीर है ... आत्मकथा का अर्थ है आत्मचित्रण।"[5]

(13) **श्री डी.जी. नायक** ने 'आर्ट ऑफ ऑटोबायोग्राफी' में कहा है कि "मानव जीवन कुछ अपरिहार्य क्रमों से गुजरता है, जन्म, बचपन, यौवन तथा वृद्धावस्था। जब इस क्रमिक विकास का वर्णन एक कथा में समाहित करके प्रस्तुत किया जाता है तो साहित्यिक शब्दावली में उसे आत्मकथा नाम दिया जाता है।"[6]

---

1. समसामयिक हिन्दी साहित्य – साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृ. 280
2. हिन्दी जीवनी साहित्य : सिद्धांत और अध्ययन, पृ. 44
3. देवेन्द्र सत्यार्थी : 'चांद सूरज के बीरन' (प्रस्तावना 'खोई हुई पहचान')
4. रसीदी टिकट : अमृता प्रीतम, पृ. 149
5. क्या भूलूं क्या याद करूं – बच्चन, पृ. 1
6. आर्ट ऑफ आटोबायग्राफी – श्री डी.जी. नायक पृ. 44

(14) डॉ. नगेन्द्र ने 'आत्मकथा' को 'अतीत और वर्तमान के मध्य संबद्ध सूत्रों की खोज' परिभाषित किया है – "आत्मकथाकार अपने सम्बन्ध में किसी मिथक की रचना नहीं करता, कोई स्वप्न–सृष्टि नहीं रचता, वरन् अपने गत जीवन के खट्टे–मीठे, उजले–अन्धेरे, प्रसन्न–विषण्ण, साधारण–असाधारण संचरण पर मुड़कर एक दृष्टि डालता है, अतीत को पुनः कुछ क्षणों के लिए स्मृति में जी लेता है और अपने वर्तमान तथा अतीत के मध्य सम्बन्ध सूत्रों का अन्वेषण करता है।"[1]

स्वयं आत्मकथा लेखक बच्चन 'आत्मकथा' को 'जीवन की तस्वीर' मानते हैं तो नगेन्द्र 'अतीत और वर्तमान के मध्य सम्बद्ध सूत्रों' की खोज मानते हैं। अमृता प्रीतम यथार्थ से यथार्थ तक की प्रक्रिया। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि, 'आत्मकथा साहित्य की वह माध्यम निरपेक्ष विधा है जिसमें लेखक जीवन को अपनी सार्थकता में जी लेने (संपूर्णता में नही) के बाद अपना, अपने से जुड़ी मुख्य घटनाओं और व्यक्तियों का विवरण कथात्मक ढंग से संप्रेषित करते हुए आत्म विश्लेषण करता है।

आत्मकथा : प्रेरणा और प्रयोजन

प्रेरणा और प्रयोजन दो मिलेजुले तत्व हैं। व्यक्ति कहाँ से प्रभाव ग्रहण कर रचना निर्माण को उत्प्रेरित होता है। लेखन की इच्छा का प्रस्फुटन जिस कारण से होता है वह प्रेरणा है, जबकि लेखन के उपरांत सिद्ध होने वाली मंशा प्रयोजन है। इसमें दूरदृष्टि का समावेश है। कह सकते हैं कि ये दो तत्व रचना निर्माण के दो छोरों पर विद्यमान हैं। 'प्रेरणा' लेखन को प्रवृत करती है अतः प्रथम बिंदु है 'प्रयोजन' लेखन की समाप्ति पर हल होता है अतः अंत में हासिल होता है, किंतु उसका आरंभ प्रथम बिंदु से ही हो जाता है अतः दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। स्थूलतः दोनों का वर्गीकरण दो विभिन्न तत्वों के रूप में किया जा सकता है।

प्रेरणा –

प्रेरणा दो प्रकार की होती है अंतः प्रेरणा तथा बाह्य प्रेरणा ! यद्यपि यह संदेह से परे है कि सृजन का मूल अंतः प्रेरणा ही होती है किंतु अंतःप्रेरणा को, सुषुप्त और उपेक्षित–दमित सृजनशीलता को जाग्रत करने का काम बाह्य प्रेरणा करती है।

1. आस्था के चरण – डॉ. नगेन्द्र, पृ. 202

अधिकतर आत्मकथा लेखकों ने अपनी रचना में इस तथ्य का वर्णन किया है कि उन्हें यह आत्मकथा लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली। उनकी आत्मकथा का अनुशीलन करने के उपरांत यह तथ्य अवश्य ही पुष्ट होता है कि 'अनुरोध में शक्ति हैं। अधिकांश आत्मकथाकार इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि अपनी आत्मकथा लिखने का विचार अपने परिजनों–मित्रों के अनुरोध पर ही आया। यद्यपि मित्रों–परिजनों के अनुरोध के विपरीत 'बच्चन' आत्मप्रेरणा को अपने लेखन का एकमात्र हेतु बताते हैं – "सृजन के मामले में मुझे खेद है कि मैं अपने से बाहर के किसी प्रकार के प्रोत्साहन, प्रलोभन अथवा दबाव का लिहाज नहीं पाता।"[1] जबकि अधिकतर लेखकों के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि अनुरोध की शक्ति आत्मकथा लेखन की प्रेरणा में मुख्य भूमिका निबाहती है। राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा की प्रस्तावना में ही इस 'आग्रह' तत्व का प्रेरक कारक के रूप में वर्णन किया है – "1942–45 ई. में जेल में मेरे सभी साथी भाई मथुराप्रसाद, चक्रधर शरण और वाल्मीकि चौधरी ने बहुत आग्रह किया कि इसे पूरा कर देना चाहिये।"[2]

देवेन्द्र सत्यार्थी ने भी अपनी आत्मकथा 'चांद–सूरज के बीरन' में अनुरोध को प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया है – "प्रभाकर जी ने राय दी, "सब काम छोड़कर अपनी जीवनी लिख डालो मित्र !" तथा "एक मित्र की पत्नी ने राय दी – "अब वक़्त है कि आप अपनी जीवनी लिखने बैठ जाएं।" मैं सामने से हँस दियां पर महिला ने कई बार अपना सुझाव दुहराया । फिर एक दिन मैंने पंजाबी में एक कविता लिखी, जिसका शीर्षक था – "मैं अपनी जीवनी लिख रहा हूँ।" ... पर वह महिला अपना सुझाव दोहराती रहीं विवश होकर मैं अपनी जीवनी के पन्ने लिखने लगा।"[3]

दलित लेखिका कौशल्या बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' की भूमिका में स्पष्ट किया है कि वे लेखकीय मानसिक द्वन्द्व की पीड़ा में जी रही थीं, पर अनुरोध के बल ने उन्हें आत्मकथा लिखने को प्रवृत्त किया – "मैं अतीत की यादों के

---

1. बसेरे से दूर – बच्चन, पृ. 5
2. आत्मकथा – डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, प्रस्तावना
3. चांद सूरज के बीरन – देवेन्द्र सत्यार्थी (भूमिका)

सहारे अपना जीवन जी रही थी, अपने भोगे हुए यथार्थ को शब्दों में उतारने के द्वन्द्व की पीड़ा में जीवन के 68 वर्ष बीत गए। ... मैं उनसे (कुमुद पावड़े से) मिलने उनके निवास स्थान गई। वहीं पर उनकी छोटी बहन नलिनी सोमकुंवर से भेंट हुई। ... उन्होंने मुझसे कहा कि आपको सामाजिक जीवन में जो अनुभव आए उन्हें आप लिखती क्यों नहीं। ... फिर भी मैंने लिखने में बहुत देर की। कई बार संकल्प किया और तोड़ दिया मराठी की प्रसिद्ध लेखिका उर्मिला पंवार, मीनाक्षी मून, बाबा साहेब अम्बेडकर पर किताब लिख रही थीं। ... उन्होंने भी कहा कि आप अपने अनुभव लिखें। फिर मैंने निश्चय कर लिया लिखने का ।[1]

अतः स्पष्ट है कि आत्मप्रेरणा ही जैसा कि हमने आरंभ में भी कहा है, सृजन का मूल हेतु है अतः लेखक के अचेतन मन में तो आत्माभिव्यंजना की इच्छा अवश्य ही विद्यमान रहती है, किंतु बाह्य प्रेरणा उस सुप्त इच्छा को जाग्रत तथा सबल–सुदृढ़ कर आत्मकथा लिखने को प्रेरित करती है।

प्रयोजन

मम्मट ने काव्य का प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि –

यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षयते।
सद्यः परनिवृत्तये कान्ता सम्मित योपदेशयुजे।

किसी भी साहित्यिक रचना के पीछे ये पांचो उद्देश्य कमोबेश निहित रहते हैं। यद्यपि आत्मकथा बेहद निजी रचना होती है किंतु फिर भी वह निष्प्रयोजन नहीं लिखी जाती। कोई भी सृजन निरूद्देश्य नहीं होता है। क्योंकि 'कला कला के लिये' का सिद्धांत कहानी कविता या साहित्य की अन्य विधाओं पर भले ही लागू हो जाए किंतु आत्मकथा निष्प्रयोजन नहीं लिखी जा सकती। आत्मप्रकाशन, आत्मविश्लेषण तो मूल प्रयोजन है ही साथ ही आत्मविज्ञापन, आत्मप्रशंसा, आत्मश्लाघा से लेकर आत्मस्वीकृति, आत्मनिवेदन, आत्मप्रताड़ना तक के बहुत से प्रयोजन आत्मकथा लेखन में देखने को मिलते हैं। मम्मट के सूत्र के अतिरिक्त भी आत्मकथा लेखन के अनेक प्रयोजन रचना में प्रत्यक्ष उजागर या दबे–छिपे मिलते हैं। क्योंकि आत्मकथा मात्र शुष्क कलापूर्ण साहित्य

---

1. कौशल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप (भूमिका से)
2. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र – डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, पृ. 132

नहीं है इसमें कलापक्ष के साथ भावपक्ष भी सजग रहता है अतः इसमें मानव मन के अनंत रहस्यों, विकारों, गुत्थियों के समान ही अनंत प्रयोजन भी हो सकते हैं। जिनमें से कुछ स्थूल प्रयोजनों पर चर्चा के लिये डॉ. डी.जी. नायक द्वारा अपनी पुस्तक 'आर्ट ऑफ आटोबायोग्राफी' में दिये गए प्रयोजनों को लिया जा सकता है। डॉ. नायक ने निम्नलिखित प्रयोजन बताऐ हैं।

"1. स्व का निष्पक्ष परीक्षण
2. आत्मप्रदर्शन/आत्मप्रस्तुति की इच्छा
3. कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये
4. आर्थिक लाभ
5. आत्म प्रकाान – पूर्वाग्रहों से मुक्ति
6. प्रतिशोध
7. मिथ्या प्रतिष्ठा।"[1]

उपरोक्त 7 प्रयोजनों पर हम सोदाहरण चर्चा कर सकते हैं।

1. स्व का निष्पक्ष परीक्षण

आत्मकथा में निष्पक्षता होनी अनिवार्य है। भले ही कोई लेखक इस अनिवार्य शर्त का निर्वाह अपने मूल्यांकन, विश्लेषण में नहीं कर पाए किंतु निष्पक्ष परीक्षण आत्मकथा लेखन का प्रमुख हेतु होना चाहिये। यद्यपि कई बार लेखक आत्मश्लाघा तथा आत्महीनता दोनों पर उतर आते हैं तथा अपने प्रति न्याय नहीं कर पाते हैं। किंतु पाठक हमेशा उनसे एक तटस्थ परीक्षण की ही अपेक्षा रखता है तथा स्वयं भी ईमानदार लेखक इस प्रयोजन को मद्देनज़र रखते हैं। सेठ गोविंददास ने अपनी आत्मकथा का मुख्य उद्देश्य आत्मनिरीक्षण की भावना बताया है तथा आत्मकथा का नाम भी 'आत्मनिरीक्षण' रखा है।

2. आत्मदर्शन तथा आत्म प्रस्तुति की इच्छा

स्व गुण–दोष पड़ताल, अपने स्वरूप–अपनी अस्मिता की पहचान, आत्म का आत्मेतर दृष्टि से दर्शन तथा अपने व्यक्तित्व का अपने शब्दों में प्रस्तुतिकरण, यह भी आत्मकथा लेखन में एक मुख्य प्रयोजन होता है। यह आत्मदर्शन अपने आपको समग्र रूप में देखना या समूचा आकलन मात्र ही होता है। यहां तक कि दैहिक खाका खींचने से भी

---

1. आर्ट ऑव ऑटोबायग्राफी – डॉक्टर डी.जी. नायक पृ. 37–41

लेखक बचते नहीं हैं। अमृतलाल नागर ने अपनी आत्मकथा के पहले अध्याय में अपना नख–शिख वर्णन किया है तथा उसे 'आईने के सामने' शीर्षक दिया है।

3. कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये

आत्माभिव्यंजना की उत्कट अभिलाषा की पूर्ति लेखक कलात्मक रचना करके करता है। एक अदम्य लालसा लेखक को कलापूर्ण अभिव्यक्ति के लिये प्रेरित करती है। जैसे सेठ गोविंददास ने अपनी आत्मकथा 'आत्मनिरीक्षण' में लिखा है कि –

"बहुत समय से मन में उठ रहा था कि मैं अपनी आत्मकथा क्यों न लिख डालूं।"[1]

कमला दास ने भी लिखा है – "मैं चाहती थी कि स्वयं को उण्डेल दूं – कोई का भी रहस्य रुका छिपा न रहने दूं" ताकि जब समय आए मेरी कूच का तो विदा ले सकूं मैं एकदम साथ–शफ़्फ़ाफ अंतःकरण लिये।[2]

4. आर्थिक लाभ

मम्मट ने जिसे 'अर्थकृते' कहा है वह प्रत्यक्षतः भले ही हेय प्रयोजन लगे तथा कोई आत्मकथाकार इसे स्वीकार करे या न करे किंतु साहित्य रचना के प्रयोजनो में आर्थिक लाभ भी शामिल रहता है। कमला दास ने 'मेरी कहानी' में लिखा है – डॉक्टर का ख़याल था कि लिखने से मेरा मन मृत्यु भय से हटा रहेगा, इसके अलावा अस्पताल के बिल भी तो चुकाने थे मुझे।"[3] आर्थिक लाभ की प्रत्याशा में ही लेखक उच्चकोटि की रचना करना चाहते हैं। पाठकीय प्रयोजनों को दृष्टिगत रख कर लिखते हैं। श्रेष्ठ प्रकाशन भी ढूंढते हैं। बहुत सी आत्मकथाएं पांच सौ रू. मूल्य से ऊपर की हैं। जिनसे निश्चय ही लेखक को आर्थिक लाभ है।

---

1. आत्मनिरीक्षण – सेठ गोविंददास 'निवेदन', पृ. 7
2. मेरी कहानी – कमला दास (भूमिका)
3. – वही –

5. आत्मप्रकाशन – पूर्वाग्रहों से मुक्ति

आत्मकथा लिख कर लेखक अपने जीवन का खुलासा करता है। अपने बारे में फैली हुई भ्रांतियों–पूर्वाग्रहों का स्पष्टीकरण देने का भी यह एक माध्यम है क्योंकि –

"तू कहता कागद की लेखी
मैं कहता आंखिन की देखी।

यहां 'आंखिन की देखी' से भी आगे बढ़ कर 'जीवन की भोगी' का वर्णन लेखक स्वयं करता है अतः बहुत सी प्रचलित बातों की वास्तविकता आत्मकथा के ज़रिये बताई जा सकती है।

6. प्रतिशोध की भावना

कोई व्यक्ति मात्र प्रतिशोध की भावना से ही प्रेरित होकर आत्मकथा रूपी ग्रंथ का निर्माण करे यह अस्वाभाविक है, किंतु आत्मकथा लिखने की मूल अंतःप्रेरणा में अपने साथ हुए अन्याय–अपमान का प्रतिकार भी चुकाने की भावना भी सम्मिलित हो सकती है। तथा इसी भावना के कारण अपना पक्ष रखते हुए सामने वाले के कुछ राज़–रहस्य खोल देना अस्वाभाविक नहीं है।

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' इसका एक उदाहरण है। अपनी आत्मकथा में उन्होंने अपने व्यक्तित्व के गुण–दोषों, ख़ूबी–खामियों, अंतर–बाह्य का विश्लेषण करने की बजाय अपने प्रतिद्वन्दियों तथाकथित प्रेमियों, पड़ोसियों को 'डाउन' करने पर ज़्यादा मेहनत की है। यद्यपि वे आरंभ में ही कहती हैं कि आत्मकथा मेरी है विश्लेषण मेरा होना है।'[1] फिर भी लेखिका ने अंतिम तीस पृष्ठ मात्र अपने मित्रों–शत्रुओं को उठाने–गिराने में रंगे हैं। कुछ पृष्ठ तो सिर्फ़ नामोल्लेख से भर दिये गए हैं। यद्यपि इस तथ्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता कि अपने प्रतिद्वन्दियों की निंदा करने में लेखक का प्रयोजन प्रतिशोध का था या मात्र यथातथ्य वर्णन का किंतु बहुदा निंदा में पक्षपात रहित वर्णन कम लेखक कर पाते हैं। बच्चन भी इस प्रवृत्ति से नहीं बच सके।

---

1. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 17

7. मिथ्या प्रतिष्ठा

आत्मकथा लेखन के हेय प्रयोजनों में से एक मिथ्या प्रतिष्ठा भी है। अपने आपको बढ़ा–चढ़ा कर प्रस्तुत करना। वस्तुतः यह अवचेतन में दबी 'आत्मछवि की असुरक्षा' (identity crisis) से किया जाता है। यह भी आत्मविज्ञापन का ही एक रूप है। कभी–कभी यह अपने ग़लत मूल्यांकन के कारण हो जाता है। भारतेंदु ने जो दो पृष्ठों की आपबीती लिखी है उससे एक बानगी देखिये –

"कोई कहता था आपसे सुन्दर संसार में कोई नहीं, कोई क़स्में खाता था आप सा पण्डित मैंने नहीं देखा, कोई पैग़ाम देता था चमेली जान आप पर मरती है, आपको देखे बिना तड़प रही है, कोई बोला – हाय ! आप का फलाना कवित्त पढ़कर रोते रहे। सिद्धांत यह कि मैं बेचारा अकेला और वाह–वाहें इतनीं कि मुझे दबाएं लेती थी और मेरे ऊपर गिरी क्या फिसली पड़ती थी।"[1]

महिलाएं अपने सौन्दर्य वर्णन में कई बार मिथ्या अभिमान का शिकार हो जाती हैं। "मैं दुबली, कमसिन, गोरी लाल चट्ट और सुन्दर थी जैसा कि वहाँ वे सब कहते थे।"[2] या "मैं तो थी ही सादगी की प्रतिमूर्ति।"[3]

इसी प्रकार कुछ लेखक उन बड़े आदमियों का बार–बार उल्लेख करते हैं जिनके साथ रहने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कुछ लेखक तो प्रमाण के तौर पर उनके साथ खिंचवाए अपने चित्र भी छपवा देते हैं जैसे पद्मा सचदेव की आत्मकथा में है।

डी.जी. नायक द्वारा वर्णित उपरोक्त सात प्रयोजनों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य प्रयोजन आत्मकथा लेखकों में मिलते हैं।

1. अपने अनुभवों से दूसरों को लाभ पहुँचाने की इच्छा

हर व्यक्ति के जीवन में कुछ तो विशिष्ट घटजा ही है। उन विशिष्ट अनुभवों से दूसरे लोग भी लाभ उठा सकें ऐसी आकांक्षा से भी लोग आत्मकथा लिखते हैं।

---

1. भारतेंदु ग्रंथावली – 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती', पृ. 813–814
2. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 53
3. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 78

तैमूर लंग की आत्मकथा तुजुके–तैमूरी में उसने कहा है कि उसे लिखने का कारण अपने अनुभवों से दूसरों को ज्ञान देना है। हरिवंशराय बच्चन ने भी अपनी आत्मकथा का उद्देश्य यही माना है कि वे अपने अनुभवों की थाती, मित्रों, सम्बन्धियों तथा अनुगामियों के लिये लिपिबद्ध कर रहे हैं।

महात्मा गांधी ने भी सत्य के प्रयोग में अपने प्रयोगों से दूसरों को लाभ पहुँचाने की इच्छा व्यक्त की है। "मैं मानता हूँ कि मेरे सब प्रयोग इकट्ठे जनता को मिलना लाभदायक होगा।"[1]

2. सहानुभूति प्राप्त करना

कभी–कभी लेखक सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से भी आत्मकथा लिखता है। मोरारजी देसाई ने अपनी आत्मकथा 'मारूं जीवन वृत्तांत' में अपना प्रयोजन स्वयं पर लगाए गए आरोपों को स्पष्ट करना बताया है।

3. पाश्चाताप की भावना

हिन्दी की पहली आत्मकथा 'बनारसीदास जैन की अर्द्धकथानक' प्रायश्चित या पश्चाताप की भावना से लिखी गई है। अपने चारित्रिक स्खलनों का उन्होंने बेबाकी से वर्णन किया है तथा पश्चाताप प्रकट किया है –

कहै बनारसी के गुन जथा। दोष कथा अब बरनो तथा।।
क्रोध मन माया जल रेख। पै लछिमि को लोभ विसेख।।
पीते हास कर्म का उदा। घर सो हुवा न चाहे जुदा।।
करैं न जप–तप संजम रीती। नहीं दान पूजा सौ प्रीती।।

4. मानसिक अन्तर्द्वन्द्व या तनाव से मुक्ति

अन्तर्मुखी व्यक्ति भी साहित्य में अपने अंतर्द्वन्द को अभिव्यक्त कर देता है। डायरी, आपबीती या आत्मकथात्मक उपन्यास भी इसी तनाव से मुक्ति पाने हेतु लिखे जाते हैं। आत्मकथा लिखकर लेखक हल्का महसूस करता है। यथा बच्चन ने लिखा है – "मुझे कई वर्षों से लग रहा था कि जब तक मैं अपने अंतर से उठती स्मृतियों को चित्रित नहीं कर डालूंगा तब तक मेरा मन शांत नहीं होगा।"[2]

---

1. सत्य के मेरे प्रयोग – मोहनदास करमचंद गांधी, पृ. 4
2. क्या भूलूँ क्या याद करूँ – बच्चन (भूमिका से)

या कमलादास – "मैं चाहती थी कि स्वयं को उण्डेल दूँ। कोई सा भी रहस्य लुका छिपा न रहने दूं ताकि जब समय आए मेरे कूच का तो विदा हो सकूं मैं, साफ़ शफ़्फ़ाफ़ अंतःकरण लिये।"[1]

5. भुक्त अतीत की दास्तान

जीवन में कुछ कालखण्ड ऐसे भी आ सकते हैं जब व्यक्ति को अकारण दण्ड या मानसिक संताप भुगतना पड़ सकता है। ऐसे ही किसी भोगे हुए अतीत का वर्णन करने की चाह भी आत्मकथा की सृष्टि का प्रयोजन बन जाती है।

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा में फ्लैप पर शुरूआत में दिया है – "मैंने ज़िंदगी का हर लम्हा कड़वा जिया, कसैलापन ज़ब्त किया मीठे का स्वाद चखा ही नहीं।"[2]

जबकि बच्चन कहते हैं "इस छोटी सी अवधि में जितना मैंने पढ़ा लिखा, देखा सुना, जाना–पहचाना, भोगा–सहा, अनुभव अवगत किया उतना मैंने इतने ही कालमाप के अपने जीवन में कभी नहीं किया। इसी से मुझे लगा कि यदि मैं इस अवधि की झांकी आपको कराना चाहूं तो इसके लिये अपनी आत्मकथा को एक स्वतंत्र खण्ड देना पड़ेगा।"[3] स्पष्ट है कि भोगा हुआ समय कभी–कभी मस्तिष्क पर ऐसी छाप छोड़ जाता है कि लेखक उसे अभिव्यक्त कर देने के लिये उद्विग्न हो उठता है। दलित आत्मकथाकारों द्वारा रचित विभिन्न आत्मकथाएं यथा 'जूठन' (ओमप्रकाश वाल्मीकि) 'जीवन हमारा' (बेबी कांबले) 'अछूत' (मोहनदास नेमिषराय) 'दोहरा अभिशाप' (कौशल्या बैसंत्री) ऐसी ही कुछ भुक्त यथार्थ की अनोखी दास्तानें हैं। इनके अतिरिक्त रहस्योद्घाटन की लालसा, समकालीन इतिहास की विवेचना, जेल में समय का उपयोग, स्वांतः सुखाय सृजन, आत्मविश्लेषण, आत्मस्थापन, आत्मसमर्थन, अहंकार आदि अनेक अनंत प्रयोजन आत्मकथा लेखक के हो सकते हैं। किंतु पाठक के आत्मकथा पढ़ने को प्रवृत्त होने के पीछे कौन से प्रयोजन हो सकते हैं। किसी दूसरे के जीवन की कथा पढ़ने में पाठक की दिलचस्पी

---

1. मेरी कहानी – कमलादास, भूमिका
2. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री
3. बसेरे से दूर – बच्चन, पृ. 6

किन कारणों से जागृत होती है, यह भी अपने आप में पूरा एक विषय है तथा आगे हम पाठकीय प्रयोजनों पर विचार करेंगे।

पाठक की दृष्टि से प्रयोजन

वर्तमान उपभोक्तावादी युग में जब कि इलेक्ट्रानिक मीडिया साहित्य को विस्थापित करता जा रहा हे। महानगरों की बदलती हुई जीवनशैली में आज जब मनुष्य के पास स्वयं के लिये समय नहीं है ऐसे में दूसरे के आत्मकथा रूपी ग्रंथ को पढ़ने के लिये किसके पास फुर्सत है और फुर्सत भी मिले तो पाठक आत्मकथा क्यों पढ़ना चाहेगा जबकि साहित्य की छोटी–बड़ी ढेरों विधाएं मौजूद हैं तब एक वृहद ग्रंथ का अनुशीलन कयों ? लेकिन फिर भी आत्मकथाएं बड़ी संख्या में लिखी, छापी और पढ़ी जा रही हैं। कैसे ? पाठक की दृष्टि से अगर आत्मकथा को देखें तो वह दूसरे के जीवन में झांकने की खिड़की है साथ ही दुनिया को उसकी निगाह से देख पाने का माध्यम भी है। आत्मकथा दूसरे का चश्मा है उसे पहनने के बाद आपको दुनिया अलग स्वरूप में दिखाई देती है। यही कारण है कि पाठक को आत्मकथा दिलचस्प लगती है। दूसरे के बारे में जानने की चाह सनातन है आत्मकथा पढ़ने से पाठक की इस वृत्ति का तोष होता है। आत्मकथा पढ़ कर वह मुलाकात का अनुभव करता है। अंतरंग मुलाकात ! जिसमें वह बहुत सी वे बातें भी जान लेता है जो अब तक अनजानी थी। यह पाठक की छोटी उपलब्धि नहीं है कि उसे साहित्यक रस तथा सामाजिक ज्ञान एक साथ मिल जाते हैं। लेखक के जीवन के बारे में उसकी जानकारी तथा उसके समकालीनों के बारे में उसके 'सामान्य ज्ञान' में वृद्धि होती है अतः औत्सुक्य शमन एक प्रमुख प्रयोजन है जो पाठक को आत्मकथा पढ़ने को प्रेरित करता है। साथ ही साहित्यिक क्षुधा की शांति तो होती ही है। महान् लोकप्रिय लोगों का सामाजिक जीवन तो सर्वज्ञात रहता है, लेकिन निजी जीवन नहीं। महान व्यक्तियों के भी जीवन में उतार–चढ़ाव, दुःख–सुख, मान–अपमान के क्षण आते हैं यह अनुभूति पाठक को आत्मीयता से भर देती है। यह जीवन भी मेरे जीवन जैसा ही है यह सोच उसके नायक के निजपन का साधारणीकरण कर देती है तथा आत्मकथा के जरिये वह असाधारण महापुरुष को कल्पनालोक के आसमान से उतार कर अपने बीच

स्थापित कर लेता है। 'असाधारण' को 'जनसाधारण' बना देता है। यह उपलब्धि उसे रोमांचित कर देती है।

अपने संघर्ष की कथानायक के संघर्ष से तुलना करके पाठक उनसे विपरीत परिस्थितियों से लड़ने की सीख लेता है। जीवन के संघर्ष में अगर कभी हृदय विचलित होता है तो दूसरे के संघर्ष का वर्णन पाठक को आत्मशक्ति देता है। प्रतिकूल परिस्थितियों में लेखक की मनोस्थिति जानने की इच्छा भी पाठकनिष्ठ प्रयोजनों में से एक है।

आस्था भी पाठकीय प्रयोजनों में शामिल होती है। महापुरुषों, जिनकी विचारधारा से पाठक प्रभावित हुआ हो उनके प्रति एक श्रद्धा का भाव लेखक के हृदय में होता है तथा लेखक आस्थावान होकर उनकी आत्मकथा पढ़ता है। गांधी–नेहरू के अनुयायी उनकी आत्मकथा को उसी प्रकार पढ़ते हैं जैसे रामभक्त 'रामचरितमानस' को पढ़ते हैं।

कार्य विशेष की बारीकियाँ समझने हेतु नेताओं, अभिनेताओं, खिलाड़ियों, पुलिस अधिकारियों या किसी कार्य विशेष से जुड़े व्यक्ति की आत्मकथा पढ़कर पाठक उस क्षेत्र से जुड़े अनेक छोटे–बड़े महत्त्वपूर्ण पहलू भी जान लेता है। इस तरह अनेक साहित्यिक या गैर साहित्यिक कारणों से पाठक आत्मकथा का अध्ययन करता है।

आत्मकथा की रचना प्रक्रिया

कलाकार अपनी अनुभूति को जिस प्रकार रूपायित करता है वह रचना प्रक्रिया है। अर्थात् 'अर्मूत' अनुभूति को 'मूर्त' करने की प्रक्रिया। इस मूर्तकरण की प्रक्रिया में कल्पना, अनुभव तथा विचार का संयोग रहता है। वस्तुतः रचना प्रक्रिया एक मानसिक यात्रा है जिसमें अनुभूति से यात्रारंभ करके गंतव्य के रूप में रचना की प्राप्ति की जाती है। अन्य साहित्य रूपों की रचना प्रक्रिया से आत्मकथा की रचना–प्रक्रिया सर्वथा भिन्न होती है। क्योंकि जहाँ कहानी, कविता, उपन्यास या अन्य साहित्यिक विधाओं में रचना प्रक्रिया मात्र एक विधा के निर्माण के पद क्रम हैं वहीं आत्मकथा की रचना प्रक्रिया स्वयं के व्यक्तित्व की रचना–प्रक्रिया के पद क्रम को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया है। इसमें अमूर्त अनुभूति कल्पना से नहीं बल्कि स्मृति–अनुभव और विचार के कर्म से मूर्त रूप

धारण करती है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जीवन सत्य को कला सत्य में ढालने हेतु जो अदृश्य मानस यात्रा तय की जाती है वही रचना प्रक्रिया है। इस मानसयात्रा में मस्तिष्क अंत से शुरू करके उल्टा चलता है, किंतु पाठक के समक्ष लेखनी आदि से ही शुरुआत करती है। आत्मकथा पाठकों को दृष्टिगत रखकर ही रची जाती है, अतः आवश्यक है कि जीवन की कथा में सत्यता भी हो और साहित्यिकता भी ? यह सत्यता और साहित्यिकता का द्वन्द्व आत्मकथा की रचना प्रक्रिया में क़दम–क़दम पर झलकता है।

आत्मकथा वस्तुतः व्यक्ति की जीवनदृष्टि है। जीवन उसने कैसा जिया वह महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है कि, उसने जीवन को किस कोण से व किस चश्मे से देखा। कह सकते हैं कि कोण उसकी वर्गीय स्थिति है, चश्मे का शीशा उसके जीवन मूल्य हैं तथा चश्मे का ब्राण्ड उसकी विचारधारा है।

आत्मकथा सिर्फ़ स्मृत्याधारित नहीं होती है बल्कि जीवनदृष्टि का इतिहास है। स्वयं के निर्माण में समाज का योगदान तथा समाज के निर्माण में अपनी भागीदारी इसका तथ्यात्मक नहीं कलात्मक वर्णन आत्मकथा है। व्यक्तित्व और परिवेश इन दोनों के पारस्परिक व्यवहार के एक संतुलित बिंदु पर खड़े आत्मकथा लेखक को भूत और वर्तमान का एक समानान्तर विश्लेषण करना होता है। इस प्रक्रिया में मनुष्य अपना हर रूप अपने सामने रखता है उसे उलटता–पलटता है कभी पश्चाताप व्यक्त करता है तो कभी प्रसन्नता ! कभी गौरव महसूस करता है तो कभी ग्लानि ! इन सबके वर्णन में उसे कितनी सावधानी रखनी है और कितनी सत्यता यह संतुलन निश्चय ही एक दुष्कर कार्य है। साथ ही अत्यंत तटस्थ व निरपेक्ष आकलन की अपेक्षा भी उससे की जाती है। अतः आत्मकथा लेखक की मनःस्थिति बड़ी विचित्र होती है। अपनी उदारता के परिचय में लेखनी कहीं अधिक उदार न हो जाए तथा अपनी कमज़ोरी के वर्णन में लेखनी कमज़ोर न हो जाए यह मानसमंथन लेखक को स्वयं उसके भीतर से निकालकर दुनिया के सम्मुख खड़ा कर देता है। वह उस 'स्वयं' को देखता है, परखता है, आश्चर्य करता है तथा स्वयं उसका परिचय देता है। उसे शब्द देता है, पहचान देता है, स्थापित करता है। उसे चारों तरफ से घुमा कर दुनिया को दिखाता है कि दुनिया वालों यह मैं हूँ। मैं 'वो' या 'सिर्फ़ 'वो' नहीं हूँ जिसे तुम जानते थे बल्कि इसमें कुछ वह भी है जो तुम नहीं

जानते थे मेरे इस 'मैं' का निर्माण तुम्हारे और मेरे दोनों की भागीदारी से हुआ है तुम्हारी मिट्टी थी और मेरा सोना। मैंने तुम्हारी मिट्टी को भी गला–तपा कर सोना बना दिया। तुमने मुझे हादसों की शक्ल में तजुर्बे दिये मैं उसे साहित्य की शक्ल में तुम्हें लौटा रहा हूँ।

"दुनिया ने तजुर्बातो – हवादिस की शक्ल में
जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हूँ मैं।"[1]

सृजन का द्वन्द

सृजन का द्वन्द सदैव बना रहता है। अपने बारे में लिखने, न लिखने की उहापोह आत्मकथा लेखक को बराबर बनी रहती है। नेहरू जी भी अपनी आत्मकथा का आरम्भ अब्राहम काउली के इन शब्दों में करते हैं, "अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी क्योंकि अपनी बुराई या निंदा लिखना हमें बुरा मालूम होता है, और अगर अपनी तारीफ करें तो पाठक के लिए उसे सुनना नागवार मालूम होता है।"[2]

आत्मकथाकार दो मोर्चों पर खड़ा होता है। एक ओर तो वह रचनाकार है जो अपने नए ग्रंथ का निर्माण करने जा रहा है दूसरी ओर वह एक सामाजिक प्राणी है, किसी से उसका जुड़ाव है किसी से अलगाव है, किसी का दोस्त है, किसी का दुश्मन है। वह विभिन्न रिश्तों की डोर से बंधा है। समाज, घर, परिवेश, साहित्यिक दुनिया इन सबमें अपनी भूमिका का उद्घाटन भी उसे करना है। इस उद्घाटन से कई दूसरे तथ्य भी उद्घाटित हो सकते हैं। जिससे उसकी या उसके सम्बन्धों की मानहानि हो सकती है। एक ओर वह अपने जीवन के अन्तर्निहित भावों को दुनिया के सम्मुख प्रकाशित कर देने को व्यग्र होता है तो दूसरी ओर इस प्रकाशन से आने वाले ख़तरों से भी वह अनजान नहीं रहता है। मानसिक द्वन्द की यह स्थिति जिसमें सृजनात्मकता की चाह, अपने जीवन के अप्रकाशित रहस्यों, प्रसंगों को प्रकट कर देने की इच्छा के साथ ही लोगों की नज़रों में गिर जाने का डर, दूसरों के जीवन की किसी वास्तविकता का वर्णन करने में प्रमाण

---

1. तल्खियाँ – साहिर लुधियानवी, पृ. 1
2. मेरी कहानी – जवाहरलाल नेहरू, पृ. 1

का अभाव आदि घुली–मिली आशंकाएं रहती हैं, हर आत्मकथाकार उसे झेलता है। सृजन की गंगा–गंगोत्री से निकलते ही बहुत सारे आंतरिक विरोधों–अवरोधों से घिर जाती है। ये बाधाएं सृजन को 'सेंसर' करती हैं तथा इसी अनजानी आशंका के दबाव के कारण बहुत बार लेखक अपनी आत्मकथा को सच्ची न कहकर आत्मकथात्मक उपन्यास नाम दे देते हैं। इस तरह आंतरिक छलनियों से छन कर जो जीवन रूप हमारे सामने आता है वह जीवन नहीं जीवन का अनुवाद होता है सुन्दर और सारगर्भित।

आत्मकथा : जीवन का अनुवाद

आत्मकथा की रचना प्रक्रिया की तुलना हम बहुत कुछ अनुवाद की रचना प्रक्रिया से कर सकते हैं। अनुवादक एक बार रचना को यूँ ही पढ़ लेता है फिर चूंकि उसे रचना अच्छी तथा अनुवाद योग्य लगती है इसलिये वह उसे भिन्न दृष्टि से पढ़ता है फिर उसका अनुवाद करता है भिन्न भाषा में, अर्थ की रक्षा करते हुए।

आत्मकथाकार एक बार जीवन को जीता है फिर उसे जीवन चूंकि प्रस्तुति योग्य लगता है। अतः वह भिन्न दृष्टि से उसका आकलन करता है। फिर उसे भाषा का जामा पहनाता है, सत्य की रक्षा करते हुए। अनुवादक की अनुवाद करते हुए जो मनःस्थिति होती है कमोबेश आत्मकथाकार की भी वही मनःस्थिति आत्मकथा लिखने के दौरान होती है। दोनों को डर रहता है कि कहीं वे मूल विषय से भटक न जाएं या कहीं अक्षरशः अनुवाद न हो जाए। साहित्यिक अन्विति बनाए रखने के लिये कहीं कुछ छोड़ देना होता है तो सही वाक्य–रचना हेतु कहीं कुछ नए शब्द जोड़ने भी पड़ सकते हैं। कहीं–कहीं पूरा अनुच्छेद ही अनावश्यक प्रतीत होता है किंतु उसे हटाने की स्वतंत्रता दोनों को ही नहीं होती। वस्तुतः दोनों को ही तयशुदा मार्ग पर चलना होता है इसलिये दोनों के हाथ बंधे होते हैं एवं दोनों का मनोविज्ञान एक समान रहता है।

आत्मकथाकार का द्वन्द्व यह है कि वह अनुवादक की तरह रचना से इतर पात्र नहीं होता है वह ही 'रचना' भी है, वह ही 'वर्णनकर्ता' भी इसलिये उसके वर्गीय संस्कार भी रचना प्रक्रिया को हर तरह से प्रभावित करते हैं।

आत्मकथा में 'आत्म' का सीमांकन

आत्मकथा लिखते समय 'आत्म' की सीमाएं तथा परिधियाँ समझ पाना आत्मकथाकार के लिये एक बड़ी आवश्यकता है। आत्म के केन्द्र की पहचान आत्मकथाकार के लिये सबसे बड़ी कसौटी है। भारतीय चिंताधारा में आत्मप्रदर्शन या आत्मप्रशंसा सदैव निंदनीय या निषेध मानी गई है, किंतु यह सिद्धांत केवल आत्मोत्थान या आत्मोत्सर्ग की दृष्टि से ही श्रेयस्कर है इसे आत्मकथा में स्थापित कर देने पर आत्मकथा के मूल भाव (आत्म) का उच्छेद हो जाता है तथा सिर्फ़ कथा–ही–कथा बचती है। कई बार लेखक आत्मकथा में अपने परिजनों – प्रियजनों की स्तुति में या पूर्वजों की वंशावलि में बीसियों पृष्ठ भर देते हैं या दूसरों के सम्बन्ध में अनावश्यक जानकारी देने लगते हैं तथा उन अनुभवों का लम्बा–चौड़ा वर्णन करने लगते हैं जिनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता है जैसे स्वतंत्रता–संग्राम का वर्णन या द्वितीय विश्वयुद्ध का वर्णन या पद्मा सचदेव की आत्मकथा 'बूंद–बावड़ी' में लता मंगेशकर का वर्णन ! दूसरों से, विशेषतः विशिष्ट हस्तियों से अपना घनिष्ट सम्बन्ध दर्शाने की चाह में उनके साथ खिंचाए गए फोटो भी छापने से नहीं कतराते। अगर आत्मकथा में आत्म समर्थन या आत्मश्लाघा हेय है तो अनावश्यक आत्मबहिष्कार या आत्म अपसरण भी ग़लत है। आत्मकथा वयष्टि और समष्टि के सम्बन्धों की पड़ताल है और इसमें दोनों पर संतुलित बल अपेक्षित होता है।

आत्मकथा के तत्व

एक साहित्यिक विधा के रूप में अगर आत्मकथा के तत्वों का विश्लेषण करें तो मुख्यतः दो स्तरों पर हम रचना को ले सकते हैं 'आत्मतत्व तथा कथा तत्व' या 'वस्तुपक्ष तथा रूपपक्ष' या 'भावपक्ष और कलापक्ष'।

'आत्म तत्व' – आत्मकथा की आत्मा है। अपनी गरिमा दिखाने के प्रयास में कई बार आत्मकथा लेखक आत्म का बलिदान करके आत्मकथा में दूसरों का गुणगान या घटनाक्रम बताने लगता है जिससे आत्मकथा तत्कालीन इतिहास लगने लगती है।

डॉ. पुष्पा बंसल ने इस सम्बन्ध में कहा है कि – "आत्मकथा केवल किसी एक व्यक्ति के आत्म की कथा ही नहीं होती है वह साहित्य अथवा काव्य की एक विधा भी है। इसका अर्थ है किसी एक व्यक्ति द्वारा लिखा गया उसका अपना जीवन चरित्र जब तक रस, साधारणीकरण, औदात्य, अनुकरण, लोकमंगल, भाव विह्वलता, निर्वैयक्तिकता आदि की अपेक्षाएं पूर्ण नहीं करता और जब तक वह काव्य की शर्त पूरी नहीं करता तब तक वह काव्य की परिधि में प्रवेश नहीं कर पाता और तब तक उसे आत्मकथा भी नहीं कहा जा सकता, उस स्थिति में वह इतिहास हो सकता है, वक्तव्य हो सकता है दैनन्दनी हो सकता है, यह एक व्यक्ति का गज़ेटियर हो सकता है काव्य नहीं हो सकता।"[1]

अतः आत्मकथा में 'आत्म' तत्व की संतुलित उपस्थिति आवश्यक है अन्यथा वह डायरी या वक्तव्य मात्र होकर रह जाएगा। आत्म की संतुलित उपस्थिति/अभिव्यक्ति से तात्पर्य है आत्मोद्घाटन तथा आत्मगोपन का संतुलन ! कई बार लेखक 'आत्म' की सीमाएं न पहचानने के कारण आत्मकथा में अपना कम और स्वतंत्रता संग्राम या साहित्यिक दुनिया या राजनीतिक परिदृश्य का ज्यादा वर्णन कर देते हैं तथा आत्मकथा को तथ्यात्मक संकलन बना देते हैं। यह सही है कि वातावरण, परिस्थिति तथा समय 'आत्म' पर प्रभावी रहते हैं किंतु सूत्र रूप में आत्मतत्व ही उन्हें जोड़ता है। आत्मतत्व से रहित आत्मकथा की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती "वैयक्तिकता आत्मकथा का प्राण तत्व है जब कोई व्यक्ति अपनी आत्मकथा लिखता है, तो जैसे वह स्वयं दर्पण के सामने खड़ा होता है और अपने प्रतिबिंब को अपने ही हाथों से सँवारने का प्रयत्न करता है इस प्रकार आत्मकथा में व्यक्ति तथा विषय दोनों ही बिंब–प्रतिबिंब रूप में विद्यमान रहते हैं।"[2]

T H - 1112
THESIS
O,152&bW'N9
152P3

1. बच्चन की आत्मकथा : काव्यात्मक मूल्यांकन – डॉ. स्नेहलता शर्मा, पृ. 216
2. हिन्दी आत्मकथाएँ : स्वरूप और साहित्य – डॉ. कमलेश सिंह, पृ. 8

कथातत्व – आत्मकथा जीवन की कथा है। जीवन में आदि तथा अंत होता ही है अतः कथा की भांति इसमें जीवन की यात्रा कथा निरूपित होती है किंतु इस कथा में सामान्य कथा की तरह कल्पना तत्व तो नहीं ही होता साथ ही सुनियोजन तथा व्यवस्था भी नहीं होती। क्यों कि जीवन की अपर्णता आत्मकथा लेखन की पहली शर्त है। श्री डन महोदय ने आत्मकथा को 'टॉर्सो' कहा है जिसका अर्थ है "आवक्ष प्रतिमा" "जिसके मात्र चेहरे की पहचान है किंतु हाथ–पैर–धड़ नहीं !"[1] अतः आत्मकथा जीवन की पूर्णकथा नहीं होती है। आत्मकथा जीवन की अनुकृति है अतः विकास और अंत की दृष्टि से सुनियोजित तथा संपूर्ण नहीं हो सकती। आत्मकथा लिखने के बाद भी जीवन में कुछ ऐसी घटनाएं घटित हो सकती हैं जिनके वर्णन के बिना जीवनकथा अपूर्ण ही रह जाती है। किंतु इसका कोई उपाय नहीं है, यह लेखक के कौशल पर ही निर्भर करता है कि वह अपूर्ण कथानक को भी ऐसी सुसम्बद्ध अन्विति प्रदान करे कि कथानक शिथिल न हो। जीवन में बहुत सी घटनाएं घटती हैं तथा उन सब में आपस में कोई संगति भी नहीं होती यदि लेखक उन घटनाओं को बिना एक सूत्र में जोड़े, बिना उनकी पड़ताल किये अलग–अलग प्रसंगों के रूप में चित्रित कर देता है तो आत्मकथा असम्बद्ध आत्मकथा रह जाती है तथा पाठक की रुचि को भंग करती है जबकि जीवन में घटित अलग–अलग घटनाओं और प्रसंगों को तत्कालीन संदर्भों से समझ कर जीवन का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करता है तो आत्मकथा न केवल कलात्मक बल्कि सुसंगत बन पड़ती है, जैसा कि हरिवंशराय बच्चन की वृहद् आत्मकथा में हमें मिलता है। किंतु लेखक आत्मकथा में कालक्रमानुसार विवरण ही दे यह आवश्यक नहीं है वह 'फ्लैशबैक' शैली का प्रयोग करते हुए पहले वर्तमान का वर्णन करके बाद में भूतकाल की घटनाओं से उनका कार्य–कारण सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता है जैसा कि पद्मा सचदेव की आत्मकथा 'बूंद–बावड़ी' में किया गया है या रामदरश मिश्र की आत्मकथा 'जहाँ मैं खड़ा हूं' में देखने को मिलता है।

---

1. इंग्लिश बायोग्राफी – डब्ल्यू.एच. डन, पृ. 200

विषय

आत्मकथा का केन्द्रीय विषय स्वयं लेखक होता है, अन्य विषय भी प्रसंगवश आते हैं किंतु उनका लेखक से सम्बद्ध होना आवश्यक होता है। सुप्रसिद्ध लेखक एच.जी. वेल्स ने कहा है – "आत्मकथा में मैं अपना ही पीछा करता हूँ।"[1]

पं. नेहरू ने 'मेरी कहानी' में लिखा है – "इसमें जहाँ तक मुमकिन हो सकता था मैंने अपना मानसिक विकास अंकित करने का प्रयत्न किया है।"[2]

डी.जी. नायक ने भी कहा है कि – "आत्मकथा लेखक अपनी कृति में अपना ही विश्लेषण करता है।"[3]

यह निस्संदेह सही है कि आत्मकथा का विषय लेखक ही होता है किंतु वह लेखक का दर्पण प्रतिबिंब नहीं होता है। "आत्मकथा लेखक दर्पण के सम्मुख खड़ा होकर स्वयं को देखता ही नहीं बल्कि अपने चेहरे पर पड़ी समय की रेखाओं को भी गिनता है और जीवन के सुख–दुख के घात–प्रतिघात के चिह्नों को भी एक–एक करके देखता है।"[4] आत्म की कहानी के साथ तत्कालीन परिस्थितियों में आत्म–निरीक्षण, आत्मविवेचन तथा आत्म–विश्लेषण ही आत्मकथा का मुख्य वर्ण्य–विषय होता है।

चरित्र–चित्रण

आत्मकथा में मुख्य चरित्र लेखक स्वयं है किंतु उसके साथ ही कुछ अन्य पात्र ऐसे भी होते हैं जो उसके जीवन से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े रहते हैं। ये सभी पात्र आत्मकथा के चरित्र होते हैं लेखक इनका अपने अनुसार चित्रण करता है। पात्रों के चित्रण में कई बार व्यक्तिगत पूर्वाग्रह भी बीच में आ जाते हैं जिसके कारण लेखक उनके चित्रण में न्याय नहीं कर पाता। स्वचित्रण में भी लेखक कभी–कभी आत्मोद्घाटन से

---

1. एक्सपेरीमेंट इन ऑटोबायोग्राफी – एच.जी. वेल्स, वाल्यूम–II, पृ. 417
2. मेरी कहानी – जवाहरलाल नेहरू, पृ. 9
3. आर्ट ऑव ऑटोबायग्राफी – डी.जी. नायक, पृ. 37
4. हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप और साहित्य – डॉ. कमलेश, पृ. 8

ज़्यादा आत्मगोपन पर ध्यान दे देता है। कभी–कभी किसी आत्मकथा को पूरा पढ़ जाने के उपरांत भी लेखक के जीवन की जानकारी कम ही मिलती है। कई बार लेखक स्वरुचि के कारण उन अनजान व्यक्तियों का भी लंबा तथा उबाऊ चित्रण करता चला जाता है जिनसे पाठक का परिचय नहीं होता। ऐसी आसक्ति आत्मकथा लेखन के क्षेत्र में त्याज्य है, साथ ही चरित्र–चित्रण में किसी के निजी जीवन पर भी टिप्पणियाँ अवांछनीय समझी जाती हैं। अतः आत्मकथा लेखक से तटस्थ तथा निरपेक्ष चरित्र–चित्रण की अपेक्षा की जाती है।

देशकाल अथवा वातावरण

रचना में रचनाकार के साथ ही 'रचनाकाल' का भी प्रभाव पड़ता है। विशेषतः आत्मकथा एक ऐसा साहित्य प्रकार है जो चरित्र–नायक के अंतर्मन से शुरू होकर घर, समाज, देश और विश्व तक को अपनी परिधि में समेट लेता है। हर व्यक्ति का अपने परिवेश के प्रति जुड़ाव होता है, इसलिये आत्मकथाकार, सायास या अनायास सदैव सामाजिक परिस्थितियों का भी वर्णन करता है। देशकाल का सजीव वर्णन नायक के चरित्र को और उभारता है। अगर समकालीन परिवेश या काल के बिना जीवन चरित्र लिखा जाए तो चरित्र–नायक बीच में 'कठपुतली सा झूलता प्रतीत होता है।'[1]

परिवेश अपने अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव से आत्मकथाकार को प्रभावित करता है। देशकाल का वर्णन करने में केवल तत्कालीन राजनैतिक या ऐतिहासिक या मुख्य परिस्थितियाँ ही वर्णित की जाएं यह क्रम रखना कोई आवश्यक नहीं। अपने नगर गली, माहौल, पर्व–त्यौहार, हाट–बाज़ार, रीतिरिवाज़, संस्कार, मान्यताएं भी परिस्थितियों में ही आते हैं। अतः जिस भी माहौल, समाज में चरित्र–नायक रह रहा हो उसका जीवंत वर्णन चरित्र–नायक की जीवन कथा को अधिक प्रामाणिक रूप में उभारता है।

---

1. आत्मकथा : स्वरूप और साहित्य – डॉ. कमलेश सिंह, पृ. 13

उद्‌देश्य

आत्मकथा अप्रत्यक्ष रूप से 'आत्म' की नहीं 'अहं' की कथा है अतः कभी निरुद्‌देश्य हो ही नहीं सकती। जब हम कोई आत्मकथा पढ़ते हैं तो हमारे मन में पहली जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि लेखक ने अपनी आत्मकथा क्यों लिखी है। जिस व्यक्ति में आत्मगौरव की भावना होगी वही अपने जीवन से दूसरों को परिचित कराने के उद्‌देश्य से आत्मकथा लिखता है। अतः आत्मकथा किसी न किसी उद्‌देश्य को लेकर ही लिखी जाती है।

आत्मकथा साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा जीवन के ज़्यादा निकट होती हैं। आत्मकथा लेखक का उद्‌देश्य कुछ भी हो सकता है। आत्मोद्‌घाटन, आत्मप्रशंसा, आत्मनिंदा किंतु समग्र रूप से उसका उद्‌देश्य अपने जिये हुए जीवन का विश्लेषणात्मक निरूपण ही होता है। जैसा कि नेहरू जी ने अपनी आत्मकथा में व्यक्त भी किया है "मेरा उद्‌देश्य, खासकर अपने ही लाभ के लिये अपने मानसिक विकास को अंकित करना था।"[1]

भाषा शैली

किसी भी कृति में भाषा–शैली ही वह तत्व है जो कृति का पाठक से सम्पर्क जोड़ती है। भाषा–शैली के माध्यम से ही पाठक के लिये लेखक की पहचान भी होती है। आत्मकथा की भाषा अन्य साहित्य रूपों से भिन्न प्रकार की होती हे। एक कृति से दूसरी कृति सर्वथा भिन्न होती है इसका कारण सिर्फ अलग–अलग लेखकों की भाषा–शैली का अलग–अलग होना ही है। यह आत्मकथा विधा की विशिष्टता है कि उसके सभी लेखकों से कलात्मक, अलंकृत या लालित्यपूर्ण भाषा की अपेक्षा नहीं की जा सकती। साहित्यकारों की आत्मकथा में भाषा–शैली परिष्कृत एवं परिनिष्ठित मिलती है जैसे बच्चन, रहबर, अमृतलाल नागर या अमृता प्रीतम की आत्मकथाएं किंतु राजनेताओं या इतिहासकारों या प्रशासनिक अधिकारियों की आत्मकथाओं से ऐसी भाषा की अपेक्षा करना अनुचित है।

---

1. मेरी कहानी : जवाहरलाल नेहरू, प्रस्तावना से

जब जीवन में भागदौड़, कूटनीति, अतिमहत्त्वपूर्ण ज़िम्मेदारियों का तनाव घेरे रहता है तब आत्मकथा में काव्यात्मक शैली कैसे अवतरित होगी तथा क्या वह उसमें समीचीन प्रतीत होगी ? नहीं, अतः धार्मिक नेताओं, समाजशास्त्रियों, जासूसों या प्रशासकों की आत्मकथाओं में गंभीरता तथा शुष्कता स्वतः ही आ जाती है तथा चूंकि विषय वस्तु गंभीर होती है अतः वह शैली पाठक की रुचि को भंग भी नहीं करती जैसे भाई परमानंद की आत्मकथा 'कालेपानी की कारावास कहानी' या रामप्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा – 'आत्मकथा'।

बच्चन ने अपनी आत्मकथा को 'कविता संस्कारी' कहा है, स्वाभाविक भी है कि कवि की जीवन कथा में काव्यात्मकता का गुण अनुस्यूत होता ही है, पद्मा सचदेव भी चूंकि मूलतः डोगरी भाषा की कवियित्री हैं। अतः उनकी आत्मकथा 'बूंद बावड़ी' में भी काव्यात्मक प्रवाह देखने को मिलता है। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने डायरी शैली में अपनी आत्मकथा लिखी है जब कि राहुल सांकृत्यायन ने यात्रा वृत्तांत की भाँति जीवन वृत्तांत लिखा है।

अंत में यही कहा जा सकता है कि सहजता, स्वाभाविकता आत्मकथा की भाषा–शैली के लिये आवश्यक है। जीवन का विश्लेषण करने के लिये वर्णनात्मक एवं विश्लेषात्मक शैली भी अनिवार्य है अन्यथा अनुपयुक्त शैली अपनाने से गंभीर विषय भी प्रहसन बन जाते हैं। अच्छी भाषा–शैली का प्रसंगानुकूल होना ज़रूरी है। अगर भाषा–शैली विषयानुकूल एवं व्यक्तित्व के अनुसार नहीं होगी तो आत्मकथा की प्रभावान्विति नष्ट हो सकती है।

आत्मकथा तथा अन्य सहधर्मी विधाओं में पृथक्करण के बिंदु

जीवनी, संस्मरण, डायरी, जेलकथा, शिकारकथा, यात्रावृत्तांत या साक्षात्कार आदि को आत्मानुभव प्रधान तथा तथ्यपरक होने के कारण आत्मकथा का ही स्वरूप समझा जाता है। यहां तक कि लायब्रेरी में भी इन्हें एक साथ ही स्थान दिया जाता है। लेकिन इन विधाओं में न केवल शैली भेद है बल्कि प्रयोजन भेद भी है तथा ये सभी विधाएं आत्मकथा से भिन्न हैं। ये विधाएं इतिहास के कटे हुए खण्ड है इनमें न विस्तार होता है न समग्रता। आत्मकथा व्यक्ति के पूरे जीवन को अपने में समेटती है (जिस भी आयु

में लिखी गई हो)। अतः लेखक के तब तक के जीवन की संपूर्ण कथा है। यह लेखक द्वारा जिये गये जीवन की जीवनानुभूतियों की अभिव्यंजना है तथा एक स्वतंत्र विधा है। आज वर्तमान समय में आत्मकथा से जो अभिप्राय है वह जीवनी, संस्मरण, डायरी, साक्षात्कार आदि सहधर्मी विधाओं से भिन्न है। साथ ही आत्मकथात्मक उपन्यासों तथा विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में समय–समय पर प्रकाशित हुए साहित्यकारों की लघु आत्मकथाओं, आत्मकथ्यों से भी इतर है।

सेठ गोविंददास ने इस संबंध में अपनी आत्मकथा में लिखा है कि – "जीवन चरित्रों को नाटक, उपन्यास कहानी आदि के दायरे में रखा भी नहीं जा सकता। हाँ, यदि जीवनियों में स्वाभाविक रूप से कुछ नाटकीय परिस्थितियाँ आ जाएं, उपन्यास या कहानी के सदृश मनोरंजक घटनाओं का समावेश हो जाए तो साहित्यिक दृष्टि से इनका महत्त्व अवश्य बढ़ जाता है।"[1]

आत्मकथा और जीवनी

आत्मकथा और जीवनी दोनों की ही आधारभूमि व्यक्तित्व निरूपण होती है अतः स्थूलः रूप से दोनों समान प्रतीत होती हैं किंतु इसमें बहुत बड़ा अंतर होता है – 'दृष्टि' का। आत्मकथा 'स्वलक्षी दृष्टि' से लिखी जाती हैं जबकि जीवनी 'परलक्षी दृष्टि' से। इस तरह आत्मकथाकार जहाँ आत्मसंधान करता है वहीं जीवनी का लेखक सामग्री संधान करता है। आत्मकथा का लेखक भोक्ता है तो जीवनी का लेखक दृष्टा ! आत्मकथा से जीवनी की भिन्नता को हम निम्न बिंदुओं पर परख सकते हैं।

स्वार्थ तथा परार्थ का अंतर – जीवनी किसी महान व्यक्ति जिसके जीवन से जीवनी लेखक प्रभावित हो, की लिखी जाती है जबकि आत्मकथा का मूल आत्मोद्घाटन की इच्छा होता है।

जीवनी में जन्म से लेकर मृत्यु तक की कथा रहती है जबकि आत्मकथा मे अधूरापन अनिवार्य है, यही उसकी नियति है।

---

1. आत्मनिरीक्षण – सेठ गोविंददास, भूमिका

स्वानुभूत तथ्यों के आधार पर लिखे जाने के कारण आत्मकथा जीवनी से ज़्यादा विश्वसनीय होती है।

आत्मकथा लेखन में 'स्मृति' एक मुख्य तत्व के रूप में कार्य करती है जबकि जीवनी में स्मृति की भूमिका इतनी आवश्यक नहीं है।

तथ्य दोनों ही विधाओं में महत्त्वपूर्ण होते हैं किंतु जहाँ आत्मकथा तथ्यपरक होते हुए भी स्वानुभूति तथा आत्मविश्लेषण की प्रक्रिया से जुड़ने के कारण कलात्मक होती है वहीं जीवनी में ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता ज़्यादा प्रमुख हो जाती हैं।

एक व्यक्ति की आत्मकथा सिर्फ़ एक ही हो सकती है जबकि एक ही व्यक्ति पर भिन्न–भिन्न जीवनियाँ भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न–भिन्न लोगों द्वारा लिखी जा सकती हैं। जिनसे कभी–कभी विवाद भी उत्पन्न हो सकता है।

आत्मकथाकार अपने नितांत निजी, प्रच्छन्न अनुभव भी लिख सकता है। अव्वल तो जीवनीकार उन्हें जान भी नहीं पाता न ही उसे जानने या लिखने का अधिकार है।

जीवनी लेखक चूंकि श्रद्धाभिभूत होता है। अतः वह गुण आरोपण व दोषगोपन कर सकता है। श्रेष्ठ आत्मकथाकार को ऐसी कोई चिंता नहीं रहती।

जीवनीकार को कथानायक की निंदा करने का अधिकार नहीं है यह दोष दर्शन होगा। आत्मकथाकार आत्मनिंदा कर स्पष्ट वक्ता बन जाता है।

जीवनी कथानायक की मृत्यु के सैकड़ों हज़ारों वर्ष उपरांत भी लिखी जा सकती है। आत्मकथा में जीवन अधूरा रहता है, क्योंकि कथानायक स्वयं लेखक होता है।

अतः जीवनी और आत्मकथा में उपरोक्त भेद उसके कथ्य और शैली के कारण आ जाते हैं।

आत्मकथा तथा संस्मरण में अंतर

आत्मकथा पूरे जीवन की कथा होती है तथा संस्मरण में जीवन की किसी घटना या स्मृति विशेष का वर्णन होता है। संस्मरण आत्मपरक या व्यक्तिपरक – दोनों प्रकार का

हो सकता है। अतः यह आत्मकथा व जीवनी दोनों के निकट पड़ सकता है। इसी आधार पर पाश्चात्य साहित्य में संस्मरण के दो भेद किए गए हैं। रैमिन्सैंसेज़ और मेमॉयर्स। जोकि क्रमशः आत्मकथा व जीवनी के लघु संस्करण स्वीकार किये जा सकते हैं। बाबू गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएं' तथा निराला की रचना 'साधना के पथ पर' आत्मपरक संस्मरण हैं जबकि महादेवी वर्मा के गिल्लू' 'चीनीफेरी वाला' व्यक्तिपरक संस्मरण हैं। अतः संस्मरण आत्मकथा लेखन में सामग्री तो बन सकते हैं किंतु जीवन का खण्डशः चित्र होने के कारण से आत्मकथा नहीं हैं।

आत्मकथा तथा रेखाचित्र

'रेखा चित्र' चित्रकला का शब्द है। चित्रकला की इस विधा में रंगों का प्रयोग न करके कुछ इनी–गिनी रेखाओं द्वारा किसी व्यक्ति वस्तु या दृश्य को उभारा जाता है साहित्य में जब शब्दों के द्वारा किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या दृश्य की छवि उभारी जाती है तो उसे शब्द–चित्र या रेखाचित्र या 'स्कैच' कहा जाता है। सजीव चित्रात्मकता रेखाचित्र का मुख्य गुण है। संवेदना व लघुता भी रेखाचित्र के आवश्यक तत्व हैं। रेखाचित्र में भी स्मृति तत्व काम करता है, किंतु साथ में भावना व कल्पना का भी आश्रय रहता है जबकि आत्मकथाकार के लिये आत्मकथा में कल्पना का मिश्रण न करना आवश्यक है। आत्मकथा तथा रेखाचित्र की शैली में भी अंतर है। रेखाचित्र की शब्द योजना इसकी चित्रात्मकता को उभारती है। रेखाचित्र में शब्द ही रेखाएं हैं, इसलिये भाषा शैली की लाक्षणिकता व व्यंजनात्मकता आवश्यक है। आत्मकथा की तरह इसमें विवरण व व्याख्या प्रधान शैली नहीं प्रयोग की जा सकती। सघनता व विरलता आत्मकथा तथा रेखाचित्र के क्रमशः दो अन्य प्रमुख अंतर हैं। आत्मकथा में घटनाओं का आधिक्य रहता है तथा विषय से गहन जुड़ाव रहता है। किंतु रेखाचित्रकार के लिये यह अवश्यक नहीं है कि उसमें विषय के साथ उतनी तादात्म्यता हो। गिने–चुने शब्द और वाक्य ही इतनी तीव्रता व मार्मिकता लिये होते हैं कि वे अपनी सांकेतिकता में भी चित्रित व्यक्ति अथवा वस्तु के आंतरिक स्वरूप का उद्‌घाटन करने में सक्षम होते हैं।

आत्मकथा और रेखाचित्र मे समानता यह है कि यद्यपि रेखाचित्र में कल्पना से काम लिया जाता है किंतु विषय काल्पनिक नहीं होता है। किंतु अपनी संक्षिप्तता एवं मार्मिकता के कारण रेखाचित्र, आत्मकथा तथा जीवनी दोनों से भिन्न होता है।

आत्मकथा तथा डायरी

डायरी खण्डों में व्यक्त अनुभूति है। आत्मकथा में अनुभूति अखण्ड व समग्र होती है। डायरी में दिन विशेष की अनुभूति का अंकन होता है। आत्मकथा समग्र जीवन का विवरण है। यद्यपि डायरी में भी पूरे दिन की कथा मिल सकती है किंतु खण्डशः अनुभूति होने के कारण उसमें एक समरस क्रम तथा पूर्वापर संबंध नहीं मिलता है। डायरी प्रत्येक दिन के जीवन का तथ्यात्मक संकलन है। इसमें आत्म तो होता है किंतु कथा नहीं होती। कथा का अभाव डायरी पढ़ते समय घटनाओं में परस्पर असम्बद्धता होने के कारण आत्मकथा जैसा रस और मानसिक तोष नहीं देता।

डायरी लेखक के पास केवल 'आज' का विश्लेषण होता है जबकि आत्मकथा जीवन को समग्रता में जी लेने के बाद का पुनरावलोकन है।

डायरी लेखक के लिये पाठक का अस्तित्व नहीं होता। वास्तव में दोनों के मूलभूत उद्देश्यों व पद्धति में ही विभिन्नता है। किंतु सत्यनिष्ठता दोनों विधाओं का आवश्यक गुण है।

अतः डायरी किसी के व्यक्तित्व पर भले ही प्रकाश डाल सकती है किंतु उसमें आत्मकथन की तरह जीवन का विश्लेषण एवं मूल्यांकन नहीं मिलता उसमें मात्र तत्कालीन अभिव्यक्ति होती है।

आत्मकथा तथा यात्रा वृत्तांत

कुछ लेखकों ने अपने जीवन का लम्बा समय यायावरी में बिताया। उनके यात्रा वृत्तांत वर्षों की यात्राओं के दस्तावेज़ हैं। जैसे राहुल सांकृत्यायन के यात्रावृत्तांत। अतः यदि यात्रावृत्तांत वर्षों की अवधि में फैले हुए हों तो आत्मकथात्मक प्रतीत होते हैं किंतु जैसा कि यात्रावृत्तांत शब्द से ही स्पष्ट है यह यात्रा का विवरण देता है आत्म का नहीं।

साथ ही यह वृत्तांत कुछ दिनों, महीनों या वर्षों का होता है। अतः आत्मकथा के समकक्ष नहीं हो सकता। राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन यात्रा' तथा 'रूस की यात्रा' इसी दृष्टिकोण से भिन्न–भिन्न विधाओं की रचनाएं हैं।

आत्मकथ्य व आत्मकथा

बहुधा पत्र–पत्रिकाओं में रचनाओं के साथ या प्रकाशित पुस्तकों के फ्लैप पर लेखक का आत्मकथन 'आत्मकथ्य' या 'मेरी बात' या ऐसे ही आत्मपरक शीर्षक से मिलता है। यह आत्मकथ्य यद्यपि बहुत संक्षिप्त होता है किंतु अपने संक्षिप्त प्रस्तुतिकरण में भी ठोस आधार लिये होता है तथा रचनाकार के भावजगत से परिचित करवा देता है। इसमें कृति के पीछे लेखक की प्रेरणा, उसकी मनोवृत्ति की जानकारी मिलती है। इसमें लेखक अपनी रचना के साथ स्वयं प्रकट हो जाता है, अतः पाठक 'आत्मकथ्य' द्वारा लेखक की मानसिकता से जुड़ जाता है। और कृति के अधिक निकट पहुँचता है। अपने संपूर्ण स्वरूप में 'आत्म' तत्व से लबरेज़ रहने के बावजूद आत्मकथ्य आत्मकथा से भिन्न है, यह सिर्फ़ स्वानुभूति का रूप है। इससे लेखक की रचनात्मक वृत्ति को समझने में सहायता मिलती है किंतु जीवन की कोई जानकारी नहीं। अतः आत्मकथ्य एक क्षणिक अभिव्यक्ति है जबकि आत्मकथा संपूर्ण जीवन की कथा !

आत्मकथात्मक उपन्यास तथा आत्मकथा

कई बार आत्मकथात्मक उपन्यास आत्मकथा के मुखौटे में आत्मकथा होते हैं। "शेखर एक जीवनी' के उपन्यासकार अज्ञेय से एक बार प्रश्न पूछा गया कि क्या 'शेखर : एक जीवनी' आपकी आत्मकथा है ? अज्ञेय ने इसके उत्तर में मना किया लेकिन यह कहा – "लेकिन इतना ज़रूर कहूंगा कि आत्मकथा को आत्मकथा में लिखने से ज़्यादा आसान है उसे उपन्यास में लिपिबद्ध करना।"[1] कई बार ऐसे उपन्यास अघोषित आत्मकथा भी बन जाते हैं।

साहित्य की सभी कथात्मक विधाओं में तात्विक समानता होने के कारण उनमें विभेद के लिये कुछ सूक्ष्म अंतर ढूंढने पड़ते हैं। आत्मकथा लेखन के लिये साहस एक अनिवार्य तत्व है। प्रेमचंद द्वारा निकाले गए 'हसं' के आत्मकथांक में 'प्रसाद' ने कहा है।

---

1. हिन्दी आत्मकथाएं : सिद्धांत एवं स्वरूप विश्लेषण – डॉ. विनीता अग्रवाल, पृ. 17

छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएं आज कहूँ ।
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूं।

प्रसाद जी को – यह 'मौन' रहने की इच्छा साहस का अभाव भी हो सकता है। 'अभिव्यक्ति के ख़तरे' के कारण मनुष्य जीवन की घटनाओं का प्रकाशन आत्मकथा विधा के रूप में सत्य की साहसिक मोहर न लगाकर आत्मकथात्मक उपन्यास का सहारा लेकर भी करता है। ये उपन्यास आत्मकथा ही होते हैं जैसे कौशल्या बैसंत्री का 'दोहरा अभिशाप'। किंतु इनमें कल्पना का समावेश भी हो सकता है। लेखक पात्रों को रचने में उनके प्रस्तुतिकरण में तथा तथ्यों को मनमाना मोड़ देने में स्वतंत्र होता है। आत्मकथाकार पात्र, संवाद, अंत की कल्पित रचना योजना नहीं करता है। यद्यपि दोनों ही विधाओं में मैं शैली का प्रयोग किया जाता है किंतु कल्पना के समावेश की गुंजाइश आत्मकथात्मक उपन्यास को आत्मकथा से अलग कर देती है। आत्मकथाकार जीवन के सत्य प्रस्तुतिकरण के लिये प्रतिबद्ध रहता है। जबकि आत्मकथात्मक उपन्यास में यह बाध्यता नहीं है। पत्र, रिपोर्ताज, शिकार कथा, जलकथा जैसी कुछ आत्मपरक विधाओं को भी आत्मकथा की सहधर्मी विधाएं मान लिया जाता है। किंतु प्रयोजन भेद व शैली भेद के कारण ये विधाएं आत्मकथा से बहुत दूर हैं। आत्मानुभव प्रधान होने पर भी ये तथ्यपरक अधिक होती हैं। ये इतिहास के एक कटे हुए खण्ड के समान समय विशेष से जुड़ कर तिथि व तथ्यों का संयोजन मात्र होते हैं। यदि ये आत्मकथाकार के पास उपलब्ध हो तो आत्मकथा लेखन में सहायक सामग्री के रूप में अवश्य ही काम आते हैं।

अतः हम देखते है कि उपरोक्त विवेचित सभी विधाएं यद्यपि आत्मकथा के समान प्रतीत होती हैं किंतु फिर भी इनका आत्मकथा से स्पष्ट विभेद है। पत्रों, संस्मरणों, डायरियों, रेखाचित्रों आदि में भी आत्मकथा की भांति आत्मचित्रण अवश्य मिलता है किंतु शिल्पगत रूप से इनमें काफी वैषम्य है। आत्मकथा इन सभी के उपरांत साहित्यजगत में आई है, यह एक अलग विधा है तथा इसका अलग पुस्तकाकार रूप में स्वयं लेखक की इस घोषणा के साथ कि वह आत्मकथा लिख रहा है, प्रकाशित होना आवश्यक है। यह एक स्वतंत्र विधा है।

संस्कृत साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन के संकेत

हिन्दी में पहली आत्मकथा सन् 1641 में रचित बनारसीदास जैन की आत्मकथा 'अर्ध कथानक' मिलती है। इससे पूर्व जीवनियाँ तो प्राप्त होती हैं, या संत कवियों की नामावली इत्यादि मिल जाती हैं किंतु आत्मकथाएं नहीं मिलती हैं।

हिन्दी भाषा संस्कृत–पाली–प्राकृत और अपभ्रंश के रूपों से परिवर्तित होते–होते क्रमशः 'हिन्दी' के स्वरूप में आई हैं। जब हमें हिन्दी की अनेक साहित्यिक विधाओं यथा – नाटक, कहानी, काव्य इत्यादि के आदिसूत्र संस्कृत साहित्य से निकले प्राप्त होते हैं तब बहुत संभव है कि आत्मकथा विधा का मूल भी प्राचीन साहित्य से जुड़ता हो, भले ही वह इस रूप में न प्राप्त होती हो किंतु आत्मकथात्मक पद, पदांश अथवा उक्तियों के रूप में हम इस विधा के संकेत प्राचीन साहित्य में ढूंढ सकते हैं। जिस प्रकार रामकाव्य की परम्परा वाल्मीकि से लेकर तुलसी तक अटूट रूप से चली आई है, उसी प्रकार हिन्दी ने अन्य बहुत कुछ साहित्यिक परम्पराएं भी पूर्ववर्ती साहित्य से प्राप्त की हैं।

डॉ. श्यामसुन्दर दास लिखते हैं – "हम जानते हैं कि हिन्दी साहित्य का वंशगत सम्बन्ध प्राचीन भारतीय साहित्य से है, क्योकि संस्कृत तथा प्राकृत आदि की विकसित परम्परा ही 'हिन्दी' कहलाई है। जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की ही नहीं, गुण की भी उत्तराधिकारी होती है, उसी प्रकार हिन्दी ने भी संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि साहित्यों से अभिव्यंजित आर्य जाति की स्थायी चित्तवृत्तियों और उसके विचारों की परम्परागत संपत्ति प्राप्त की है।[1]

संस्कृत भाषा से आरम्भ होकर हिंदी में आए विचाररत्नों की अटूट श्रृंखला इस तथ्य की पुष्टि भी करती है। अतः हिन्दी के आत्मकथा साहित्य पर विचार करने से पूर्व उसके पूर्ववर्ती साहित्य में भी हम आत्मकथा लेखन के आरम्भिक संकेत ढूंढने का प्रयास कर सकते हैं।

---

1. हिंदी भाषा और साहित्य : डॉ. श्यामसुंदर दास, पृ. 176

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि आत्मकथा लेखन के मूल सूत्र प्राचीन साहित्य में आत्म प्रदर्शन अथवा आत्मख्यापन के रूप में नहीं प्राप्त होते हैं। बल्कि आत्मज्ञान के आध्यात्मिक रूप में ही प्राप्त होते हैं। कठोपनिषद का कथन है –

"कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत।"

अर्थात् कोई बिरले धीर, बुद्धिमान मनुष्य ही ऐसे होते हैं जो आत्म समीक्षण की ओर प्रवृत्त होते हैं।

मनुस्मृति में मनु ने भी आत्मा को साक्षी बताते हुए आत्म चिंतन एवं आत्मनिरीक्षण पर बल दिया है।

इसी प्रकार 'गीता' में कहा गया है –

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह स्वयं आत्मा का उद्धार करे कभी आत्मा को पीड़ित या निरादृत न करे, क्योंकि अपना सबसे बड़ा शत्रु या मित्र आत्मा ही है।"[1]

'आत्मा' के रूप में 'आत्म' की महत्ता बताने का जितना विवरण 'गीता' में मिलता है उतना शायद ही विश्व के अन्य किसी ग्रंथ में उपलब्ध हो।

संस्कृत के महान विद्वानों के साहित्य का अवलोकन करने पर कालिदास के काव्य में कहीं भी अपना नाम, कुलगोत्र, परिचय इत्यादि नहीं दिया है किंतु उनके बाद के विद्वानों की रचनाओं में कहीं–कहीं उनका नाम माता–पिता का नाम अपने वंश अथवा राज्याश्रय का परिचय अवश्य मिल जाता है –

"भवभूति ने उत्तर 'रामचरित' की प्रस्तावना में कहा है –

कश्यप गोत्र में उत्पन्न, व्याकरण, मीमांसा और न्यायशास्त्र जानने वाले, 'जतुकर्णी के पुत्र और 'भवभूति' ऐसी उपाधि से मुक्त 'श्रीकण्ठ' नाम के विद्वान हैं।

---

1. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य : डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, पृ. 167

जिन भवभूति का देवी सरस्वती वंशवर्तिनी की तरह अनुसरण करती हैं उन्हीं भवभूति के द्वारा निर्मित उत्तर रामचरित का अभिनय किया जाता है।"[1]

हर्ष चरित के रचयिता महाकवि बाण ने हर्ष चरित के आरंभ में अपना तथा अपने कुल का परिचय दिया है।

नैषध चरित के रचयिता श्रीहर्ष ने भी प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर अपना परिचय दिया है। वे अपना नाम श्रीहर्ष, पिता का नाम 'श्रीहरि तथा माता का नाम 'भामल्ल देवी' बताते हैं।

कश्मीरी कवि विल्हण ने 'विक्रमांकदेव चरित' की रचना की, इसमें उन्होंने राजा विक्रमादित्य का चरितगान लिखा है, इस ग्रंथ के दसवें सर्ग में उन्होंने अपना भी जीवनवृत्त दिया है। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के परिचयात्मक उदाहरणों से यह बात पता चलती है कि यद्यपि अलग से इन कवियों ने कोई आत्मपरिचयात्मक ग्रंथ नहीं लिखा है किंतु अपनी रचनाओं में इन्होंने चरितनायक के चित्रण के साथ ही स्वयं को भी परिचित करवाया है।

इसी प्रकार संस्कृत के अलावा पालि एवं अपभ्रंश भाषाओ के जैन तथा बौद्ध साहित्य में न केवल भगवान बुद्ध एवं महावीर स्वामी के ही जीवन–चरित मिलते हैं बल्कि भिक्षु–भिक्षुणियों के आत्मचरित भी मिलते हैं। पालि साहित्य की 'थेर गाथाओं' तथा 'थेरी गाथाओं' में इन भिक्षु–भिक्षुणियों ने अपनी आध्यात्मिक परिशुद्धि की अनुभूतियों का वर्णन किया है। इनमें कहीं–कहीं उनके भौतिक जीवन की झलक भी मिल जाती है।

बौद्ध धर्म के अनुयायी तथा सबसे बड़े प्रचारक सम्राट अशोक का आत्मचरित शिलालेखों पर अंकित मिलता है। प्रसिद्ध इतिहासविद् तथा विद्वान डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'अशोका' में इस तथ्य का वर्णन किया है।

गाथा शप्तशती, शक्ति–सूक्त तथा सुत्तपिटक थेरी गाथाएं हैं। 'गाथा सप्तशती' में अनेक भिक्षुओं तथा तीन भिक्षुणियों का वर्णन है। 'सुत्तपिटक' के पाँच निकाय हैं। इनमें

---

1. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य : डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, पृ. 167

से 'खुद्दक निकाय' के नवें भाग में 73 (तिहत्तर) बौद्ध भिक्षुणियों की थेरी गाथाएं संकलित हैं। इन थेरियों में राजकुमारियों से लेकर वेश्याएँ, बहेलिये की स्त्री इत्यादि तक थीं। इनमें से एक छाता बनाने वाले की पत्नी सुमंगला ने 'थेरी' बनने पर लिखा है कि –

अहो मैं मुक्त नारी
मेरी मुक्ति धन्य है
पहले मैं मूसल से धान कूटती
आज उससे मुक्त हुई
गया मेरा निर्लज्ज पति जो मुझे
उन छातों से भी तुच्छ समझता था
जिन्हें वह अपने लिये बनाता था

इसी प्रकार 'शक्ति–सूक्त' में एक 'थेरी' के उद्‌गार हैं –

जो अन्न खाते हैं मेरी ही शक्ति से
जो देखते हैं मेरी ही शक्ति से
जो सांस लेते हैं कही हुई बात सुनते हैं
मेरी ही सहायता से
जो मुझे इस रूप में नहीं जानते
वे न जानने के कारण ही हीन दशा को प्राप्त होते हैं।"[1]

इसी प्रकार अपभ्रंश साहित्य जैन ग्रंथों में भी रचनाकारों ने अपनी रचना के साथ अपना नाम, परिचयात्मक अंश इत्यादि दिया है। अपभ्रंश के महाकवि पद्‌मचरित (पउमचरिउ) की भूमिका में अपना तथा अपने माता–पिता का परिचय दिया है। पुष्पदंत ने अपने ग्रंथ 'नागकुमार चरित' (जयकुमार चरित) के अंत में ऐसा ही विवरण दिया है।

इन आत्म परिचयात्मक संक्षिप्त उक्तियों का आत्मकथा लेखन की सुदृढ़ पीठि स्थापित करने में भले ही स्पष्ट योगदान नज़र नहीं आए किंतु आत्मकथा विधा के विकास के क्रम में इन ऐतिहासिक बीजांकुरों का अप्रत्यक्ष योगदान अवश्य ही है। डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इसी तथ्य पर प्रकाश डाला है – "तुलसी, जायसी आदि ने चरितकाव्यों में

---

1. आलोचना – जन.–मार्च, 2001, आलेख – पानी जो पत्थर के भीतर जाता है – अनामिका

वेदना, विनम्रता, सज्जन–दुर्जन वर्णन आदि की जो पद्धति ग्रहण की है वह पुष्पदंत कृत 'महापुराण' तथा 'जसहरचरिउ' और स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' तथा अपभ्रंश के अनेक जैन कवियों के चरितकाव्यों की भांति है।"[1]

प्रारंभिक आत्मकथात्मक लेखन से आत्मकथा विधा का सूत्रपात

वैदिक भाषा से लेकर संस्कृत–पालि–प्राकृत और अपभ्रंश तक मिलने वाली छिटपुट आत्मकथात्मक उक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि भारतीय आर्य मनीषा ने सदैव ही आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति की उपेक्षा – अवहेलना ही की, किंतु स्वयं को अभिव्यक्त करने की एक नैसर्गिक इच्छा कवियों में अवश्य ही विद्यमान थी।

बहुत से विदेशी विद्वान भारत में आत्मकथा–लेखन को विदेशी प्रभाव से उत्पन्न साहित्य समझते हैं। रॉय पास्कल ने अपनी पुस्तक 'डिज़ाइन एण्ड टुथ इन ऑटोबायग्राफी' में इसे यूरोपीय सभ्यता से उत्पन्न विधा बताया है।[2] प्राचीन धार्मिक एवं रचनात्मक साहित्य में यत्र–तत्र मिलने वाले आत्मपरिचयों एवं आत्मिक दर्शन, आध्यात्मिक चिंतन को हम आत्मकथन की दृष्टि से सिर्फ इसीलिये ख़ारिज नहीं कर सकते कि वे स्वतंत्र आत्मपरक सर्गों में रचित नहीं हैं। अगर मूल विषय के साथ लेखक स्वयं के विषय में कुछ लिखता है तो उसकी यह पद्धति अपनी मौलिक थी एवं बाद में विकसित होने वाली आत्मकथा विधा के बीजांकुरों के रूप में महत्त्व रखती है। साथ ही यह भी शोचनीय है कि कदाचित् अगर 1641 ई. में बनारसीदास जैन द्वारा रचित 'अर्धकथानक' के पूर्व कोई आत्मकथा लिखी भी गई हो तो वह आज उचित संरक्षण न मिलने की वजह से इतिहास के गर्भ में कहीं खो गई हो।

वीरगाथा काव्य में 'पृथ्वीराज रासो' के कवि चंदबरदायी ने पृथ्वीराज के साथ अपना भी जीवनवृत्त दिया है। अतः धीरे–धीरे काव्य रचना के साथ अपना नाम असंयुक्त रखने की प्रवृत्ति हम समाप्त होती पाते हैं। बाद में भक्तिकाल एवं रीतिकाल के कवियों

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ. 47
2. डिजाइन एण्ड टुथ इन ऑटोबायग्राफी – रॉय पास्कल, पृ. 21
   "It is a creation of European civilization and realy begins with Augustine"

में अपना नाम अपनी रचना में बार–बार देने में कोई संकोच नहीं दिखाई पड़ता। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा से लेकर केशव तक ऐसे वर्णन मिल जाते हैं। इस विषय में हम अगले अध्याय में सविस्तार चर्चा करेंगे।

निष्कर्ष रूप में यहाँ यह कहा जा सकता है कि आत्मप्रकाशन को आत्मश्लाधा समझने की प्रवृत्ति के कारण संस्कृत एवं हिन्दी के अन्य पूर्ववर्ती साहित्य में आत्मकथा विधा के संक्षिप्त रूप में भी दर्शन नहीं होते किंतु भिन्न–भिन्न रूपों में आत्माभिव्यक्ति हमें प्राप्त होती है। चाहे वह आत्मा की अनुभूति के रूप में दार्शनिक कलेवर में हो अथवा चरिग्रंथों में आमपरिचयात्मक पदों के रूप में। अर्थात् आत्म तत्व से भारतीय मनीषा भलीभांति परिचित थी एवं आत्मचिंतन, आत्मध्यान द्वारा आत्मोत्थान हेतु भी यथेष्ट सचेत थी किंतु समष्टिमूलक दृष्टि होने से हमारे प्राचीन मनीषी, कवि इत्यादि अपना वर्णन करने में अनौचित्य अनुभव करते थे, अतः कतिपय साहित्य के आत्मपरिचय संकेतों से युक्त होने पर भी उनमें जीवनानुभव का सर्वथा विलोप है। शासकों ने अवश्य ही अपने राज्य विस्तार के इतिहास, अपनी उपलब्धियों के आख्यान तथा अपनी विजय का वर्णन या राज्यप्रबंध की विशेषताओं के विवरण लिखें या राज्याश्रित कवियों से लिखवाएं किंतु उन जीवन वर्णनों से भी आत्मकथा विधा का सूत्रपात नहीं हो सका ! वे मात्र आत्मपरिचय की परम्परा के आदि कण बन कर रह गए। आत्मकथा विधा के उदय एवं विकास में इनका योगदान मात्र कुछ आत्मपरक उक्तियों तक ही सीमित है अतः यह मानने में कुछ भी अयथार्थ नहीं है कि भारतीय प्राचीन विद्वान एवं मनीषी हिन्दी आत्मकथा की प्रवृत्ति के जन्मदाता नहीं बन पाए।

अतः आत्मकथा के उदय और विकास के क्रम में हम देखते हैं कि हिन्दी के पूर्ववर्ती संस्कृत अथवा पाली–प्राकृत साहित्य में छिटपुट आत्मपरक संक्षिप्त विवरण ही प्राप्त होते हैं, तथा वर्तमान में आत्मकथा विधा जिस स्वरूप में स्वीकृत है उसके प्रारंभिक लक्षण उस साहित्य में अप्राप्त हैं।

आज ललित साहित्य की विभिन्न विधाओं में जो सर्वाधिक प्रमाणिक विधा है वह आत्मकथा ही है। प्रमाणपुष्टता के साथ ही इसमें मानवीय संवेदना के दर्शन भी होते हैं।

लेखक आत्मकथा के माध्यम से अपने जीवन का पुनः स्मरण, पुनरावलोकन करता है तथा इस प्रक्रिया में वह स्वयं का एवं विगत घटनाओं का विश्लेषण भी करता चलता है। अतः अतीत की घटनाओं को और उनमें स्वयं की भूमिका का तत्कालीन सन्दर्भों में मूल्यांकन करने का साहित्यिक माध्यम आत्मकथा है।

चूंकि यह कर्ता–भोक्ता द्वारा लिखी जाती है, अतः इसका स्वरूप ऐतिहासिक दस्तावेज़ होने के बावजूद आत्मपरक संवेदना से ओतप्रोत रहता है तथा पाठक को रोचक शैली में लेखक का जीवन इतिहास पढ़ने को मिलता है।

आत्मकथाका स्वरूपगत वैशिष्ट्य ही इसे संस्मरण डायरी या जीवनी, यात्रावृत्तांत, जेलकथा, शिकारकथा इत्यादि से भिन्न स्थान प्रदान करता है। एक ओर जहाँ इसके तथ्यों की प्रमाणिकता असंदिग्ध रहती है वहीं दूसरी ओर सम्पूर्ण जीवन (जिस आयु में लिखी गई हो) की कथा तथा जीवन का समग्रतः अवलोकन होने के कारण यह अन्य आत्मपरक विधाओं से विशिष्ट मानी जाती है। इसकी यही विशिष्टता जहां लेखकों को आत्मकथा लेखन की ओर प्रवृत्त करती हे वहीं पाठकों को भी लेखक का जीवनवृत्त पढ़ने हेतु आकर्षित करती है। विभिन्न कोशकारों में जहां आत्मकथा को आत्मचरित, आत्मजीवनी या अपने जीवन की कहानी बताया है वहीं विभिन्न लेखकों ने आत्मकथा विधा को बहुविध परिभाषित किया है। इसमें लेखक के जीवन का त्रिआयामी निरूपण रहता है यह सिर्फ़ जीवनानुभवों का संकलन मात्र नहीं बल्कि जीवन जीने की प्रक्रिया का विश्लेषण है अतः अतीत के समीप होकर भी यह इतिहास ग्रंथ नहीं है। अतीत और वर्तमान के मध्य यह एक साहित्यिक सेतु है। स्वयं के जीवन की कथा होने पर यह अन्य कई आत्मेतर उद्देश्यों से लिखी जा सकती है तथा इसमें दूसरों के जीवन का भी वर्णन अवश्य ही आ जाता है। लेखक के विकास का वर्णन यह सामाजिक परिप्रेक्ष्य में करती है अतः यह लेखक का एकांत प्रलाप या एकांगी चित्रण भी नहीं हो सकती है। 'आत्म' का वर्णन आत्मकथा का मूल भाव है, किंतु 'आत्म' की सीमाएं भी निर्धारित हैं। आत्मकथा व्यष्टि और समष्टि के संबंधों की पड़ताल है तथा इसमे दोनों पर संतुलित बल अपेक्षित होता है। विभिन्न प्रयोजनों से आत्मकथाएं लिखी और पढ़ी जाती हैं। लेखक की रुचि उसके संस्कार तथा उसका लेखकीय प्रयोजन आत्मकथा की भाषा–शैली एवं वर्णन को प्रभावित

करता है। आत्मकथा का प्रारंभ में नहीं लिखा जाना, तथा धीरे–धीरे इस विकास होना भारतीय लेखकों में मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का धीरे–धीरे उदय होना दर्शाता है। द्वितीय अध्याय में हम हिन्दी साहित्य के क्रमशः विकास के साथ आत्मकथा विधा के विकास का तथा बदलते स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

अध्याय — दो

हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लेखन की परम्परा

क) आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल में आत्मकथात्मक लेखन
ख) आत्मकथालेखन का आरंभ : बनारसीदास जैन (अर्द्धकथानक – 1641)
ग) भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग में आत्मकथा लेखन
घ) छायावाद युग में आत्मकथा लेखन
ङ) स्वातन्त्र्योत्तर युग में आत्मकथा लेखन (1947–69)

अध्याय – 2

हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लेखन की परम्परा

'आत्म' अभिव्यक्ति की विकास परम्परा में संस्कृत–पाली–प्राकृत या अपभ्रंश साहित्य में मिलने वाले छोटे–मोटे आत्मपरिचय इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि स्वयं को अभिव्यक्त करने की नैसर्गिक इच्छा मनुष्य में आरंभ से ही विद्यमान थी तथा समय और परिस्थितियों के अनुरूप रचना के साथ में अपना थोड़ा बहुत परिचय देने की एक अस्पष्ट प्रवृत्ति भी हम देख सकते हैं।

लेकिन चूंकि भारतीय धर्म और दर्शन में अहं और स्व की भावना का सर्वथा तिरस्कार किया गया है अतः अगर कहीं किसी कवि की रचना में उसका नाम, कुलगोत्र इत्यादि का वर्णन मिलता भी है तो इसे परवर्ती हिन्दी साहित्य के आत्मकथा लेखन की पूर्व पीठिका के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जीवनीपरक साहित्य के स्वरूप में पृथक पुस्तकाकार रूप में प्राप्त न होने पर भी हिंदी साहित्य के विकास क्रम में आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल में प्राप्त होने वाले आत्मपरिचयों का ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व है तथा यह आरंभिक आत्मविवरण देने की प्रवृति ही समय के प्रवाह में आत्मकथा लेखन का हेतु बन सकती थी। हिन्दी साहित्य के आदिकाल, भक्तिकाल व रीतिकाल में प्राप्त होने वाले इन्हीं आत्मपरिचयात्मक विवरणों के आधार पर हम हिन्दी साहित्य के विकास क्रम में आधुनिक काल में आत्मकथा साहित्य की परम्परा के आरंभ और विकास होने तथा अवरुद्ध होने के कारणों पर विचार कर सकते हैं।

आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कहा है – "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंबित होता है, यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन

होता चला जाता है। ... जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"1

अर्थात कह सकते हैं कि साहित्य की प्रवृत्तियों के परिवर्तन के पीछे साहित्यिक कारण कम तथा राजनीतिक, धार्मिक या सांस्कृतिक तत्व अधिक कार्यरत होते हैं। अगर हम जनता की चित्तवृत्ति को आत्मकथा लेखन के उदय से जोड़कर देखें तो आदिकाल–भक्तिकाल और रीतिकाल में आत्मकथा लेखन के प्रति उदासीनता के क्या कारण हो सकते हैं इस पर विचार किया जा सकता है।

आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल में आत्मकथा लेखन

आदिकाल को भाट व चारण युग भी कहा जाता है। भाट व चारण वे राज्याश्रित दरबारी कवि थे, जिनका कार्य राजाओं की प्रशस्ति गान, उनके शौर्य, वीरता व बहादुरी का बढ़–चढ़ कर वर्णन करना तथा उन्हें सबसे श्रेष्ठ सिद्ध कर देना होता था जिसके फलस्वरूप उन्हें धन–सम्पत्ति, जागीर इत्यादि पुरस्कार स्वरूप मिलते थें। इन कवियों के लिये अपना नहीं अपने आश्रयदाता का जीवन महत्त्वपूर्ण था क्योंकि वह जीविका एवं दरबार में प्रतिष्ठा पाने का माध्यम था अतः ऐसी स्थिति में आत्म परिचय देने का क्या प्रयोजन ? इस काल में साहित्यकारों द्वारा आत्म परिचय देने की प्रवृत्ति स्पष्ट नहीं होती है मात्र राजाओं का ही जीवनवृत्त मिलता है। इन जीवनवृत्तों में शिलालेखों का भी महत्त्व है। सम्राट अशोक के जीवनवृत्त अधिक विस्तृत रूप में प्राप्त होते हैं। इन शिलालेखों का साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्व है क्योंकि छपाई का समुचित प्रबंध न होने के कारण विभिन्न राज्यादेश, धार्मिक उपदेश इतिहास, मार्ग विवरण आदि शिलालेखों के माध्यम से ही जनता तक पहुँच पाते थे। प्रसिद्ध इतिहासविद् राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'अशोक' में इसी प्रकार के प्रस्तर साहित्य में सम्राट अशोक का आत्मचरित्र लिखे होने का उल्लेख किया है। इस काल में अनेक रासोग्रंथ लिखे गए। जैसे नरपति नाल्ह रचित बीसलदेव रासो, जगनिक कृत परमाल रासो, दलपति विजय का खुमान रासो, नवलसिंह का विजयपाल रासो इत्यादि। इन सभी में रचयिताओं ने अपने वर्ण्य राजा की वीरता की

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 1

गाथा का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन किया है ये ग्रंथ रासो शैली में लिखे गए हैं तथा परम्परागत तरीक़े से घटनाबहुल हैं इनमें चरित्र नायक के जीवन का अधिक वर्णन नहीं मिलता।

पृथ्वीराज रासो एकमात्र काव्य है जिसमें कवि ने अपना जीवन वृत्त भी दिया है। इसका कारण भी आचार्य शुक्ल की इस टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है कि – "वे महाराजा पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं, उनके सखा और सामंत भी थे। उनका जीवन पृथ्वीराज के जीवन के साथ ऐसा मिला हुआ था कि उसे अलग नहीं किया जा सकता था।"[1] अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यदि चंदबरदायी अन्य चारणों के विपरीत पृथ्वीराज के सखा, सामंत व इतने अंतरंग न होते तो शायद वे भी पृथ्वीराज के नायकत्व के समक्ष अपना व्यक्तित्व वर्णन करना उचित नहीं समझते। शेष साहित्य में आत्मकथात्मक दृष्टि से जैनों और बौद्धों की 'थेर गाथाएं' तथा 'थेरी गाथाएं' प्रमुख हैं यद्यपि इन ग्रंथों में भिक्षु–भिक्षुणियों ने अपनी आध्यात्मिक उन्नति का वर्णन ही किया है, जीवनानुभवों का नहीं किंतु आत्म परिचय की दृष्टि से ये ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार पुष्पदंत का 'जयकुमार चरिउ', स्वयंभूदेव के 'पउमचरिउ' भी जैन साहित्य के प्रमुख ग्रंथ हैं तथा इनमें कवियों ने अपने अपने माता–पिता का तथा वंश इत्यादि का परिचय दिया है।

14वीं शताब्दी का आरंभ होते ही राजनैतिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन आ चुका था। मुगलों की सत्ता स्थापित हो चुकी थी और राज्याश्रित वीरगाथाकारों का महत्व भी समाप्त हो गया था। अतः साहित्य की भी प्रवृत्ति राजाओं के गुणगान से ईश्वर की आराधना में रूपान्तरित हो गई। आचार्य शुक्ल स्पष्ट लिखते हैं कि – "इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनमानस पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[2] अतः साहित्य का रुझान ईश्वर की आराधना की तरफ हो गया। संत कवियों तथा भक्तों ने अपने आराध्य का जीवन चरित्र

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 38–39
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 43

तो बहुत लिखा किंतु अपना जीवन उनके लिये नगण्य एवं महत्वहीन ही रहा। अपने व्यक्तित्व को संतकवि लघु से भी लघुतर और आराध्य को श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर मानने का भाव लेकर रचना करते रहे। भक्तिकाल में अनेक कवियों की अपने विषय में कही गई दीनतापूर्ण उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं।

यथा – मो सम कौन कुटिल खल कामी – तुलसीदास
या हवै सब पतितन को टीकौ – सूरदास

कहीं–कहीं संत कवियों ने अपने प्रति कुछ लिखा भी है किंतु वह इष्ट के प्रति आत्मनिवेदन तथा दीनता व्यक्त करने के लिये ही कहा गया है।

माता–पिता जग जाइ तज्यो
विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।

"तुलसीदास ने अपने जीवन और अपने युग के विषय में हिंदी के किसी भी मध्यकालीन कवि से ज्यादा लिखा है।"[1] किंतु फिर भी हम पाते हैं कि अपने बारे में कहने को कवि उत्सुक नहीं है। रचना के बीच–बीच में प्रसंगवश ही उन्होंने अपने संबंध में भी कहीं–कहीं कुछ–कुछ लिखा है। तुलसी के वर्ण्य विषय राम ही हैं। रामकथा कहना ही उनका मुख्य उद्देश्य है। सारा जग उनके लिये राममय ही है – 'सियाराम मय सब जग जानी।'

अतः बीच–बीच में उनकी रचनाओं में कुछ आत्म सम्बन्धी उक्तियाँ मिलती भी हैं तो वे आत्महीनता व्यक्त करने के लिये ही लिखी गई हैं आत्मस्थापना की भावना से नहीं, कवि की मंशा अपना परिचय देने की नहीं, अपितु अपनी दीन स्थिति का वर्णन करने की ही है।

कवितावली (उत्तरकाण्ड) में भी तुलसी लिखते हैं कि – 'जानत हूँ चार फल चार ही चणक को' – गरीबी की चरमावस्था में दीन बालक को चार चने भी मिल जाते हैं तो

---

1. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 33

वह चतुर्वर्ग की प्राप्ति के समान प्रसन्न हो जाता यह सामाजिक स्थिति कवि दिखलाना चाहता है।

इसी प्रकार कबीर एवं रैदास के काव्य में भी आत्मपरिचयात्मक कुछ उक्तियाँ प्राप्त होती है –

कबीरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।[1]

तनना बुनना तज्यो कबीर
राम नाम लिखि लियो सरीर।[2]

कह कबीर दासन के दास।[3]

दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवै।[4]

इन सभी पंक्तियों में कबीर अपना नामोल्लेख करते तो नज़र आते हैं पर उनके व्यक्तिगत जीवन पर इनसे कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। नाभादास कृत भक्तमाल में भी "कबीर सम्बन्धी छप्पय में बताया गया है कि उन्होंने षट्दर्शन और वर्णाश्रम व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया था इस पद में कबीर को न तो जन्मतः हिंदू बताया गया है और न मुसलमान। इस पद से कबीर के जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता इसमें लिखा है –

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट्दर्शनी !"[5]

"सं. 1712 में प्रियादास ने 'भक्तमाल' की टीका 'भक्तिरस बोधिनी' के नाम से की थी । इसमें कबीर की जीवनी विस्तार से दी गई है किंतु उसमें दंतकथाओं तथा अलौकिक घटनाओं की भरमार है।"[6] तात्पर्य यह कि अगर स्वयं कवि के मुख से

---

1. कबीर साखी सुधा – डॉ. वासुदेव सिंह, पृ. 39
2. – वही – पृ. 12
3. कबीर – डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 234
4. – वही – पृ. 258
5. कबीर साखी सुधा – डॉ. वासुदेव सिंह, पृ. 18
6. – वही – पृ. 19

उद्धृत अथवा उसके समकालीन या परवर्ती कुछ एक भक्तकवियों ने उनके सम्बन्ध में कुछ कहा भी है, तो उनमें ऐतिहासिक तथ्य कम मिलते हैं, चमत्कारपूर्ण और असाधारण किंवदंतियों का समावेश अधिक है।

आचार्य शुक्ल ने 'भक्तमाल' के सम्बन्ध में लिखा है – "इस ग्रंथ में 200 भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र 316 छप्पयों मे लिखे गए हैं। इन चरित्रों में पूर्ण जीवनवृत्त नहीं है केवल भक्ति की महिमासूचक बातें दी गई हैं। इसका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्य बुद्धि का प्रचार जान पड़ता है।"[1]

तुलसीदास के सम्बन्ध में 'भक्तमाल' में उन्हें वाल्मीकि का अवतार बताया गया है–

"संसार अपार के पार कौ सुगम रूप नौका लियौ
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयौ।"[2]

स्पष्ट है कि इससे कवि के लौकिक जीवन के बारे में नहीं जाना जा सकता है।

इसी प्रकार 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'भक्त नामावली' या 'कबीर चरित्र बोध' जैसी 'रचनाएं भी मिलती हैं किंतु ये रचनाएं संतकवियों का प्रमाणिक जीवन परिचय देने के उद्देश्य से नहीं बल्कि संतपुरुष की महानता का गुणगान करने के लिये लिखी गई हैं।

सूरदास ने यद्यपि अपने आराध्य चरितनायक कृष्ण को जीवन की खुली भूमि पर लाकर उनके व्यक्तित्व को अलौकिक न बनाकर लोक जीवन के बीच प्रस्तुत किया, सामान्य जनजीवन से, ग्वाल जीवन से तो जोड़ा, किंतु स्वयं को उनके भक्त के अतिरिक्त अन्य किसी दृष्टि से न देखा। "भक्ति इनके काव्य का साध्य है। भगवान की रसमयी लीलाओं की आत्मानुभूति की सहज अभिव्यक्ति ही सूरदास के काव्य की अंतः प्रकृति की विशेषता है।"[3] रसमयी लीलाओं की अभिव्यक्ति में मग्न कवि के पास

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 101
2. – वही – पृ. 258
3. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य – मैनेजर पाण्डेय, पृ. 220

आत्माभिव्यक्ति के लिये समय नहीं है। भक्तिकाल के अन्य कवियों में रैदास प्रमुख हैं। इन्होंने काव्य में थोड़ा बहुत वर्णन अपने बारे में किया हे जिससे इनकी जाति तथा निवास स्थान के बारे में थोड़ा बहुत जानकारी प्राप्त होती है –

यथा – ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारा।[1]

या – जाके कुटुम्ब सब ढोर ढोवंत
फिरहि अजहूँ बानारसी आसपासा
आचार सहित विप्र मरहिं डंडवति
तिन तनै रविदास दासानुदासा।[2]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आत्मपरिचय देने में रैदास कुण्ठाहीन है। भक्ति भावना ने उनमें वह बल भर दिया कि वे डंके की चोट पर यह घोषणा कर सकते हैं कि आज भी बनारस के आसपास उनके परिवार वाले ढोर (मृत पशु) उठाते हैं। यह कुण्ठाहीनता की भावना आत्मगर्व से ओतप्रोत है किंतु अलग से आत्मपरिचयात्मक कोई रचना इनकी नहीं मिलती। इसी प्रकार मसनबी शैली में लिखने वाले सूफ़ी कवियों की रचनाओं में भी शैली–नियम निर्वाह करने के कारण आरंभ में ही कवि–परिचय मिल जाता है। मसनबी शैली में पुस्तक आरंभ करते समय पैगम्बर की स्तुति फिर खलीफा की स्तुति तथा शाहे–वक़्त की स्तुति फिर नगर का वर्णन करके कवि अपना परिचय देते हैं। अतः सभी सूफी कवियों का परिचय उनकी रचना में ही मिल जाता हैं। कासिमशाह 'हंस जवाहिर' में अपना परिचय देते हुए कहते हैं –

दरियाबाद मांझ मम ठाऊँ। अमानुल्ला पिता कर नाऊँ।।
तहवाँ मोहि जनम विधि दीन्हा। कासिम नांव जाति कर हीना।।[3]

कवि जायसी ने भी 'पद्मावत' के आरंभ में अपना परिचय एक नयन वाला कवि कह कर दिया है –

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 57
2. – वही – पृ. 57
3. – वही – पृ. 77

'एक नयन कवि मुहमद जायसी
सोई विभी दाजेई कवि सुनि
जायस नगर धर्म अस्थानू
तह आ कवि कीन बखानू।'[1]

अतः हम देखते हैं कि भक्तिकाल के साहित्य में धार्मिक प्रवृत्ति प्रमुख थी। चाहे वह सगुण मार्गी हो अथवा निर्गुणमार्गी कवि या चाहे कृष्ण मार्गी सूरदास हो अथवा राममार्गी तुलसी दास। संत कवियों से लेकर सूफी साधकों तक की वाणी में ईश्वर की आराधना के ही स्वर मुख्य रूप से सुनाई देते रहे तथा उनकी रचनाओं में अपने लिये पृथक स्थान नहीं था अगर कहीं कुछ आत्मपरिचयात्मक उक्तियाँ मिलती भी हैं तो वे प्रसंगवश ही रचना में आई हैं या फिर फारसी की मसनबी शैली के निर्वहन हेतु मिलती हैं। अतः आत्मकथा लेखन के विकासक्रम में भक्तिकाल का कोई अवदान हमें नहीं दिखता किंतु यह अवश्य ही आश्चर्यजनक है कि जहाँ सामाजिक, राजनैतिक कारणों से हिन्दी साहित्य में कवि दुःखी भाव से अपने विषय में दीनतापूर्वक अभिव्यक्ति कर रहे थे वहीं उसी समय इस प्रवृत्ति के ठीक विपरीत भारत में ही तुर्की–फ़ारसी में अद्‌भुत रूप से आत्मकथात्मक साहित्य की रचना की जा रही थी। इन बादशाहों – संतों के जीवन चरित्र लिखने के साथ–साथ आत्मकथाएं भी प्रचुरता से लिखी गईं। बहुत सी तारीख़ी–किताबें और इतिहास ग्रंथ भी लिखे गए जिनमें इतिहास के साथ तत्कालीन प्रमुख हस्तियों के जीवचरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है।

आत्मकथाओं में बाबर की आत्मकथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रथम मुग़ल शासक बाबर, एक कुशल लेखक था। उसने तुर्की में अपनी आत्मकथा 'तुजुक–ए–बाबरी' शीर्षक से लिखी। अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना ने इसका फ़ारसी में अनुवाद किया यह एक उत्कृष्ट आत्मचरित्र है जिसका न केवल राजनैतिक–ऐतिहासिक महत्त्व है बल्कि साहित्यिक महत्त्व भी हैं। हिन्दी में इसका अनुवाद हो चुका है।[2] बाबर के पुत्र हुमायूँ का जीवन चरित्र उसकी सौतेली बहन गुलबदन बेगम ने 'हुमायूँनामा' नाम से लिखा। इसमें हुमायूँ के

---

1. हिन्दी आत्मकथा स्वरूप एवं साहित्य – कमलेश सिंह, पृ. 57
2. तुज़ुके–ए–बाबरी – अनुवादक मथुरालाल शर्मा,

जीवन, उसके दरबार तथा परिवार का वर्णन है। परिवार के वर्णन में स्वयं लेखिका गुलबदन बेगम का भी इसमें स्वाभाविक रूप से वर्णन आ गया है अतः आत्मपरिचयात्मक वर्णन के अंश से पुस्तक का महत्व दो गुना हो गया है। हुमायूँ का पुत्र अकबर था जिसके बारे में इतिहासकारों का मत है कि वह निरक्षर था। अतः उसके स्वयं के द्वारा लिखित कोई आत्मकथा नहीं प्राप्त होती है किंतु अबुलफज़ल द्वारा लिखित 'आईने–अकबरी' व 'अकबरनामा' प्रमुख ग्रंथ हैं। यह दो ऐतिहासिक ग्रंथ उसके जीवन के साथ–साथ तत्कालीन समाज व इतिहास की जानकारी देते हैं। अकबर के समय में ही मुल्ला बदायूँनी ने 'मुनख़ाब उत तवारीख़' लिखा। इसमें आत्मचरित और इतिहास का सुन्दर मिश्रित चित्रण है।

अकबर के पुत्र बादशाह जहाँगीर की कई जीवनियाँ उपलब्ध हैं। हिन्दी में 'तुज़ुक–ए–जहाँगीरी' का अनुवाद करने वाले लेखक डॉ. मथुरालाल शर्मा ने इस अनुदित ग्रंथ की भूमिका में लिखा है – "जहाँगीर ने स्वयं अपने शासनकाल के 17वें वर्ष तक का वृत्तांत लिखा है फिर अस्वस्थता के कारण शेष वृत्तांत लिखने का कार्य उसने मुहामिद खाँ के सुपुर्द कर दिया जिसने 19वें वर्ष तक का वृत्तांत जहाँगीर के नाम से लिखा तत्पश्चात उसने अपने ही नाम से जहाँगीर के शेष जीवन का वृत्तांत अपनी पुस्तक 'इकबालनामा' में लिखा।"[1] जहाँगीर ने अपने राज्यकाल के प्रथम 12 वर्षों तक का इतिहास पहली ज़िल्द में तथा 17वें वर्ष तक का दूसरी ज़िल्द में लिखा शेष मुहामिद खाँ ने लिखा। इस प्रकार 'तुज़ुक–ए–जहाँगीरी' तीन ज़िल्दों में लिखी गई। अंग्रेज़ी में इसका अनुवाद अलेक्ज़ेण्डर रोजर्स ने तथा संपादन हेनरी बेवरिज ने किया। उर्दू में इसका अनुवाद मुंशी मुहम्मद अली सीमाब ने 1874 में किया। जहाँगीर का पुत्र शाहजहाँ तो साहित्य और साहित्यकारों के संरक्षक के रूप में ही मशहूर है। शाहजहाँ के दरबारी कवि के रूप में अबु तालिम कालिम था। "उसने अपने दीवान के अतिरित शाहजहाँ की उपलब्धियों पर आधारित 'पादशाहनामा' नामक महाकाव्य भी लिखा।"[2] इस प्रकार मुग़ल शासकों द्वारा साहित्य में रुचि लेने के

---

1. तुज़ुक–ए–जहाँगीरी – अनु. मथुरालाल शर्मा, भूमिका
2. भारत : 16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य खण्ड–8, पृ. 6
   पुस्तिका – इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, पृ. 6

कारण फारसी साहित्य में उच्च कोटि की पुस्तकें लिखी गईं। मुगलों के अलावा दक्षिण में बीजापुर के आदिलशाही तथा गोलकुण्डा के कुतुबशाही शासकों ने भी फारसी साहित्य को भरपूर संरक्षण प्रदान किया। फारसी दोनों दरबारों में राजकाज की प्रमुख भाषा थी "1681 ई. में बुस्तमी ने 'हदीकल सलातीन' शीर्षक से प्रमुख फ़ारसी कवियों की जीवनी प्रस्तुत की।"[1] शाहजादा दाराशिकोह ने भी 'सकीनतुल औलिया' शीर्षक से सूफी मियां मीर और उनके शिष्यों की जीवनी लिखी।"[2]

बाद के उर्दू–फारसी कवियों की रचनाओं में भी कविपरिचयात्मक अथवा आत्मपरिचयात्मक रचनाएं मिलती हैं। प्रसिद्ध शायर मीर तकी 'मीर' की आत्मकथा 'ज़िक्रे मीर' 1783 ई. में प्रकाशित हुई। इन्होंने ही फारसी में उर्दू कवियों का परिचय–वृत्तांत 'नुकातुश्शुअरा' के नाम से लिखा जिसमें अपने समकालीन तथा पूर्ववर्ती कवियों का विवरण है।

'ज़िक्रे–मीर' मीर के जीवन के 66 वर्षों की दास्तान है। इसमें 182 पृष्ठ हैं। पहले यह हस्तलिखित थी बाद में 1928 ई. में इसका प्रकाशन हुआ। फिराक़ गोरखपुरी ने अपनी पुस्तक उर्दू भाषा और साहित्य में इस आत्मचरित के बारे में लिखा है – "इसमें मीर ने अपने साहित्य पर प्रकाश नहीं डाला है बल्कि अपने व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं के साथ ही तत्कालीन राजनीतिक उथल–पुथल और लड़ाईयों का उल्लेख किया है। इस पुस्तक का इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्व है।"[3]

इस प्रकार फारसी में आत्मकथाएं व जीवनियाँ तथा सामाजिक इतिहासपरक ग्रंथ लिखे जाते रहे। जहाँ हिन्दी में 14वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी तक एकमात्र आत्मकथा (1641 ई. में बनारसी दास जैन द्वारा लिखी गई अर्धकथानक) मिलती है। अरबी, फ़ारसी, तुर्की में अनेक आत्मकथाएं लिखी गईं। इस वैषम्य का साहित्यिक कारण

---

1. भारत : 16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य खण्ड–8, पृ. 7
   पुस्तिका – इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,
2. – वही – पृ. 7
3. उर्दू भाषा और साहित्य – फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 29

था कि हिन्दी में आत्मकथा लेखन की कोई पृष्ठभूमि नहीं थी अतः आत्मकथा लेखन की ओर कवियों का ध्यान नहीं गया जबकि अरबी–फ़ारसी में ईरान की पृष्ठभूमि थी जहाँ कि आत्मकथा लिखने एवं लिखवाने का प्रचलन अधिक था जिसका अनुसरण भारतीय इस्लामी शासकों, लेखकों ने किया। हिंदी तथा फारसी–तुर्की में आत्मकथा लेखन का लगभग यही अनुपात रीतिकाल में भी बना रहा।

रीतिकाल में प्रशस्ति गायन कभी ईश्वर तो कभी नायिका की आराधना के रूप में होता रहा। नायिका के सौन्दर्य को बढ़ाने–चढ़ाने के लिये रीतिकालीन कवि कल्पना का बल्कि अतिकल्पना का प्रयोग करते थे। इसलिये कल्पनाविहीन, तथ्याश्रित तथा आत्मसमीक्षापूर्ण रचना आत्मकथा का लेखन इनके लिये संभव न हो सका।

साथ ही एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि इस युग में अलंकृत तथा जटिल कवित्त लिखने की परम्परा इतनी अधिक थी कि अगर किसी कवि ने अपने बारे में कहीं कुछ लिखा भी तो वह समझे न जाने की वज़ह से गुप्त ही रह गया। इस जटिल कवित्त लेखन की प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए श्री विश्व बंधु शास्त्री ने एक अत्यंत सटीक उदाहरण दिया है – "हिन्दी के प्राचीनकाल और मध्यकाल के इतिहास का शोध करने वालों को इस आत्मकथात्मक प्रवृत्ति के अभाव के कारण कितनी कठिनाईयाँ उठानी पड़ी होंगी, इसका अनुमान इस उदाहरण से भलीभांति लगाया जा सकता है कि यदि मध्यकाल के कवि अपने वंश परिचय आदि का संकेत करते भी थे तो एकदम प्रच्छन्न भाव से। भिखारीदास ने अपने 'काव्य निर्णय' में एक कवित्त में लिखा है –

अभिलाषा करी सदा ऐसी, नीका होय ब्रित्थ, सब ठौर दिन सब, याही सेवा चरचानि।
लोभा लई नीचै ज्ञान हलाहल, ही को अंत है क्रिया पाताल, निंदा रस ही को खानि।।
सेनापति देवी केर शोभा ग़नती को भूप, पन्ना मोती हीरा होम, सौदा दास ही को जानि।
हीय पर देव पर बदे यश, रटै नाउं खगा सन नग धर, सीता नाथ को ला पानि।।

इस कवित्त में छुपे हुए कविनाम, कुल, वंश आदि को जानने के लिये हमें इस दोहे का सहारा लेना पड़ेगा –

या कवित्त अन्तवरण लै, तुकान्त द्वै छाड़ि।
दास नाम कुल ग्राम कही नाम भगति रस माड़ि।।

इस दोहे में बताई गई रीति से एक–एक वर्ण छोड़कर और एक–एक वर्ण ग्रहण कर 'गोमूत्रिका बंध' की शैली में इसमें कविवर भिखारीदास का नाम और उनका वंश परिचय प्राप्त होता है जैसे कवित्त के वर्णों को कृष्णांकित करके दिखाया गया है कि कवि का नाम भिखारीदास, जाति 'कायस्थ' एवं वर्ण 'बहिवार' है। भाई का नाम 'चैन लाल' कोत (गोत) कृपालदास है। नाती 'वीरभान' के पनामह (पितामह) रामदास, 'यखर' प्रदेश 'ट्यौंगा' नगर 'ताथला' ग्राम है आदि। अब इस कूट परिचय की खोज क्या किसी तिलिस्म तोड़ने से कम श्रमापेक्षी है ?"[1]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य की जीवन दृष्टि समष्टिमूलक थी। अतः हमारे मनीषी कवि लेखक आदि अपने बारे में लिखना अनुचित समझते थे। यहाँ तक कि कविता में अपना नाम देना भी उन्हें उचित नहीं लगता था। यही कारण है कि मध्यकाल में राजा–महाराजाओं, आश्रयदाता अथवा महापुरुषों–संतों के जीवन–चरित्र तो लिखे गए परंतु 'अर्धकथानक' (1641 ई.) के दो सौ चौंतीस वर्ष उपरांत 1875 ई. में लिखे गए महर्षि दयानंद सरस्वती कृत 'स्वकथित आत्मचरित' को छोड़कर कोई अन्य आत्मचरित हमें प्राप्त नहीं होता।

मध्यकाल में 'भक्तमाल', चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, मूल गोसाईं चरित आदि कवि परिचयात्मक रचनाएं अवश्य प्राप्त होती हैं। किंतु हिन्दी साहित्य प्रवाह में आत्मपरक रचनाएं नगण्य ही हैं जबकि उर्दू–फारसी में बहुत से कवियों ने 'मैं' की शैली अपनाई। मीर की आत्मकथा 'ज़िक्रे मीर' तो इस सम्बन्ध में मील का पत्थर है ही अन्य विभिन्न शायरों ने भी विभिन्न जीवनियाँ इत्यादि लिखे हैं। फिराक गोरखपुरी द्वारा लिखी गई पुस्तक 'उर्दू भाषा और साहित्य' में इस काल में लिखे गए बहुत से कवि परिचयात्मक ग्रंथों का वर्णन मिलता है। "फारसी में मीर हसन का लिखा हुआ 'तज़किशतुश्शुअरा' भी 'मीर' और मुसहफ़ी के तज़किरों की भाँति प्रसिद्ध हैं और अब तक उसका हवाला दिया जाता है। इसमें लगभग तीन सौ कवियों का वर्णन है।

---

1. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य – डॉ. विश्वबंधु व्यथित, पृ. 5

अनुमानतः यह 1778 ई. के आस–पास लिखा गया है।"[1] सआदत यार खाँ रंगीन ने 'मज़लिसे–रंगी' नामक रचना में अपने समकालीन कवियों की आलोचना लिखी। मिर्ज़ा मेहन्दी ने फ़ारसी के 'नादिरनामा' का उर्दू में 'तारीख़ेनादिरी' नाम से अनुवाद किया जिसमें नादिरशाह की जीवनी है। मिर्ज़ा काज़िम अली 'जवान' ने 'तारीख़े फरिश्ता' लिखी जिसमें बहमनी बादशाहों का इतिहास है। मौलाना शिबली नोमानी ने 'मौलाना रूम' की जीवनी 'सवानेह मौलाना रूम' तथा औरंग़ज़ेब की जीवनी "औरंग़ज़ेब आलमगीर' के नाम से लिखी। इसी प्रकार अब्दुल हलीम 'शरर' ने 21 जीवन चरित्र लिखे।

अतः हम देखते हैं कि हिन्दी में सन् 1641 ई. में बनारसीदास जैन की आत्मकथा 'अर्धकथानक' के बाद एक लंबा अंतराल दिखाई देता है जबकि इसी के समान्तर उर्दू–फारसी में मुग़ल काल से लेकर आधुनिक काल तक आत्मकथाएं लिखी एवं अनुदित होती रहीं। अतएव हिन्दी आत्मकथा लेखन की विकासयात्रा में बनारसीदास जैन की आत्मकथा प्रथम सीढ़ी है तथा उसका वर्णन किये बिना हिन्दी के आत्मकथा लेखन की विभिन्न मंज़िलों तक नहीं पहुँचा जा सकता।

आत्मकथात्मक लेखन का आरंभ : बनारसीदास जैन (अर्धकथानक 1641 ई.)

सन् 1641 में रचित बनारसीदास जैन की आत्मकथा 'अर्धकथानक' का महत्त्व न सिर्फ़ इसलिये है कि यह हिन्दी की आदि आत्मकथा है बल्कि इसलिये भी है कि आत्मकथा लेखन के उदाहरण में इतनी क्रमबद्ध तथा निर्भीक आत्मकथा आज भी आत्मकथा लेखकों के लिये एक चुनौती है।

बनारसीदास ने अपना परिचय देकर आत्मकथा लिखना आरंभ किया –

दोहरा – जिनि पहिरि जिन जनमपुर, नामि मुद्रिका छाप।
सो बनारसी निज कथा कहै आपसो आप।।[2]

---

1. उर्दू भाषा और साहित्य – फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 44
2. अर्धकथानक – बनारसीदास जैन, (संपादक – माताप्रसाद गुप्त), छन्द सं.–3.

बनारसीदास जैन अकबर के समय में हुए थे। यही समय तुलसीदास का भी था। सन्1586 ई. में इनका जन्म हुआ था तथा 1643 में निधन। मानव जीवन की पूर्ण आयु को कवि ने 110 वर्ष की मान कर स्वयं के 55 वर्षों का वृत्तांत अर्धकथानक के नाम से इसमें दिया है।

बरतमान नर आउ बखान। बरस एक सौ दस परवान।[1]

बनारसीदास जैन की यह आत्मकथा लंबे समय तक अप्राप्त रही बाद में श्री नाथूराम प्रेमी ने 1943 ई. में इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित करवाया। 1953 में माताप्रसाद गुप्त ने दूसरा संस्करण निकाला ! इस प्रकार यह अपने लिखे जाने के 300 वर्ष उपरांत प्रकाशित हो सकी।

सोलह सै अट्ठानवे संबत अगहन मास।
सोमवार तिथि पंचमी सुकल पक्ष परगास।।[2]

यह आत्मकथा संक्षिप्त तथा सारगर्भित है। इसमें अनावश्यक विस्तार नहीं है तथा तथ्यों की संक्षिप्त अभिव्यक्ति है। इसमें 75 पृष्ठ हैं तथा 675 दोहे – चौपाई हैं। इसमें भाषा ब्रजभाषा और खड़ी बोली का किंचित सम्मिश्रण है। खड़ी बोली के प्रारम्भिक स्वरूप को समझने में भाषा–शास्त्र की दृष्टि से भी इसकी भाषा का महत्व है। मित्र के रूप में पाठक को संबोधित कर कवि कहता है कि –

मध्य देस की बोली बोल। गर्भित कथा कहों हिय खोल।
भाषौं पूरब दसा चरित्र। सुनहु कान धरि मेरे मित्र।।[3]

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने अर्धकथानक की भूमिका में इस ग्रंथ की भाषा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – "रचना के आरंभ में ही लेखक उसकी भाषा के सम्बन्ध में कहता है कि वह 'मध्यदेश की बोली बोल' कर अपनी कथा कहेगा। यद्यपि मध्यदेश की सीमाएं बदलती रही हैं पर प्रायः सदैव ही खड़ी बोली और ब्रजभाषा प्रांतों को 'मध्यदेश' के अन्तर्गत माना

---

1. अर्धकथानक – बनारसीदास जैन, (संपादक – माताप्रसाद गुप्त), छन्द सं.–181
2. – वही – छन्द सं.–658
3. – वही – छन्द सं.–7

जाता रहा है और प्रकट है कि अर्धकथानक की भाषा में ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली का किंचित सम्मिश्रण है। इसलिये लेखक का भाषा विषयक कथन सर्वथा संगत जान पड़ता है।"[1]

इस कृति की भाषा का इसलिये भी महत्त्व है क्योंकि तत्कालीन साहित्य में ब्रज, अवधी की रचनाएं तो प्रचुरता से मिलती हैं किंतु इस प्रकार की सामान्य जन भाषा का साहित्य नहीं मिलता है, जबकि उस समय ब्रजभाषा में खड़ी बोली का आरंभिक सम्मिश्रण हो रहा था। अतः न केवल अपनी प्राचीनता के कारण बल्कि कथ्य में अपनी बेबाकी ओर भाषा में खड़ी बोली के निर्माण के स्वरूप की दृष्टि से भी 'अर्धकथानक' इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह समूची रचना पद्य में है किंतु इसमें आत्मकथात्मक तकनीकी गठाव का पूरा–पूरा पालन किया गया है। घटनाक्रम, एक सूत्रता, चरित्र–चित्रण, समय इत्यादि का बराबर ध्यान रखा गया है। साथ ही पठनीयता एवं रोचकता भी बराबर बनी रहती है। यह एक सफल कवि और असफल व्यापारी के जीवन का खुलासा है। साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व लिखी गई यह आत्मकथा अपने समय के समाज और साहित्य दोनों की प्रवृत्ति के विपरीत होते हुए भी लेखक के व्यक्तित्व का समग्रता से उद्‌घाटन करने में सफल रही है। अपना चारित्रिक विश्लेषण जिस तटस्थ भाव से लेखक ने किया है वह सामाजिक दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी दुस्साहसपूर्ण कार्य है।

14 वर्ष की आयु में ही बनारसी दास का विवाह हो गया था। इतनी छोटी आयु में ही उन्होंने, ज्योतिष काव्यशास्त्र, साहित्य इत्यादि के अलावा, कोकशास्त्र भी पढ़ डाला था जिससे उन्हें ग़लत आदतें पड़ गई थीं। बड़ी स्पष्टता के साथ उन्होंने अपनी भूलों का वर्णन किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी लिखा है – "जैन कवि बनारसी दास जैन ने अपने आत्मचरित में संवत 1660 के आसपास की अपनी इश्क़बाज़ी वाली जीवन चर्या का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उस समय मैं हाट बाजार में जाना छोड़ घर में

---

1. अर्धकथानक – बनारसीदास जैन, (संपादक – माताप्रसाद गुप्त), भूमिका पृ. 14

पड़े–पड़े 'मृगावती' और 'मधुमालती' नाम की पोथियाँ पढ़ा करता था –

तब घर में बैठे रहै, नाहिंन हाट बजार।
मधुमालती, मृगावती पोथी दोय उचार।।"[1]

एक बार इनके पिता खड़गसेन यात्रा पर चले गए थे तब इनकी निरंकुशता और बढ़ गई थी। एक किशोर वय लड़के का पिता की अनुपस्थिति में घर में कलह करने का इन्होंने बड़ा सटीक वर्णन किया है –

खरगसेन यात्रा को गए बनारसी निरंकुश भए।
करै कलह माता सो नित्त ! पारस जिनकी जात निमित्त।।[2]

जीवन के वार्धक्य में अपनी भूलों पर लज्जित होना विशिष्टता नहीं है। विशिष्टता गुण–दोष के विश्लेषण में है तथा इस बात में है कि जब भारत में कोई आत्मकथा लिखने के विषय में कोई परम्परा अथवा अन्य कोई उदाहरण भी नहीं था तब उत्तर भारत के एक व्यापारी कवि ने अपना आत्मचरित लिखा । लेखक ने गुण–दोष वर्णन को ही आत्मकथा लेखन का कारण बनाया है तथा इसी के विश्लेषण के आधार पर तीन प्रकार की कसौटियाँ निर्धारित की हैं। लेखक ने स्वयं को मध्यम कोटि का प्रमाणित किया है –

जै परदोष छिपाई कै, परगुन कहे विशेष।
गुन तजि निज दूषन कहैं, ते नर उत्तम भेष।।

जे भाखहिं पर–दोष–गुन, अरू गुन दोज़ सुकीउ।
कहहिं सहज ते जगत मैं, हमसे मध्यम जीउ।।

जे परदोष कहै सदा, गुन गोपहिं उर बीच।
दोष लोपि निज गुन कहै, ते नर जग में नीच।।[3]

'हम से मध्यम जीउ' कह कर अपनी मानवीय कमजोरियों व शक्ति को स्वीकार करता है। वह एक मध्यवर्ग का व्यापारी है तथा उन सभी गुण–दोषों से युक्त है जो तत्कालीन समाज में एक आम घर के लड़के में हो सकते थे। अपने जीवन के बनने,

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 69
2. अर्धकथानक – बनारसीदास जैन, (संपादक – माताप्रसाद गुप्त), छन्द सं.–532
3. – वही – छन्द सं. 667–669

बिगड़ने चारित्रिक उठाव, गिराव का सुन्दर विश्लेषण बनारसीदास जी ने किया है। साथ ही स्वयं के जीवन की घटनाओं के साथ स्वाभाविक रूप से समसामयिक राजनैतिक, सामाजिक परिदृश्य जैसे प्रजा पर राजा के अत्याचार, जनता में आतंक तथा डर, बेगार, लगान, कोड़ा शाही जैसे अमानवीय कार्य इनकी रचना में तत्कालीन सामंतशाही के जीवंत प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। यह आत्मकथा मध्यकालीन उत्तरी भारत की सामाजिक अवस्था का परिचय देती है।

"विपदा उदै भई इस बीच, पुर हाकिम नौबाब कलीच।[1]

राजा द्वारा धनिकों से धन की मांग करने का वर्णन इतना सजीव है जैसे आँखों देखा हाल सुन रहे हो –

तिन पकरे सब जौहरी, दिये कोठरी मांहि।
बड़ी वस्तु मांगे कछू सो तो इन पै नांहि।।
एक दिवस तिनकौ पकरि कियो हुकुम उठि भोर।
बांधि–बांधि सब जौहरी ठाड़े किये ज्यों चोर।।[2]

व्यापारी की आत्मकथा होने के कारण व्यापारियों की स्थिति, व्यापार की स्थिति, पारिवारिक संबंध, रीति–रिवाज, वेष–भूषा, खान–पान, बोली, जीवन मूल्य इत्यादि का भी सहज एवं स्वाभाविक चित्रण लेखक के स्वयं के चित्रण के साथ ही आ गया है। डॉ. माता प्रसाद गुप्त इसी दृष्टि से रचना का अवलोकन करते हुए इसे तत्कालीन समाज का दर्पण मानते हुए कहते हैं – "वह मध्यकालीन उत्तरी भारत की सामाजिक अवस्था तथा धनी और निर्धन प्रजा के सुख–दुख का यथार्थ परिचय देती है। बादशाहों की लिखी दिनचर्याओं और मुसलमान इतिहास लेखकों द्वारा लिखित तत्कालीन तारीखों से हमें शासन और युद्ध सम्बन्धी घटनाओं की अटूट श्रृंखलाएं भले ही मिल जाए किंतु इतिहास के उस स्वर्णयुग में राजधानियों से दूर हिंदू जनता – विशेष करके उसके धनी और व्यापारी वर्ग को अहर्निश कितनी यातनाएं भोगनी पड़ती थीं इसका अनुमान उन दिनचर्याओं और तारीखों से नहीं किया जा सकता। उसके लिये हमें 'अर्धकथा' जैसी

---

1. अर्धकथानक – बनारसीदास जैन, (संपादक – माताप्रसाद गुप्त), छन्द सं.–109
2. – वही – छन्द सं. 110–111

रचनाओं का ही आश्रय लेना पड़ेगा। जिस दिन अर्धकथानक की भाँति कुछ अन्य रचनाएं भी प्रकाश में आएंगी, मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कुछ पृष्ठ निश्चय ही फिर से लिखने पड़ेंगे।"[1]

बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने 'अर्धकथानक' का ऐतिहासिक महत्त्व बताते हुए लिखा है – "हिन्दी के अधिकांश पाठकों को और शायद अनेक लेखकों को भी इस बात का पता न होगा कि जहाँ तक आत्मचरित लिखने की प्रथा का सम्बन्ध है आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी का नम्बर सबसे अव्वल आता है। कविवर बनारसीदास जैन का 'अर्धकथानक' आज से तीन सौ सत्रह वर्ष पूर्व सन् सोलह सौ एकतालीस में लिखा गया था। इससे अधिक पुराना आत्मचरित मराठी, बंग्ला, गुजराती इत्यादि में मिलना संभव नहीं है। स्वयं रूसो का आत्मचरित जो उनकी स्पष्टवादिता के लिये प्रसिद्ध है इस ग्रंथ के कितने ही बाद लिखा गया था।"[2]

भाषा की दृष्टि से भी 'अर्धकथानक' महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसकी भाषा खड़ी बोली की निर्माणावस्था को दर्शाती है। उर्दू फारसी के अनेक शब्द परवान, हाकिम, हुकुम, फरमान, गरीब, दीवान, माफी आदि भाषा के मिश्रित स्वरूप के परिचायक हैं। भाषा में सरलता, निश्छलता तथा मितव्ययता है। अनावश्यक ज्ञान अथवा पाण्डित्य का प्रदर्शन करने की कोई चेष्टा इसमें नहीं की गई है। पूरी आत्मकथा पढ़ते हुए यही प्रतीत होता है मानो लेखक के मुँह से आँखों देखा हाल सुन रहे हों। संक्षिप्तता सघनता तथा सहज प्रेषणीयता की शैली के कारण कहीं भी रचना बोझिल नहीं हो पाई है। अतः भाषा, शैली, तथ्यों की प्रमाणिकता सभी के कारण यह आत्मकथा न केवल अपनी प्राचीनता के कारण बल्कि आत्मकथा लेखन की कसौटी पर भी खरी उतरती है। यद्यपि 1641 ई. के समय में साहित्य समष्टि और समवेत से जुड़ा था कोई भी व्यक्ति अपने अनुभव स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में अभिव्यक्त नहीं करता था। विशेषतः साहित्य का सम्बन्ध धर्म, नैतिकता, समाज सुधार से जुड़ा था। ऐसी स्थिति में बनारसीदास जैन जी का निर्लिप्त

---

1. अर्धकथानक – बनारसीदास जैन, (संपादक – माताप्रसाद गुप्त), पृ. सं.–15
2. हिन्दी आत्मकथाएं सिद्धांत एवं स्वरूप विश्लेषण – डॉ. विनीता अग्रवाल, पृ. 33

एवं निर्भीक भाव से व्यक्तित्व विश्लेषण करना न केवल तब बल्कि आज भी दुस्साहस पूर्ण कार्य है। यह आश्चर्य का विषय है कि तकनीकी रूप से सुगठित व तात्विक रूप से परिपूर्ण यह आत्मकथा लेखक ने उस समय लिखी जबकि पूर्ववर्ती साहित्य में उसके सम्मुख इस विधा का कोई उदाहरण नहीं था। खेद का विषय है कि तीन सौ वर्षों तक यह कृति प्रकाशित न हो सकी अन्यथा निश्चय ही हिन्दी की यह आदि आत्मकथा तभी से आत्मकथा लेखन की एक परम्परा अवश्य डाल देती।

सन् 1641 ई. बनारसीदास जैन की आत्मकथा 'अर्धकथानक' लिखने के उपरांत अगर आत्मकथाएं लिखी भी गई होंगी तो वे इतिहास की विशाल दीर्घा में लुप्त हो गई हैं जिनका अवशेष तो क्या उल्लेख भी प्राप्त नहीं है। अतः हिन्दी की आत्मकथाओं के विकासक्रम में हम 1875 ई. में आई महर्षि दयानंद सरस्वती की आत्मकथा को ही हिन्दी की द्वितीय आत्मकथा का दर्ज़ा देते हैं। किंतु सर्वप्रथम प्रकाशित आत्मकथा होने का श्रेय भी इसी आत्मचरित को जाता है। इसके दो रूप हैं एक आत्मकथित जीवनी तथा एक आत्मलिखित जीवनी। बम्बई में आर्य समाज की स्थापना के बाद 1675 ई. में पूना में जनता के अनुरोध पर स्वामी जी ने अपना जीवनवृत्त सुनाया था जोकि तत्काल हिन्दी व मराठी में प्रकाशित हुआ था। यह भाषण ही 'पूना प्रवचन' अर्थात 'उपदेश मंजरी' के नाम से जाना जाता है। बाद में थियोसोफिस्ट समाचारपत्र हेतु 1879 ई. में स्वामी जी ने 'कुछ दिनचर्या' नाम से अपना जीवनवृत्त लिखा। जो कि लिखा तो खड़ी बोली गद्य में था किंतु उसी वर्ष 1879 ई. में ही उसका अंग्रेज़ी अनुवाद थियोसोफिस्ट में क़िस्तों में छपा। अफसोस का विषय यह है कि 'स्वकथित जीवनी' समयाभाव के कारण पूरी नहीं हो सकी थी तथा दूसरा स्वलिखित 'आत्मचरित' अकाल मृत्यु ने पूरा नहीं होने दिया। 'स्वकथित आत्मचरित' में स्वामी जी ने अपने जन्म, बचपन, शिक्षा–दीक्षा, शिवरात्रि की महत्त्वपूर्ण घटना, विवाह की तैयारियाँ होती देख कर गृह त्याग इत्यादि का विवरण दिया है। इसमें इन्होंने सच्चे शिव की खोज में अपना दर–दर भटकना, योगसाधना, आत्मज्ञान, आध्यात्मज्ञान की प्राप्ति तथा फिर जगह–जगह शैव मत प्रचार हेतु भ्रमण का वर्णन किया है। अंत में स्वामी जी शैव मत से भी विरक्त हो गए तथा उन्होंने मौनी साधु का वेश बना

लिया। डॉ. विश्व बंधु व्यथित ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी का आत्मकथा साहित्य' मे पूना प्रवचन की इस घटना का विवरण इस प्रकार दिया है – "1868 ई. में हरिद्वार में स्वामी जी ने एक भागवत मतावलम्बी के ललकारने पर मौन तोड़ कर पुराणों का खण्डन आरंभ किया। तभी उनके मन में यह भाव आया कि ईश्वर की कृपा से जो थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह सब लोगों पर प्रकट करना चाहिये। कथानायक ने तब पूरे सात वर्ष तक फर्रुखाबाद, रामगढ़, आनंदपुर, रामनगर, काशी, कलकत्ता, लखनऊ, प्रयाग, कानपुर व जबलपुर आदि नगरों में वैदिक धर्म का प्रचार तथा अवैदिक धर्म का खण्डन करते हुए 1875 ई. में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की इसके कुछ मास पश्चात् पूना पहुँच कर यह उपदेशमाला प्रचारित की। उनका कथन है – "गत वर्ष बम्बई आया मैंने यहाँ गुसाईं महाराज के चरित्रों की बहुत कुछ छानबीन की। बम्बई में आर्य समाज स्थापित हो गया। बम्बई, अहमदाबाद, राजकोट आदि प्रान्तों में कुछ दिन धर्मोपदेश किया, अब तुम्हारे इस नगर में दो महीनों से आया हूँ।" इन शब्दों के साथ ही 'पूना–प्रवचन' का स्वकथित आत्मवृत्तांत पूर्ण हो जाता है।"[1]

स्वलिखित आत्मचरित जोकि थियोसोफिस्ट में छपा स्वामी जी के निर्भीक, सत्यान्वेषी, निडर एवं दृढ़ इच्छा शक्ति वाले व्यक्तित्व का पता देता है। इसी में उन्होंने वह जगत् प्रसिद्ध घटना भी वर्णित की है जिसमें यह वर्णन है कि नदी के किनारे बैठ कर योग–साधना से सम्बन्धित साहित्य पढ़ रहे थे जिसमें षट्चक्रों, कुण्डलिनी इत्यादि का वर्णन किया गया था। उसी समय उन्हें नदी में एक शव तैरता हुआ दिखाई पड़ गया बस फिर क्या था तत्काल उस शव की उन्होंने चीरफाड़ परीक्षा कर डाली व उन समस्त चक्रों को शरीर में न पाकर उनके क्रोध की सीमा न रही तथा तत्काल वह सभी साहित्य उन्होंने शव के साथ ही नदी में प्रवाहित कर दिया। इस घटना को पढ़ने से स्वामी के पुरातनपंथी न होने तथा स्वयं सत्यान्वेषण कर परखने का स्वभाव पता चलता है। घटना वर्णन की प्रधानता होने के कारण ही यह आत्मचरित आत्मविश्लेषण से युक्त है। "पूजा प्रवचन में कथित और थियोसाफिस्ट हेतु लिखित मूल प्रतियों की भाषा, सरल, सुललित,

---

1. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य – डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, पृ 189

चित्रात्मक, वर्णनात्मक, परिष्कृत तथा प्रांजल खड़ी बोली है। यथार्थ वर्णन, आत्मकेंद्रित स्वरूप, आत्मविश्लेषण की रुचि, सत्य प्रतिपादन एवं स्मृति सम्पादन की कुशलता के कारण कथ्य और शिल्प के आधार पर इस आत्मकथा को स्तरीय आत्मकथा कहा जा सकता है। समयाभाव से प्रथम कृति का संक्षिप्त और द्वितीय का अपूर्ण रह जाना अवश्य असंतुष्टिप्रद है। निश्चित है कि यदि थियोसाफिस्ट की क़िस्तों वाला क्रम पूर्ण हो पाता तो यह आत्मकथा सर्वश्रेष्ठ आत्मकथाओं की पंक्ति में खड़ी होती।"[1]

इस प्रकार आदिकाल से लेकर आधुनिककाल के आगमन तक हिन्दी में मात्र दो आत्मकथाएं प्राप्त होती हैं जबकि हिन्दीतर भाषाओं में प्राप्त आत्मकथाओं को मिला लें तब भी यह संख्या मात्र 5 हो पाती है –

	लेखक	पुस्तक	वर्ष	भाषा
1.	बाबर	तुजुकेबाबरी	1519 ई.	तुर्की
2.	बनारसीदास जैन	अर्धकथानक	1641 ई.	हिन्दी ब्रजभाषा (पद्य)
3.	गुरू गोविन्द सिंह	विचित्र नाटक	1698 ई.	गुरूमुखी (पद्य)
4.	मीर तकी मीर	ज़िक्रे–मीर	1783 ई.	फारसी
5.	(क) स्वामी दयानंद	पूना प्रवचन	1875 ई.	हिन्दी (गद्य)
	(ख) स्वामी दयानंद	कुछ दिनचर्या	1879 ई.	हिन्दी खड़ी बोली (गद्य)

इन पाँच आत्मकथाओं के उपरांत भारतेंदु युग में आत्मकथा विधा पर पुनः दृष्टि डाली गई तथा इस युग में इसका विकास आरंभ हुआ।

भारतेंदु युग तथा द्विवेदी युग में आत्मकथा

भारतीय साहित्य में गद्य के विकास में भारतेंदु के अवदान को सभी इतिहासकारों ने एकमत से स्वीकार किया है तथा इनके योगदान के आधार पर इनके युग को 'भारतेन्दु–युग' के नाम से भी जाना जाता है। आचार्य शुक्ल ने इन्हें वर्तमान हिन्दी गद्य का प्रवर्तक माना है। "भारतेन्दु का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और

---

1. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य – डॉ. विश्वबंधु शास्त्री, पृ 189–190

स्वच्छ रूप दिया उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रर्वतक माने गये।"[1]

आचार्य नगेन्द्र ने उन्हें नवयुग का अग्रदूत बताते हुए अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है – "कविता के क्षेत्र में वे नवयुग के अग्रदूत थे। अपनी ओजस्विता, सरलता, भावमर्मज्ञता और प्रभविष्णुता में उनका काव्य इतना प्राणवान है कि उस युग का शायद ही कोई कवि उनसे अप्रभावित रहा हो।"[2]

हिन्दी गद्य के विकास में भाषा परिमार्जन के साथ ही भारतेन्दु का सबसे बड़ा योगदान गद्य की विविध विधाओं को हिन्दी में आरम्भ करने का है। उन्होंने न केवल स्वयं गद्य की विभिन्न विधाओं में रचना की, अपितु लेखकों तथा कवियों का एक खासा मण्डल भी तैयार किया। बच्चन सिंह ने 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' नामक अपने ग्रंथ में इनके इस योगदान का वर्णन करते हुए लिखा है कि – "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी गद्य के जनक माने जाते हैं। उन्होंने हिन्दी गद्य को अनेक रूपों – निबंध, नाटक, इतिहास, आत्मकथा, उपन्यास, यात्रा वर्णन आदि में ढाला। इसके पूर्व इन विधाओं का आविर्भाव नहीं हो पाया था।"[3]

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के अन्य गद्य रूपों की भांति आत्मकथा लेखन को भी भारतेन्दु युग में विकसित होने का अवसर मिला। आत्मकथा की विकास यात्रा में भारतेन्दु युग का यह चरण एक तरह से आत्मकथा विधा का पुनर्जन्म कहा जा सकता है यद्यपि स्वयं भारतेंदु द्वारा लिखी गई उनकी आत्मकथा 'कुछ आपबीती कुछ जग बीती' दो पृष्ठों से आगे न बढ़ सकी और भारतेन्दु के जीवन का कोई विशिष्ट पक्ष इस लेख से उभर कर सामने भी नहीं आया। किन्तु मात्र दो पृष्ठों में लिखा यह अपूर्ण लेख भी आत्मकथा लेखन के भविष्य के लिए एक पुष्ट बीज अवश्य बन गया। इसके बाद हिन्दी में

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ 429
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य नगेन्द्र, पृ 462
1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – बच्चन सिंह, पृ 314

आत्मकथा लेखन की अटूट परम्परा चल पड़ी। भारतेन्दु मण्डल के अनेक लेखकों ने अपना जीवन वृत्तांत लिखा। अम्बिकादत्त व्यास (निज वृत्तांत, 1901) सत्यानन्द अग्निहोत्री (मुझ में दैव जीवन का विकास, 1909), भाई परमानन्द (काले पानी की कारावास कहानी अर्थात भाई परमानंद की आपबीती, 1921), भगवान दयाल संन्यासी (भारतीय देशभक्तों की कारावास कहानी, 1921) , स्वामी श्रद्धानन्द (कल्याण मार्ग का पथिक, 1924), लाला लाजपत राय (लला लाजपतराय की सचित्र आत्मकथा, 1924), आचार्य रामदेव (मेरे जीवन के कुछ पृष्ठ, 1926), प्रसिद्ध क्रांतिकारी रामप्रसाद बिस्मिल (आत्मकथा, 1927), आदि की आत्मकथाएं इसी युग में आयीं। इसी दौरान राधाचरण गोस्वामी (राधाचरण गोस्वामी का जीवन चरित, 1905), बालमुकुन्द गुप्त (आत्मकथात्मक निबंध, 1913), जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (पद्यों में जीवन, 1914), श्रीधर पाठक (स्वजीवनी, 1927) इलाचन्द जोशी (मेरे जीवन की प्राथमिक स्मृतियाँ, 1929, सुधा पत्रिका, फरवरी–जुलाई) आदि की लघु अथवा खण्ड आत्मकथाएं भी प्रकाशित हुईं।

यद्यपि यह सही है कि इन आत्मकथाओं में से अधिकांशतः संक्षिप्त आत्मवृत्तांत मात्र हैं तथा इन्हें आत्मकथा नहीं कहा जा सकता। किन्तु हमें यह भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इन सभी आरम्भिक आत्मकथाओं के लघुप्रयत्नों को भी महत्त्वहीन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि साहित्य में यह एक ऐसा पड़ाव था जहां स्व की अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया जाने लगा था।

इस प्रकार दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा के बाद से 1929 तक अर्धशताब्दी का यह काल आत्मकथा के उद्‌भव एवं प्रवर्तन की दृष्टि से अत्यन्त सहायक रहा इसके बाद साहित्य की विविध विधाओं के द्वारा भाषा के शब्द–भण्डार व उसकी अभिव्यंजनात्मक शक्ति का जो विकास कार्य भारतेन्दु युग में आरम्भ हुआ था वह द्विवेदी–युग में और भी आगे बढ़ा। यह काल द्विवेदी जी के नाम पर ही 'द्विवेदी–युग' के नाम से जाना जाता है। द्विवेदी जी साहित्यकार होने से अधिक साहित्यकारों के निर्माता माने जाते हैं। उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी की गद्य विधाओं को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। सरस्वती पत्रिका के माध्यम से हिन्दी कहानी का सर्वांगीण विकास तो इस काल में हुआ ही साथ ही नाटक, एकांकी, उपन्यास, जीवनी व आत्मकथा साहित्य का उन्नयन भी इस काल में हुआ।

आचार्य नगेन्द्र ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास में वर्णन किया है कि – "जिस प्रकार भारतेन्दु–युग में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जीवनी लेखन के क्षेत्र में अपने समकालीन लेखकों का मार्गदर्शन किया था उसी भांति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी इस गद्य विधा में यथा सम्भव रुचि ली। उनके द्वारा रचित जीवनियां प्राचीन पंडित और कवि (1918), सुकवि संकीर्तन (1924), चरित चर्चा (1929) आदि ग्रंथों में संकलित हैं।"[1]

डॉ. भगवानशरण भारद्वाज ने अपनी पुस्तक हिन्दी जीवनी साहित्य सिद्धांत और अध्ययन' में द्विवेदी जी के जीवनी और आत्मकथा साहित्य में योगदान पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – "द्विवेदी जी जीवनी और आत्मकथा साहित्य के महत्त्व से भलीभांति परिचित थे उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी लेखनी का सक्रिय योगदान दिया था। 'सुकवि संकीर्तन' तथा 'प्राचीन पंडित और कवि' नामक पुस्तकों में प्राचीन और नवीन साहित्यकारों के सम्बन्ध में जीवन चरित्रात्मक निबंध लिखकर उन्होंने एक आवश्यकता की पूर्ति की थी।"[2]

आत्मकथा से अधिक इस समय में जीवनियाँ लिखी गईं।

इस प्रकार हिन्दी आत्मकथा साहित्य के इतिहास में यह एक विस्मयकारी तथ्य है कि जहां बनारसीदास जैन की आत्मकथा 'अर्धकथानक' (1641) से लेकर दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा (1875) तक तीन शताब्दियों में आत्मकथा विधा का इतना संवर्धन नहीं हुआ वहीं सन् 1900 से लेकर 1930 तक तीस वर्षों में बहुत सी आत्मकथाएं हिन्दी साहित्य में लिखी गयीं तथा दूसरी भाषा से अनूदित हुईं।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ. नगेन्द्र, पृ 520
2. हिन्दी जीवनी साहितय सिद्धांत ओर अध्ययन – डॉ. भगवान शरण भारद्वाज, पृ. 130

छायावाद युग में आत्मकथा लेखन

छायावाद काल यद्यपि 1918 ई. से ही आरम्भ हो गया था। किन्तु जीवनी तथा आत्मकथा साहित्य के सन्दर्भ में छायावाद के आरंम्भिक वर्षों में कुछ विशेष रचनाएं दृष्टिगत नहीं होती हैं। बहुत से विद्वानों ने आत्मकथा के विकास क्रम में इस युग को प्रेमचंद युग भी कहा है। छायावाद संज्ञा मुख्यतः कविता साहित्य को ही दी गयी है जिसके चार स्तम्भ माने गए – प्रसाद, निराला, महादेवी तथा पंत। इन चारों स्तम्भों तथा छायावादी काव्य लिखने वाले अन्य साहित्यकारों का आत्मकथा लेखन में कोई योगदान नहीं रहा। पंत ने अवश्य बाद में 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' नामक श्रृंखलित आत्मकथा लिखी। जबकि इसी दौरान 1932 में प्रेमचंद ने 'हंस' का एक विशेषांक 'आत्मकथांक' अवश्य निकालकर आत्मकथा विधा को विशेष प्रोत्साहन देने की कोशिश की। अतः इस युग को आत्मकथा लेखन के सदर्भ में 'प्रेमचंद–युग' कहना अनुचित नहीं है। इस विशेषांक के शीर्षक से ही स्पष्ट होता है कि इसका उद्देश्य आत्मकथा लेखन की प्रवृत्ति तथा विकास पर बल देना था। हिन्दी आत्मकथा साहित्य के विकास में इस अकेले प्रकाशित अंक के विशिष्ट सहयोग को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है। न तो इससे पूर्व किसी अन्य पत्र पत्रिका ने आत्मकथा से सम्बन्धित इतनी सामग्री (एक अंक में या अनेक अंकों में भी) प्रकाशित की थी, न ही इसके बाद किसी अन्य पत्र–पत्रिका ने आत्मकथा विधा पर इस प्रकार का विशेषांक निकाला।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद के इस आत्मकथा विशेषांक के समीक्षक नंददुलारे वाजपेयी ने आत्मकथा विधा को आत्मविज्ञापन कहकर भारी विरोध किया था तथा इसे साहित्य रूपों से ख़ारिज करने की मांग की थी। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने भी माधुरी नामक पत्रिका में उनका विरोध किया था। प्रेमचंद ने 'हंस' के 'आत्मकथांक' अंक में 50 से ऊपर रचनाएं छापी थीं। यह जनवरी–फरवरी 1932 का संयुक्त अंक था। यद्यपि इसी अंक में जयशंकर प्रसाद की 'आत्मकथा' नामक यह कविता भी छपी थी –

"छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएं आज कहूँ।
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ।।"

स्पष्ट है कि इस कविता में अपने बारे में कहने तथा चुप रहने पर द्वन्द है। इस अंक में प्रकाशित अन्य रचनाएं भी वस्तुतः आत्मकथा न होकर संस्मरण या आत्मकथ्य मात्र हैं। किन्तु आत्मकथा विधा की विकास यात्रा में प्रेमचंद का यह प्रयास निश्चय ही महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। हिन्दी में आत्मकथा लेखन को आन्दोलन के रूप में विकसित करने का पूर्ण श्रेय हंस के इसी अंक को जाता है। इस विशेषांक के द्वारा प्रेमचंद ने अनेक लेखक–लेखिकाओं की झिझक तोड़ने का कार्य किया था। इनमें ठाकुर दत्त शर्मा, हरिदास, यशोदा देवी, मौलवी महेश प्रसाद, धनीराम, प्रेम, जैनेन्द्र, धीरेन्द्र वर्मा, गोपाल दास गहमरी, राधेश्याम कथावाचक, गयाप्रसाद कौशिक, सुदर्शन और जगन्नाथ के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके कुछ समय बाद 1939 ई. मैं देवदत्त शास्त्री ने एक संग्रह निकाला – 'साहित्यकारों की आत्मकथा, जिसमें उन्होंने बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, कृष्णदत्त पालीवाल, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद सहित पांच लेखकों की आत्मकथाएं छापीं। जगन्नाथ खन्ना तथा श्यामसुन्दर दास की वृहत आत्मकथाएं भी क्रमशः हंस और सरस्वती में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई।

हंस के आत्मकथांक के पश्चात् बहुत सी लघु आत्मकथाएं और प्रकाशित हुईं।

1941 में श्यामसुन्दरदास द्वारा लिखित 'मेरी आत्मकहानी' का प्रकाशन इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग द्वारा किया गया। इससे पूर्व यह आत्मकथा सरस्वती पत्रिका में धारावाहिक रूप में छप भी चुकी थी। इसके बाद 1942 में बाबू गुलाबराय की विश्रृंखलित आत्मकथा 'मेरी असफलताएं' साहित्य रत्नभण्डार, आगरा से प्रकाशित हुई। 1943 में श्री नाथूराम 'प्रेमी' के प्रयत्नों से बनारसीदास जैन की 1641 ई. में लिखी गई आत्मकथा 'अर्धकथानक' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। 1943 में ही स्वामी सत्यभक्त की आत्मकथा 'जीवन–सूत्र' सत्याश्रम वर्धा से प्रकाशित हुई। 1944 ई. में मूलचंद अग्रवाल की 'एक पत्रकार की आत्मकथा' प्रकाशित हुई। महात्मा गांधी के शिष्य तथा उनकी आत्मकथा के अनुवादक हरिभाऊ उपाध्याय की आत्मकथा 'साधना के पथ पर' 1946 में प्रकाशित हुई। इसी वर्ष महापंडित राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन–यात्रा' का प्रथम भाग राजकमल प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसका द्वितीय भाग 1944 में तथा तृतीय, चतुर्थ व पंचम खण्ड लेखक की मृत्यु के उपरांत 1967 में प्रकाशित हुए।

1947 में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की विशालकाय आत्मकथा सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली से प्रकाशित हुई। इसी वर्ष भवानीदयाल संन्यासी की 'प्रवासी की आत्मकथा' भी प्रकाशित हुई इसी समय में एक महत्त्वपूर्ण कार्य अन्य भाषाओं की आत्मकथाओं का हिन्दी में अनुवाद हुआ। इनमें पंडित जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा 'माई स्टोरी' का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद हरिभाऊ उपाध्याय ने किया। शचीन सन्याल, मुंशी लुत्फुल्ला स्वामी विवेकानंद, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, कृष्णाहठी सिंह आदि की आत्मकथाओं के अनुवाद भी हिन्दी में आए। साथ ही कुछ विदेशी आत्मकथाकारों यथा टालस्टाय, हिटलर, एफ.आर. वेस्ट आदि चुनिंदा विदेशी लेखकों की कृतियों से भी हिन्दी का परिचय हुआ। इसके बाद तो आत्मकथा लिखने के क्षेत्र में मानों बाढ़ ही आ गयी।

'छायावाद' पुस्तक में नामवर सिंह ने लिखा है – "इतने बड़े पैमाने पर इस देश में आत्मकथाएं पहले शायद ही कभी लिखी गई हों। ये आत्मकथाएं इस युग के प्रचलित वैयक्तिक आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा की द्योतक हैं। ये बतलाती हैं कि व्यक्ति अपने में अभिव्यक्त करने को कितना आकुल था। वह अपने भावों और विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता चाहता था। उसकी इस आकांक्षा में स्वाधीनता की कामना थी और अभिव्यंजना में साहस। हर देश में 'रोमेटिसिज़्म' का अभ्युदय प्रायः इसी आकांक्षा के साथ हुआ है।"[1]

स्वातन्त्र्योत्तर युग में आत्मकथा लेखन

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी के आत्मकथा साहित्य का इतना विकास और विस्तार हुआ कि इससे पूर्व का अर्थात् 1641 से 1947 तक का संपूर्ण आत्मकथा साहित्य उसकी तुलना में छोटा पड़ जाता है। न केवल मात्रात्मक रूप से अधिक बल्कि कला, चिंतन और आत्मविवेचन के स्तर पर भी बेहतर आत्मकथाएं इस काल में आनी शुरू हुईं। इससे पूर्व सत्य, विनम्रता, आत्मदोष इत्यादि गुण आत्मकथा लेखन के मुख्य बिंदु थे किंतु अब कथ्य और शिल्प की दृष्टि से भी तथा संवेदना की अभिव्यक्ति में भी उत्कृष्ट रचनाएं प्रकाशित हुई। अहं की भावना आधुनिक युग की देन थी तथा इसके बेहतर परिणाम आत्मकथा

---

1. नामवर सिंह – छायावाद, पृ. 22

लेखन में देखने को मिले। जिन लेखकों को आत्मकथा लिखने में संकोच था उन्होंने आत्मकथात्मक उपन्यास लिखे। संस्मरण तथा रेखाचित्र भी बहुतायत में लिखे जाने लगे तथा इस प्रकार साहित्य की मार्मिक तथा आत्मपरक विधाएं विकसित हुईं। अतीत के गौरव का गान करने वाले महाकाव्य तथा भारतीय संस्कृति का उद्‌घोष करने वाले नाटक की जगह लेखक मनुष्य को केन्द्र बना कर लिखने लगे तथा समाज–सुधार, देश–प्रेम इत्यादि बहिर्मुखी विषयों की जगह व्यक्तिनिष्ट उपन्यास, जीवनी तथा आत्मकथा का प्रणयन होने लगा। डॉ. नगेन्द्र ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास में इस कालखण्ड में आत्मकथा विधा के बारे में लिखा है कि – "साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों ने अपनी आत्मकथाएं लिखकर इस विधा को समृद्ध किया। आधुनिक काल के पहले तीन कालखण्डों की तुलना में इस कालखण्ड में साहित्यकारों की आत्मकथाएं अधिक संख्या में प्रकाशित हुईं। कवियों, कथाकारों, आलोचकों सभी ने अपनी आत्मकथाएं लिखी। ... इस कालखण्ड में राजनीतिक, सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले अनेक व्यक्तियों की भी आत्मकथाएं प्रकाशित हुईं। ... आलोच्य युग में हिन्दी के आत्मकथा साहित्य को पत्रकारों, अध्यापकों, वकीलों, फिल्मी कलाकारों, पुलिस कर्मचारियों आदि ने भी समृद्ध किया।"[1]

साथ ही न केवल हिंदी भाषा में आत्मकथाएं प्रकाशित हुईं बल्कि दूसरी भाषाओं से भी उत्कृष्ट कृतियाँ अनुदित हुईं। हिन्दी की मौलिक आत्मकथाओं की सूची ही इस साहित्य की विपुलता का परिचय देती है।

	आत्मकथा	आत्मकथाकार	वर्ष
1	आत्मकथा	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	1947
2	मेरी जीवन कहानी	श्री गणेश नारायण सोमानी	1948
3	मेरा जीवन प्रवाह	श्री वियोगी हरि	1948
4	जीवन गाथा	श्री क्षुल्लक गणेश प्रसाद वर्मा	1949
5	मेरी जीवन यात्रा	श्री राहुल सांकृत्यायन	1949
6	उलझी स्मृतियां	श्री विनोद शंकर व्यास	1950

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ. नगेन्द्र, पृ 712

7	भूली–भागती यादें	श्री कमला प्रसाद वर्मा	1951
8	स्वतंत्रता की खोज	श्री सत्यदेव परिव्राजक	1951
9	क्रांतिकारी की आत्मकथा	श्री मन्मथनाथ गुप्त	1951
10	सिंहावलोकन, भाग–1	श्री यशपाल	1951
11	अज्ञात जीवन	श्री अजात प्रसाद जैन	1952
12	परिव्राजक की प्रजा	श्री शांतिप्रिय द्विवेदी	1952
13	सिंहावलोकन, भाग–2	श्री यशपाल	1952
14	चांद–सूरज के बीरन	श्री देवेन्द्र सत्यार्थी	1953
15	साहित्यिक जीवन के अनुभव	श्री किशोरी दास वाजपेयी	1953
16	मुद्रिस की रामकहानी	श्री कालीदास कपूर	1953
17	जीवन चक्र	श्री गंगा प्रसाद उपाध्याय	1954
18	सिंहावलोकन, भाग–3	श्री यशपाल	1955
19	मेरी जीवन कहानी	श्रीमती रमादेवी मोरारका	1956–
20	समय का फेर	श्री एल.पी. नागर	1956
21	यादों की परछाइयां	श्री चतुरसेन शास्त्री	1956
22	मेरी जीवन यात्रा	श्रीमती जानकी देवी बजाज	1956-
23	आत्मकथा : आपबीती–जगबीती	श्री नरदेव शास्त्री	1957
24	मेरा नाटक काल	श्री राधेश्याम कथावाचक	1957
25	मेरी अपनी कथा	श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	1958
26	आत्मपरीक्षण, भाग 1, 2, 3	श्री सेठ गोविन्ददास	1958
27	आत्मकथा	श्री रामप्रसाद बिस्मिल	1958
28	बचपन के दो दिन	डॉ. देवराज उपाध्याय	1959
29	अपनी खबर	पांडे बेचन शर्मा 'उग्र'	1960
30	साठ वर्ष – एक रेखांकन	श्री सुमित्रानंदन पंत	1960
31	मेरा बचपन	श्री शिवपूजन सहाय	1960
32	मेरे संस्मरण	श्री अनुग्रह नारायण	1961
33	मेरी आत्मकहानी	श्री आचार्य नंददुलारे शास्त्री	1963
34	मेरी आत्मकहानी	आचार्य चतुरसेन शास्त्री (चंद्रसेन शास्त्री)	1963
35	मेरे जीवन के अनुभव	श्री संतराम बी.ए.	1963
36	क्रांति पथ का पथिक	श्री पृथ्वीसिंह आजाद	1966
37	जीवन के चार अध्याय	श्री भुवनेश्वर माधव मिश्र	1966
38	मेरी जीवन यात्रा, भाग 3, 4, 5	श्री राहुल सांकृत्यायन	1967
39	आत्मकथा और संस्मरण	श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी	1967
40	मजदूर से मिनिस्टर	श्री आबिद अली	1968

41	क्या भूलूं क्या याद करूं	श्री हरिवंश राय बच्चन	1969
42	नीड़ का निर्माण फिर	श्री हरिवंश राय बच्चन	1970
43	यौवन के द्वार पर	डॉ. देवराज उपाध्याय	1970
44	अपनी कहानी	श्री वृंदावन लाल वर्मा	1970
45	प्रत्यक्ष जीवन शास्त्र	श्री हीरालाल शास्त्री	1970
46	सेवा, सृजन और संघर्ष	श्री ब्यौहार राजेन्द्र सिंह	1972
47	भूली बातें याद करूं	श्री राधाकृष्ण बिरला	1973
48	विदा बंधु विदा	श्री प्रणव कुमार बंधोपाध्याय	1973
49	मेरी फिल्मी आत्मकथा	श्री बलराज साहनी	1974
50	एक आत्मकथा – अरुणायन	श्री पोद्दार रामावतार 'अरुण'	1974
51	जीवन यात्रा	श्री गया प्रसाद द्विवेदी	1975
52	राह चलते–चलते	श्री रामेश्वर टोंटिया	1976
53	जब मौत मेरे पास आई	श्री सरनाम सिंह अरुण	1976
54	आत्मकथा (विनोदपूर्ण)	श्री काका हाथरसी	1976
55	बसेरे से दूर	श्री हरिवंश राय बच्चन	1977
56	चेहरे अनेक	श्री उपेन्द्रनाथ अश्क	1977
57	अधूरे सफर की पूरी कहानी	श्री कृष्ण चंदर	1979
58	राख की लपटें	श्री पी.डी. टण्डन	1984
59	नील यक्षिणी	श्री देवेन्द्र सत्यार्थी	1985
60	मेरे सात जनम, भाग–1	हंसराज रहबर	1985
61	टुकड़े–टुकड़े दास्तान	श्री अमृतलाल नागर	1986
62	मेरे सात जनम, भाग–2	हंसराज रहबर	1987
63	अमृतयान	देवेन्द्र सत्यार्थी	1987
64	जहाँ मैं खड़ा हूँ	रामदरश मिश्र	1985
65	अर्धकथा	डॉ. नगेन्द्र	1988
66	रोशनी की पगडण्डियाँ	डॉ. रामदरश मिश्र	1988
67	मेरे सात जनम, भाग–3	हंसराज रहबर	1990
68	टूटते बनते दिन	रामदरश मिश्र	1990
67	मेरे सात जनम, भाग–4	हंसराज रहबर	1991
70	उत्तरपथ	रामदरश मिश्र	1991
71	फुर्सत के दिन	रामदरश मिश्र	1991
72	दशद्वार से सोपान तक	हरिवंशराय बच्चन	1992
73	कहो व्यास कैसी कटी	गोपाल प्रसाद व्यास	1994
74	अपने–अपने पिंजरे	मोहनदास नेमिषराय	1995

75	जो कहा नहीं गया	कुसुम अंसल	1996
76	अपनी धरती अपने लोग, (3 भागों में)	रामविलास शर्मा	1996
77	जूठन	ओमप्रकाश वाल्मीकि	1997
78	बूंद बावड़ी	पद्मा सचदेव	1999
79	दोहरा अभिशाप	कौशल्या बैसंत्री	1999
80	जो मैंने जिया	कमलेश्वर	2000
81	यादों के चिराग़	कमलेश्वर	2000
82	जलती हुई नदी	कमलेश्वर	2000
83	आत्मकथा के नाम पर	मोतीलाल जोतवाणी	2000
84	कस्तूरी कुण्डल बसै	मैत्रीय पुष्पा	2002
85	तिरस्कृत	सूरजपाल चौहान	2002
86	झोपड़ी से राजभवन	माताप्रसाद	2002

यह मौलिक आत्मकथाओं की सूची है, अनूदित आत्मकथाएं इनमें शामिल नहीं हैं। इस सूची में यह स्पष्ट ही पता चल जाता है कि हिन्दी में अब आत्मकथा साहित्य कितनी लोकप्रियता पा चुका है। यह मात्र साहित्यकारों की ही प्रिय विधा नहीं है बल्कि – "राजनीतिज्ञों, पत्रकारों, शिक्षकों, वकीलों, समाज सेवकों, फिल्मी कलाकारों आदि ने भी अपनी–अपनी आत्मकथा लिख कर भारतीय समाज के विविध रूपों का अत्यंत सजीव एवं प्रमाणिक चित्र उभारा है।"[1]

इस सूची की पूर्णता का दावा भी नहीं किया जा सकता। संभव है त्रुटि वश कुछ आत्मकथाएं शामिल करना छूट गई हों।

अनूदित आत्मकथाएं – इसके अतिरिक्त अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनूदित आत्मकथाओं की भी कमी नहीं है – इनमें महात्मा गाँधी की 'सत्य के मेरे प्रयोग', जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी', हेलेन केलर की 'मेरी जीवन कहानी', आर.के. नारायण की 'माई डेटलेस डायरी', क्रोपार्टकिन की 'एक क्रांतिकारी के संस्मरण' प्रमुख आत्मकथाएं हैं जो अंग्रेज़ी से अनूदित होकर हिन्दी में आई हैं।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ. नगेन्द्र, पृ 716

इनके अतिरिक्त भारतीय भाषाओं से भी अनेक आत्मकथाएं हिन्दी में अनूदित हुई हैं। जैसे रवीन्द्र नाथ टैगोर की आत्मकथा 'जीवन स्मृति', शचीन्द्रनाथ सान्याल की आत्मकथा 'बंदी जीवन' तथा तस्लीमा नसरीन की आत्मकथा 'मेरे बचपन के दिन' बंगला से, इस्मत चुग़ताई की 'काग़जी है पैरहन' तथा जोश मलीहाबादी की 'यादों की बारात' उर्दू से, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की आत्मकथाएं – 'आधे रास्ते', 'स्वप्न सिद्धि की खोज में' तथा 'सीधी चढ़ाई' गुजराती से, हंसा वाडेकर की 'अभिनेत्री की आपबीती' मराठी से, दलीप कौर टिवाणा की 'नंगे पैरों का सफर', अमृता प्रीतम की 'रसीदी टिकट' तथा अजीत कौर की 'कूड़ा कबाड़ा' पंजाबी से इन्दिरा गोस्वामी की 'ज़िंदगी कौई सौदा नहीं' असमी से अनूदित हुई हैं।

अनूदित आत्मकथाएं न केवल इस दृष्टि से महत्त्व रखती हैं कि उनके माध्यम से हिन्दी के पाठक को दूसरी भाषा का भी साहित्य पढ़ने को मिलता है, बल्कि ये इसलिये भी महत्त्वपूर्ण हैं कि हिन्दीतर प्रदेशों के सर्वथा भिन्न जीवन उनके रीति–रिवाज़, उनके परिवेश का भी ज्ञान पाठक को इनके माध्यम से हो जाता है। तुलनात्मक अध्ययन एवं शोधकार्यों में भी ये सहायक सिद्ध होती हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग में आत्मकथा के नाम पर एक अनूठा प्रयोग भी देखने को मिला। 1958 में हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखी। इसमें सिर्फ़ नाम ही बाणभट्ट का है बाकी शब्द रचना एवं कल्पनाशक्ति द्विवेदी जी की है। 1970 में सूर्यप्रसाद दीक्षित ने 'निराला की आत्मकथा' लिखी इसमें लेखक का दावा है कि एक भी शब्द उसके द्वारा विरचित नहीं है। यह पुस्तक निराला साहित्य से आत्मकथात्मक अंश संकलित कर प्रस्तुत की गई है। अतः यह आत्मकथा के क्षेत्र में प्रमाण और अप्रमाण की अनोखी मिसाल है। लेखक स्वयं को प्रस्तोता कहता है लेखक नहीं। मदनगोपाल ने सन् 2000 में 'प्रेमचंद की आत्मकथा' लिखी, जोकि वस्तुतः जीवनी है आत्मकथा के नाम पर 'महाकवि कालिदास की आत्मकथा' 'द्रोण की आत्मकथा', 'गांधारी की आत्मकथा' तथा

'कृष्ण की आत्मकथा' (8 भागों में) डॉ. जयशंकर द्विवेदी द्वारा लिखी गईं। इनमें इतिहास एवं कल्पना को आत्मकथात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर काल में सौ से भी ज़्यादा मौलिक एवं अनूदित आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं। ये आत्मकथाएं न केवल संख्या की दृष्टि से बल्कि गुणवत्ता के स्तर पर भी विविध रूपा हैं। आचार्य नगेन्द्र इसी विविधता की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि "समग्रतः हिन्दी का आत्मकथा साहित्य पर्याप्त वैविध्यपूर्ण है। ... सच तो यह है कि भारत का सामाजिक इतिहास लिखने के लिये ये महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करती हैं। शिल्प की दृष्टि से इसमें पत्र, डायरी, संस्मरण आदि सबका सम्मिलित रूप मिलता है। ये प्रेरणा की अक्षय स्रोत हैं तथा पढ़ने में उपन्यास का सा आनंद देती हैं।"[1]

हिन्दी आत्मकथा के विकास के आरंभ में हमने देखा कि भारतेंदु तथा द्विवेदी युग में यह विकास बहुत ही धीमी गति से हुआ। क्योंकि भारतीय जनमानस में आत्मप्रशंसा या आत्माभिव्यक्ति परनिंदा से भी हेय समझी जाती थी। साहित्य व्यक्तिनिष्ठ न होकर समष्टिनिष्ठ था।

किन्तु जैसे–जैसे साहित्य में व्यक्तिवाद का उदय हुआ। वैज्ञानिक दृष्टि का आगमन हुआ वैसे–वैसे समाज–सुधार, देशप्रेम, नारी–उद्धार आदि बहिर्मुखी विषयों को छोड़कर साहित्य में आत्माभिव्यक्ति को स्थान मिलने लगा। भक्तिकालीन ईश्वर, रीतिकालीन सामंतवादी राजा–महाराजाओं की जगह आम व्यक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ गयी। व्यक्ति की समस्याएं व भावनाएं साहित्य का प्रमुख विषय बनी। आत्मकथा लेखन के प्रति जो उदासीनता थी वह दूर होने लगी। देश के श्रेष्ठ विचारक, नेता, अभिनेता, क्रांतिकारी, प्रशासक इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले प्रतिष्ठित जन अपनी आत्मकथा लिखने को प्रेरित हुए। महिलाएं भी इस क्षेत्र में पीछे न रहीं।

कुसुम अंसल, पद्मा सचदेव, कौशल्या बैसंत्री, कृष्णा अग्निहोत्री ने अपनी आत्मकथाएं लिखीं, मैत्रीय पुष्पा की आत्मकथा भी प्रकाशित हुई एवं मेहरुन्निसा परवेज़ की आत्मकथा शीघ्र प्रकाशित होने वाली है।

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास – डा. नगेन्द्र पृ. 716

नब्बे के दशक में मराठी के प्रभाव से हिन्दी में दलित आत्मकथाएं भी लिखी जानी शुरू हुईं। सामाजिक उद्देश्य से लिखी गई इन आत्मकथाओं में दलित चेतना के गहन भाव बिंदु निहित हैं। इनमें मोहनदास नेमिषराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, कौशल्या बैसंत्री तथा सूरजपाल चौहान की आत्मकथाएं प्रकाशित हो चुकी हैं तथा श्यौराज सिंह 'बेचैन', जयप्रकाश कर्दम एवं एन. सागर की आत्मकथाएं प्रकाशित होने वाली हैं। इन सब का यह प्रयास आत्मकथा विधा के विकास में काफी उत्साहवर्धक रहा।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'स्व' की अभिव्यक्ति की कामना जैसे जैसे व्यक्ति में बढ़ रही है वैसे–वैसे आत्मकथा लिखने का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। ज़ो कहानी, उपन्यास, जीवनी, संस्मरण आदि सभी की रोचकता अपने में समेटे हुए है और साथ ही तथ्यपरक होने के कारण जीवन की सच्चाई जानने की जिज्ञासा को बनाए हुए हैं।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पहले की तरह सिर्फ विशिष्ट व्यक्ति ही आत्मकथा नहीं लिख रहा है अपितु समाज के छोटे–बड़े सभी वर्ग के व्यक्ति इस विधा की ओर आकर्षित हुए हैं। आत्मकथा साहित्य का द्रुत गति से विकास होता देखकर प्रेमचंद की वर्षों पूर्व की गयी यह टिप्पणी सत्य साबित होती है – "भावी उपन्यास जीवन चरित होगा। चाहे किसी बड़े आदमी का हो या छोटे का। उसकी छुटाई–बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जाएगा जिन पर उसने विजय पायी है।"[1]

---

1. प्रेमचंद : मेरे सात जन्म – हंसराज रहबर (भाग–1), पृ. 5

अध्याय — तीन

हिन्दी साहित्यकार और आत्मकथा लेखन : अभिव्यक्ति के विभिन्न स्वर

क) जीवन संघर्ष

ख) दुनिया और साहित्यिक दुनिया का द्वन्द

ग) ज्ञापन और गोपन

अध्याय – 3

हिन्दी साहित्यकार और आत्मकथा लेखन : अभिव्यक्ति के विभिन्न स्वर

जीवन और साहित्य का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। जहाँ साहित्य की अन्य विधाओं में जीवन अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिंबित होता है वहीं आत्मकथा में जीवन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है।

संसार के साहित्य चिन्तकों की मान्यता यह है कि व्यक्तित्व के विज्ञापन की आकांक्षा ही साहित्य और कला को जन्म देती है। वस्तुतः आत्म महत्व की भावना ही मनुष्य को साहित्य और सृजनात्मकता की ओर प्रेरित करती है। आत्म महत्व की वृत्तिका पूर्णतया परितोष आत्मकथा के द्वारा ही हो सकता है।

प्रथम अध्याय में आत्मकथा के स्वरूप और लेखन के विभिन्न प्रयोजनों पर विचार किया गया था तथा उन कारणों की विवेचना करने का प्रयास किया था जिनसे लेखन आत्माभिव्यक्ति को प्रेरित होता है तथा आत्माभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों में से आत्मकथा विधा को ही क्यों चुनता है।

इस अध्याय में हम आत्मकथाओं में वर्णित व्यंजित हुए जीवन के विभिन्न स्वरूपों पर चर्चा करेंगे और उनको शब्दांकित करने में लेखक का मनोविज्ञान, जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण, उसकी जीवनानुभूति, उसने जीवन का अंतरंग वर्णन किया है या बहिरंग इन सब विषयों पर शोधपरक दृष्टि डाली जाएगी। अपने समय ओर समाज के प्रति लेखक की प्रतिबद्धता कितनी और कैसी रही यह हम इस अध्याय में जानने की कोशिश करेंगे। साथ ही उनका जीवन संघर्ष कैसा रहा, उसने आत्मकथा में अपने व्यक्तित्व को उभारा है अथवा छिपाया है तथा 'साहित्यकार' और 'एक सामाजिक ईकाई' की दो भूमिकाओं में उसने कैसे सामन्जस्य बिठाया इस पर भी विचार किया जाएगा।

1. क्या भूलूं क्या याद करूं – डॉक्टर हरिवंशराय बच्चन (1969 ई.)

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि बच्चन जी की चार भागों में प्रकाशित हुई आत्मकथा का यह प्रथम भाग है। लेखक ने इसे अपने 'मानस–मंथन का परिणाम' बताया है। इसमें 1936 तक की घटनाओं का कालखण्ड लेखक ने लिया है। प्रथम डेढ़ सौ पृष्ठों में लेखक ने सिर्फ़ अपने पुरखों का इतिहास बताया है तथा कायस्थ जाति का वर्णन किया है। पाठक का सारा ध्यान इन सम्बन्धों की जोड़तोड़ में बीत जाता है तथा पढ़ने में रुचि नहीं बन पाती है। यद्यपि तत्कालीन उत्तर प्रदेश की परम्पराओं रीतियों–कुरीतियों, सामाजिक मान्यताओं, जीवन मूल्यों का अच्छा परिचय पाठक को मिल जाता है। इस आत्मकथा में लेखक ने अपने जीवन की सभी घटनाएं क्रमिक, सुव्यवस्थित रूप में ज्यों की त्यों लिख दी है। इससे लेखक की अद्‌भुत स्मरण शक्ति का भी पता चलता है किंतु उन घटनाओं का लेखक ने सतही प्रस्तुतिकरण मात्र किया है उन पर एक बुद्धिजीवी या सजग–संवेदनशील मनुष्य के रूप में लेखक की प्रतिक्रिया पता नहीं चलती।

पुस्तक के आरम्भ में ही बच्चन जी ने फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक मानतेन का एक उद्धरण दिया है, जिसे वे अपनी आत्मकथा लिखने के उद्‌देश्य के रूप में प्रस्तुत करते है, इसके अनुसार वे अपनी आत्मकथा लिखने का उद्‌देश्य बताते हैं – "मैं अपने गुण–दोष जग–जीवन के सम्मुख रखने जा रहा हूँ, पर ऐसी स्वाभाविक शैली में, जो लोकशील से मर्यादित हो।"[2] बच्चन ने 'मानतेन' के इस वक्तव्य से प्रभावित होकर उसे ज्यों का त्यों रख तो दिया है किंतु अपनी आत्मकथा में उस आदर्श का पूरी तरह पालन नहीं कर पाए है। कर्नल चंपा प्रसंग तथा प्रकाशो प्रसंग ऐसे ही कुछ प्रसंग हैं जहाँ बच्चन ने लोकशील एवं लोक मर्यादा को भुला दिया है। इस पर स्वयं प्रकाशवती ने प्रत्युत्तर में पुस्तक भी लिखी एवं उन प्रसंगों का खण्डन किया जिसकी चर्चा इसी अध्याय में आगे की जाएगी। किंतु पाठकों के समक्ष लेखकीय ईमानदारी पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है। बच्चन ने इस कृति में कहीं भी आत्म विश्लेषण नहीं किया है। आत्म स्वीकृति के रूप में

---

1. क्या भूलूं क्या याद करूँ – बच्चन, पृ. 7
2. क्या भूलूं क्या याद करूँ – बच्चन, पृ. 9

भी कवि को खेद नहीं है सिर्फ़ इतना ही मानते हैं कि –

"कुछ अवगुन कर ही जाती है
चढ़ती बार जवानी।"[1]

अथवा

"उन लड़कपन औ जवानी के शुरू की
उलझनों को क्या बताऊँ
भूलने का नाम वे लेती नहीं हैं
मैं उन्हें कितना भुलाऊँ।"[2]

रचना का औपन्यासिक शिल्प पाठक को बांधे रखता है बच्चन जी के काव्य का रोचकता का गुण गद्य में भी पूरी तरह उभर कर आया है जोकि इसे हिन्दी की श्रेष्ठ आत्मकथाओं की गणना में ले आता है। नरेन्द्र शर्मा ने इसे 'हिन्दी के आत्मकथा साहित्य की चरम परिणति'[3] बताया है।

2. नीड़ का निर्माण फिर (1910)

यह बच्चन जी की आत्मकथा का दूसरा खण्ड है जो 'क्या भूलूं क्या याद करूं' की अगली कड़ी के क्रम में आया है यद्यपि आत्मकथाकार प्रत्येक खण्ड को "अपने आप में 'पूर्ण'"[4] घोषित करता है। तथा कहता है कि – "प्रयाग में गंगा स्नान लेने के लिये यह आवश्यक नहीं कि पहले गंगोत्री या हरिद्वार में डुबकी लगा ली जाए।[5]

इस खण्ड में लेखक का बड़ा ही मूर्त तथा प्रत्यक्ष सार्वजनीन दुःख प्रकट होता है – श्यामा की मृत्यु। लेखक इस मृत्यु से दुखी हैं किंतु वह दुख को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता। मृत्यु से इस परिचय के बाद जीवन के प्रति उनकी दार्शनिक दृष्टि बनती

---

1. क्या भूलूं क्या याद करूँ – बच्चन, पृ. 192
2. क्या भूलूं क्या याद करूँ – बच्चन, पृ. 229
3. क्या भूलूं क्या याद करूँ – पं. नरेन्द्र शर्मा, फ्लैप से उद्धृत
4. क्या भूलूं क्या याद करूँ – बच्चन, पृ. पहले संस्करण की भूमिका
5. क्या भूलूं क्या याद करूँ – बच्चन, भूमिका

है तथा वे स्वतः ही यह अनुभव करने लगते हैं कि "दुख और कुछ करे न करे परिपक्व तो करता ही है।"[1]

आत्मकथा के इसी भाग में तेजी से उनकी मुलाकात तथा शादी का वर्णन है। इसी खण्ड में कर्मवादी बच्चन जी के भाग्यवादी रूप के भी दर्शन होते हैं। झा साहब से अकस्मात प्राप्त हुए नीलम से जीवन में आए शुभ परिवर्तनों को वह चमत्कार स्वीकार करते हैं। इसी खण्ड में आइरिस तथा स्कूल कॉलेज की लड़कियों के प्रसंग पाठक को चंपा–प्रसंग की फिर से याद दिला देते हैं। लेखक स्वयं को भावातिशय कहता है तथा इसी भावातिशयता पर अंकुश लगाने की दृष्टि से वह फौज तक में भर्ती हो जाता है वह अपने "स्वभाव में निहित अंतर्नारी को दूर हटाना चाहता था।"[2] बच्चन जी का काव्य भले ही उनकी भावुकता का प्रतिफल हो किंतु उनका जीवन हमें व्यवहारिक ही अधिक जान पड़ता है उनके कार्यों में भावातिशयता कम व्यवहार बुद्धि अधिक स्पष्ट झलकती है। यथा आत्मकथा के पिछले भाग में जब मधुशाला के प्रकाशक ने उसे समय पर नहीं छापा तो उन्होंने उसे वकील के माध्यम से नोटिस भेजा और नोटिस में दी गई एक सप्ताह की अवधि के भीतर ही स्वयं अपनी प्रकाशन संस्थान 'सुषमा निकुंज' खोल कर अपनी पुस्तक का प्रकाशन स्वयं कर दिया। चूंकि प्रेस के लिये एक सप्ताह के भीतर पुस्तक छाप सकना संभव नहीं था यह बच्चन जी जानते थे अतः नोटिस देते ही उन्होंने प्रकाशन भी आरंभ कर दिया था। जिसका उन्हें लाभ भी मिला। आत्मकथा का यह खण्ड उनके क्रमिक विकास की कथा है जिसने उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा।

बसेरे से दूर : बच्चन (1977)

इस खण्ड में लेखक के जीवन के उस भाग की कहानी है जिसमें उन्होंने घर से दूर कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में जाकर पी–एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। (इस खण्ड का शीर्षक लेखक पहले 'हंस का पश्चिम प्रवास' रखना चाह रहा था) पर 'नीड़ का निर्माण फिर' में जहाँ लेखक के एक पति, पिता, गृहस्थ रूप का वर्णन था वहीं इस भाग में एक

---

1. नीड़ का निर्माण – बच्चन, पृ. 84
2. क्या भूलूं क्या याद करूँ – बच्चन, पृ. 217

अध्यापक तथा शोधकर्ता का रूप देखने को मिलता है। 'बसेरे से दूर' के आरम्भिक भाग में प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग का विस्तार से परिचय मिलता है । लेखक ने इस प्रसंग में उस कटु सच्चाई का भी वर्णन किया है कि अंग्रेज़ी के प्राध्यापक हिन्दी के कवि को किस तुच्छ निगाह से देखा करते थे जबकि हिन्दी का कवि खुद भी अंग्रेज़ी का प्राध्यापक है। इसी बीच बच्चन जी को इंग्लैण्ड में अनुसंधान कार्य के लिये फैलोशिप भी मिल जाती है। यह भाग इंग्लैण्ड में शोध के दौरान के दो वर्षों तक कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अध्ययन–अध्यापन देखते–परखते शोधक के शोध कार्य से सम्बद्ध है। एक शोधकर्ता के लिये 'बसेरे से दूर' एक बहुत महत्वपूर्ण आत्मकथा है। शोध के दौरान आए मानसिक, आर्थिक, शैक्षणिक संकेतों का जिस प्रकार वर्णन किया गया है उससे निश्चय ही कोई भी विद्यार्थी अपना सामय बैठा सकता है। "कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड गुड़–भरी हंसिया बन कर मेरे गले में अटक आए। गुड़ तो मैंने खाया पर इसके लिये अपना गला भी कम नहीं चिरवाना पड़ा।"[1] संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में पी–एच.डी. की उपाधि पाने के बाद भारत लौटने पर वापस प्रयाग विश्वविद्यालय में लेखक को पुनः सहयोगियों की उपेक्षा झेलनी पड़ती है। "मैं जिस दिन से लौटकर आया था उस दिन से विभाग क़दम–क़दम पर मुझे महसूस करा देना चाहता था कि तुम यहाँ वांछित नहीं हो।"[2] अंत में आत्मकथा का समापन लेखक के इलाहाबाद से दिल्ली की ओर जाने के साथ होता है। यद्यपि लेखक को इलाहाबाद की भूमि से अटूट प्यार है। दिल्ली में विदेश मंत्रालय में महत्वपूर्ण पद पाने पर भी इलाहाबाद के बसेरे से दूर आने की उसे कचोट भी है – "अपने विरोधियों को नीचा दिखाने का सुख अपने अहं की तुष्टि, अपनी संतान के प्रति दायित्व निबाहने की खुशी तीनों का अवसर एक साथ पाने पर भी क्या अपनी ज़मीन छोड़ने की कचोट मुझे बिना साले रह सकती थी ? नहीं – नहीं – नहीं।"[3]

लेखक स्वयं की इलाहाबाद से निर्मित मानता है –

> "और यहीं के मिट्टी–पानी से विरचित है मेरी काया।"
> ... मेरी स्वर लहरी आई है गंग–जमन की अमर लहर से
> गाता हूँ अपनी लय भाषा, सीख इलाहाबाद नगर से"[4]

---

1. बसेरे से दूर : बच्चन, पृ. 35
2. बसेरे से दूर : बच्चन, पृ. 231
3. बसेरे से दूर : बच्चन, पृ. 191
4. बसेरे से दूर : बच्चन, पृ. 192

इलाहाबाद से दिल्ली आकर बसेरा जमाना शीर्षक की सार्थकता को पुनः सिद्ध कर देता है। एक बार विदेश प्रवास के समय कवि बसेरे से दूर गया था दूसरी बार इलाहाबाद छोड़ते समय।

आत्मकथा के अंत में जिंदगी क्या है इसका विश्लेषण बहुत ही सटीक शब्दों में हैं – "जिंदगी मोह से शुरू होती है और मोहभंग पर ख़त्म।"[1]

लेखक घोषणा कर देता है कि "लेखन से भी मेरा मोहभंग हो चुका है। ... आत्म संस्मरण लिखते समय मैं यह समझता था कि मैं अपने जीवन की सच्ची तस्वीर आपके सामने रख सकने में समर्थ हो सकूंगा, पर अब मुझे यह कटु अनुभूति हो गई है कि जीवन और शब्द एक दूसरे से बहुत अलग स्तर की चीज़ें हैं।"[2]

ऐसा कह कर बच्चन स्वयं ही अपनी पुस्तक को 'जीवन का एक बड़ा झूठ' कह देते हैं। इस सम्बन्ध में हम आगे 'ज्ञापन और गोपन' शीर्षक के अन्तर्गत चर्चा करेंगे।

4. दशद्वार से सोपान तक (1999)

यद्यपि 'बसेरे से दूर' के अंत में बच्चन पाठकों से 'विदा' की घोषणा कर देते हैं किंतु यह उनकी आत्मकथा का अगला (चौथा) खण्ड है। इसका खुलासा वे इस प्रकार करते हैं – 'बसेरे से दूर' में मैंने आत्मकथा लेखन से ही नहीं, लेखन से ही विदा लेने की बात सोची थी। पर मेरे पाठकों ने मुझे विदा नहीं दी। बीसों पत्र आए थे कि आत्मकथा से अभी विदा न लें, चौथा खण्ड भी दें।'[3]

आत्मकथाओं की यह अंतिम कड़ी है। इसके आरंभ में ही लेखक शपथ लेता है कि – 'मैं कलम की सौगंध खाकर कहता हूँ कि जो कुछ कहूंगा सच कहूंगा ओर सच के अतिरिक्त अगर कुछ कहूंगा तो वह झूठ होगा।" इसमें इलाहाबाद निवास 'दशद्वार' से लेकर गुलमोहर पार्क दिल्ली में बनाए मकान 'सोपान' तक का वर्णन है। आत्मकथा के

---

1. बसेरे से दूर – बच्चन, पृ. 192
2. बसेरे से दूर – बच्चन, पृ. 198
3. दशद्वार से सोपान तक – बच्चन, पृ. 427

प्रथम तीन भागों से यह भाग आकार में वृहद है तथा अपेक्षाकृत लंबे कालखण्ड को अपने में समेटे है। इसमें बच्चन के इलाहाबाद की दलगत राजनीति से तंग आकर दिल्ली में विदेश मंत्रालय की हिन्दी अधिकारी की उस नौकरी को स्वीकार करने का वर्णन है जिसमें उसकी रुचि नहीं है। इलाहाबाद से दिल्ली आते वक़्त उसने जो स्वप्न विदेश मंत्रालय के बारे में संजोए थे वे यहाँ शीघ्र ही भंग हो गए किंतु उसका कवि व्यक्तित्व सजग रहा।

"गनीमत थी कि सरकारी तंत्र में एक बढ़नामी (Glorified) क्लर्क की हैसियत रखने पर भी मेरे कवि की स्वतंत्र सत्ता को यदाकदा याद कर लिया जाता था।"[1] इस खण्ड में लेखक ने अपनी विदेश यात्रा का भी वर्णन किया है। उनके अनेक कविताओं की रचना की पृष्ठभूमि तथा रचना प्रक्रिया का वर्णन भी इसमें मिलता है। एक सामान्य गृहस्थ की तरह बच्चन अपने बच्चों के कैरियर तथा मकान बनाने की चिंता भी इस आत्मकथा में दिखाई पड़ते हैं। अमिताभ के एक्सीडेंट के प्रसंग में एक पिता की दुर्बल मनःस्थिति का भी मार्मिक प्रसंग इस कृति में है। जहाँ 'बसेरे से दूर' लेखक ने 7–7–77 को समाप्त की थी वहीं 'दशद्वार से सोपान तक' अपनी आयु के 77 वर्ष 7वें महीने 7वें दिन समाप्त की है।

वृन्दावन लाल वर्मा (1972)

1972 में वृन्दावन लाल वर्मा की आत्मकथा 'अपनी कहानी' प्रकाशित हुई। यह ऐतिहासिक उपन्यासकार की आत्मकथा है। वृन्दावन लाल वर्मा स्वतंत्रता संग्राम के योद्धा भी थे। राष्ट्र प्रेम तथा राष्ट्र गौरव उनके जीवन मूल्यों में शामिल थे। इस रचना में भी आदर्शों – जीवन मूल्यों को महत्व दिया गया है। गाँधी जी का इन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा उनकी व्यक्तिगत साधना भी सामाजिक चेतना से ही जुड़ी है। लेखक सिद्धांतवादी है तथा उनके जीवन में क्षुद्र जय–पराजय का महत्त्व नहीं है, महत्त्व है सिद्धांतों का।

आत्मकथा का आरंभ लेखक ने बचपन की उस घटना से किया है जिसमें वह तांबे के दो मोटे पैसे अपनी अंगुली में दबाकर सोता है। उसी समय लेखक को अपनी

---

1. दशद्वार से सोपान तक – बच्चन, पृ. 164

माँ की मृत्यु का भयावह स्वप्न आता है तथा वह चौंककर जाग जाता है और जीवन में कभी चोरी न करने की प्रतिज्ञा करता है। यह प्रतिज्ञा जीवन पर्यन्त रहती है। वह क़सम लेता है कि 'गलत–सलत नहीं लिखूंगा।'[1]

लेखक बचपन से ही राष्ट्र गौरव की भावना से ओत–प्रोत रहा है। बचपन में अंग्रेज़ी में लिखे भारत के ग़लत इतिहास को पढ़कर उसके मन में प्रतिशोध की भावना भर जाती है तथा स्वयं इतिहास की सत्यता लिखने की ठान लेता है।

"इतिहास के अध्ययन की ओर रुचि उसी दिन से हुई। मैंने निश्चय किया कि खूब पढूंगा, खोज करूंगा और इन झूठी पुस्तकों की कलई खोलने के लिये कुछ लिखूंगा भी।"[2]

बचपन का यह संकल्प लेखक ने ऐतिहासिक उपन्यास लिख कर पूरा किया। गढ़ कुंडार, विराटा की पद्मिनी, मृगनयनी, कुण्डलीचक्र, लक्ष्मीबाई आदि उपन्यास साहित्यिक ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। अपनी आत्मकथा में लेखक इन उपन्यासों के पात्र स्वरूपों की खोज एवं आंचलिक पृष्ठभूमि के बारे में बताते हुए अपनी रचना–धर्मिता भी सुस्पष्ट करता है। मृगनयनी के बैजू बावरा, उस्ताद आदिल खां हैं तथा अचल मेरा कोई का कथानक कानपुर के एक संभ्रांत परिवार से लिया गया है, यह जानकारी मिलने के बाद लेखक की काल्पनिक रचनाओं में सत्य के प्रमाण मिल जाते हैं। इस आत्मकथा को पढ़ कर लेखक का व्यक्तित्व उनके उपन्यासों के नायक के समान ही प्रतीत होने लगता है जो आत्मविश्वासी भी है सिद्धांतवादी भी। भाषा की दृष्टि से लेखक सादगी में विश्वास करता है – "मैं अपनी बात साधारण पाठकों के पास पहुँचाना चाहता हूं। संस्कृत लदी भाषा और घुमावदार लच्छों में मेरा विश्वास नहीं। सिपाही की तलवार का लोहा सच्चा होना चाहिये, म्यान सादा।"[3]

---

1. अपनी कहानी – वृन्दावन लाल वर्मा, पृ. 5
2. अपनी कहानी – वृन्दावन लाल वर्मा, पृ. 18
3. अपनी कहानी – वृन्दावन लाल वर्मा, भूमिका

डॉक्टर देवराज उपाध्याय (1970)

'यौवन के द्वार पर' डाक्टर देवराज की दूसरी आत्मकथा है। इससे पूर्व 1959 में लेखक की कृति 'बचपन के दो दिन' आई थी। इस द्वितीय खण्ड में लेखक ने मूलतः यौवन की विकास यात्रा एवं उसकी मानसिक स्थिति का वर्णन किया है। लेखक चूंकि मनोवैज्ञानिक भी है अतः उसने अपना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इस कृति को लेखक ने तीन भागों में बांटा है – (1) चलचित्र और स्मृतियाँ (2) जवानी की राह पर और (3) क्वचिदन्यतोऽपि।

इसमें लेखक ने प्रस्तुतिकरण में तिथियों या घटनाओं की क्रमबद्धता का निर्वाह नहीं किया हैं। इससे बातें कुछ असम्बद्ध भी हो जाती हैं। इसका स्पष्टीकरण लेखक की प्रथम कृति 'बचपन के दो दिन' में लेखक की इस टिप्पणी से प्राप्त किया जा सकता है – "मैं उपन्यास थोड़े लिख रहा हूं कि – Orderly unfolding of plot हो, सारी बातें साँचे में ढली चुस्त–दुरुस्त रूप में सामने आएं और अपने सौष्ठव से आपको मुग्ध करें।"[1]

लेखक मूलतः स्वतंत्र प्रकृति का व्यक्ति है इसलिये युवावस्था के आरंभ में उसे जो अपने व्यक्तित्व की नई अस्मिता का बोध हुआ वह उसके लिये महत्त्वपूर्ण है। कृति का आरंभ ही लेखक उस स्मृति से करता है जब प्रथम बार उसके रात भर घर से बाहर रहने पर भी घर में कुछ विशेष पूछ–ताछ नहीं हुई। "होता तो यही था कि जहाँ संध्या हुई और मैं घर नहीं आया कि मेरे लिये दौड़ धूप आरंभ हो जाती थी ... पर उस दिन जो किसी तरह की चिंता मेरे लिये किसी ओर से प्रदर्शित नहीं की गई, ऐसा लगता है कि मैं आदमी बन गया, मेरे अस्तित्व को मान्यता मिली, मेरे स्वतंत्र जीवन को स्वीकृति मिली।"[2]

लेखक की दृष्टि में यौवन महत्त्वपूर्ण है, यह महत्त्वकांक्षाओं, विद्रोह तथा स्वतंत्रता का पर्याय है। किंतु उच्छश्रृंखलता भी लेखक में नहीं दिखाई पड़ती है। लेखक के

---

1. बचपन के दो दिन – डॉ. देवराज उपाध्याय, पृ. 36
2. यौवन के द्वार पर – डॉ. देवराज उपाध्याय, पृ. 1

व्यक्तित्व पर स्वामी दयानंद, श्रद्धानंद और नारायण स्वामी के सिद्धांतों का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सविनय अवज्ञा आंदोलन में भी लेखक शामिल रहा, मदन मोहन मालवीय जी, आचार्य कृपलानी जी का इसमें श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है। अपने पूर्वजों का भी उल्लेख उसने श्रद्धा और कृतज्ञतापूर्वक किया है। बिहार के सामाजिक जीवन का भी इसमें चित्रण है। वस्तुतः इसमें लेखक ने युवावस्था की मानसिक स्थितियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करना चाहा है जिसमें उसका किशोर मन अपने तरीक़े से अपनी समस्याओं को हल करना चाहता है। 'पिता या माता से उधार ली हुई युक्ति'[1] से नहीं कृति की भाषा परिष्कृत एवं शैली प्रवाहमान है।

मेरे सात जन्म (हंसराज रहबर) 1985

हंसराज रहबर की आत्मकथा चार भागों में प्रकाशित हुई है। इसका पहला भाग 1985 में छपा फिर क्रमशः 1987, 1990, 1991 में द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ भाग प्रकाशित हुए।

आत्मकथा के प्रथम भाग के लेखक ने अपना बचपन, शिक्षा–दीक्षा, मित्रों इत्यादि के बारे में बताया है। लेखक का विचार है कि आदमी को प्रगतिशील बने रहने के लिये एक ही ज़िंदगी में कई जन्म लेने पड़ते हैं, वैचारिक धरातल पर लेखक की कई बार मृत्यु हुई तथा कई बार पुनर्जन्म ! यह आत्मकथा लेखक ने अपने सात जन्मों की कथा के रूप में लिखी है। चूंकि जन्म और मृत्यु को विचारधारात्मक स्तर पर घटित माना गया है इसलिये यह आत्मकथा मूलतः विचारधारात्मक स्तर पर ही जीवन की कहानी कहती है। लेखक का पहला जन्म सनातनी था जिस पर उसका वश नहीं था। शहर में आकर वह आर्यसमाजी बन गया। फिर स्वतंत्रता संग्राम से प्रभावित होकर वह कांग्रेसी बन गया फिर जब उसे यह अहसास हुआ कि कांग्रेस ग़रीबों की पार्टी नहीं तो वह कांग्रेस छोड़ कर सोशलिस्ट बन गया। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में लेखक दो साल जेल में रहा जहाँ उसने मार्क्सवाद को पढ़ा और वह जेल में ही कम्युनिस्ट बन गया। यह उसका पांचवां जन्म था। बाद के दो जन्म भी वह कम्युनिस्ट पार्टी के दो बार हुए विभाजनों को

---

1. यौवन के द्वार पर – डॉ. देवराज उपाध्याय, पृ. 1

ही बताता है। इस प्रकार विचारधारा के परिवर्तन के साथ–साथ लेखक हर बार जैसे नया जन्म पाता गया। यह सारी जीवन कथा इन्हीं विचारधाराओं के विकास की कथा है।

टुकड़े टुकड़े दास्तान (अमृतलाल नागर) 1986

अमृतलाल नागर की यह आत्मकथा शीर्षक के अनुरूप ही टुकड़ों–टुकड़ों में बंटी है तथा इससे लेखक के जीवन, उसके व्यक्तित्व का परिचय पाठक को खण्डशः ही मिल पाता है। लेखक ने भूमिका में ही जयशंकर प्रसाद की उस पंक्ति से जो उन्होंने हंस के आत्मकथांक में दी थी, (क्या यह अच्छा नहीं कि, औरों की सुनता मैं मौन रहूं) से प्रभावित होने की स्पष्टोक्ति भी दी है। "फिर भी कुछ विभिन्न साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओं और कुछ आकाशवाणी के द्वारा मांग होती रहने पर यह 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' आख़िर बन ही गई।"[1]

लेखक ने इसमें विभिन्न प्रसंगों से सम्बन्धित सैंतीस संस्मरण दिये हैं। आरंभ में उसने 'आइने के सामने' शीर्षक से अपना पोर्ट्रेट खींचा है। 'बाबूजी' शीर्षक से एक अन्य संस्मरण में लेखक ने अपने पिता जी का मार्मिक वर्णन किया है 'मेरा बचपन', 'मैं लेखक कैसे बना', 'जब मैंने पहली कहानी लिखी' इत्यादि संस्मरण लेखक से जुड़े प्रत्यक्ष संस्मरण हैं किंतु कुछ संस्मरणों में लेखक अनुपस्थित है मात्र घटना या स्थान वर्णन प्रमुखता पा गया है यथा 'आंध्र : एक झलक', 'जब भाखड़ा नंगल बन रहा था' या 'एकदा नैमिषारण्ये' !

चूंकि लेखक स्वभाव से ही मनमौजी क़िस्म के व्यक्ति हैं, इसलिये बंधन न उन्हें जीवन में स्वीकार्य था न आत्मकथा के ढाँचे में ही। उसने अपनी आत्मकथा में भी मुख्यतः बल अपने मनमौजी मस्तमौला अनुभवों को ही ज़्यादा दिया। इस आत्मकथा के सैंतीस अध्यायों में उनके व्यक्तित्व के क्रमिक विकास को जानना भी मुश्किल है। क़िस्सागोई की शैली में लेखक अपने जीवन की मोटी–मोटी बातों का वर्णन भर करता है।

---

1. टुकड़े टुकड़े दास्तान – अमृतलाल नागर, भूमिका

अर्धकथा : डॉ. नगेन्द्र (1988)

डॉ. नगेन्द्र की यह आत्मकथा अपने शीर्षक के अनुरूप ही जीवन की आधी तस्वीर पेश करती है।

लेखक ने कृति की भूमिका में (मुखबंध) लिखा है – 'यह मेरे जीवन का अर्धसत्य मात्र है पूर्ण सत्य नहीं, क्योंकि पूर्ण सत्य को अनावृत्त करने का नैतिक या अनैतिक साहस मुझमें नहीं है। ... प्रत्येक मनुष्य के जीवन के अनेक अनुभव ऐसे होते हैं जो एकांत, वैयक्तिक तथा अंतरंग होते हैं। जिनका सार्वजनिक प्रकाशन सम्बद्ध व्यक्तियों के प्रति अन्याय अथवा कृतघ्नता और समाज के प्रति अभद्रता का द्योतक माना जा सकता है। ... इसी दृष्टि से मैं अपने जीवन के केवल अर्धसत्य का ही आलेखन कर रहा हूँ।"[1] लेखक के इस वक्तव्य से ही स्पष्ट हो जाता है कि आत्मकथा में वह मात्र घटनाओं का वर्णन करने जा रहा है दृष्टिकोण का नहीं। लेखक ने इस आत्मकथा को तीन खण्डों में बांटा है – (1) व्यक्ति खण्ड; (2) शैक्षिक जीवन; (3) साहित्य यात्रा। प्रथम खण्ड में लेखक ने अपने जन्म, पारिवारिक परिवेश एवं छात्र जीवन का वर्णन किया है। द्वितीय खण्ड में दिल्ली विश्वविद्यालय में अपना इंटरव्यू, आकाशवाणी में नियुक्ति, पुत्रियों, दामादों का वर्णन है। अपने कुछ पारिवारिक मित्रों, अपने अभिनंदन, सम्मान–अंलकार तथा आँख के ऑपरेशन का भी ज़िक्र है।

तीसरा खण्ड मात्र अठारह पन्नों में सिमटा है जिसमें लेखक ने अपने अध्ययन और सृजन पर प्रकाश डाला है।

कृति के अंत में लेखक 'समाहार' शीर्षक से फिर अपना मंतव्य प्रकट करता है "यह मेरे जीवन का केवल अर्धसत्य है – अर्थात उपर्युक्त तीनों खण्डों में मैंने केवल अपने बहिरंग जीवन का ही परिचय दिया है ... जहाँ तक अंतरंग जीवन का प्रश्न है, वह नितांत मेरा अपना है, आपको उसका समभागी बनाने की उदारता मुझमें नहीं है।"[2]

---

1. अर्धकथा – डॉक्टर नगेन्द्र, मुखबंध
2. अर्धकथा – डॉ. नगेन्द्र, पृ. 170

लेखक के इस वक्तव्य के उपरांत मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह आत्मकथा है अथवा 'बायोडाटा'। जीवन के बहिरंग विवरण को पढ़ने में साहित्य के विद्यार्थी या प्रबुद्ध पाठक की दिलचस्पी क्यों होगी ?

यद्यपि यह आत्मकथा यह चर्चा भी छेड़ देती है कि, क्या लेखक के अपने निजी अंतरंग अनुभवों में, उसकी गोपनीयता में झांकने का पाठक को अधिकार है ? उन आत्मकथाओं, जिनमें लेखक/लेखिका के निजी जीवन के प्रसंग भरे पड़े रहते हैं, को पाठकों का चटखारे लेकर पढ़ना कहीं कुत्सित मनोवृत्ति तो नहीं ? भाषा के स्तर पर संस्कृतनिष्ठ, शुद्ध भाषा लेखक की विद्वता का परिचय देती है।

कहो व्यास कैसी कटी – गोपाल प्रसाद व्यास (1994)

यह आत्मकथा हिन्दी आत्मकथाओं की श्रृंखला में एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। इसका स्वर और तेवर दोनों ही नवीनता का बोध कराते हैं। यह दूसरी आत्मकथाओं से उस सामान्यीकृत अर्थ में अलग नहीं हैं कि हर व्यक्ति का अपना अनुभव संसार होता है बल्कि इसकी विशिष्टता इसमें निहित है कि यह हिंदी के 'गंभीर' साहित्य के समानान्तर – लोकप्रिय साहित्य के अब तक अनजाने संसार को पाठकों के सामने प्रस्तुत करती है।

गोपाल प्रसाद के बारे में इस पुस्तक के फ्लैप पर विष्णु प्रभाकर की यह टिप्पणी सटीक बैठती है कि, "जो व्यक्ति अपने पर हंस सकता है वही दूसरों को भी गुदगुदा सकता है।" व्यास जी हास्य रस के मंचीय कवि रहे हैं। इस आत्मकथा को पढ़कर हिन्दी के 'मंच साहित्य' की लोकप्रिय काव्यगोष्ठियों, बहु प्रसंशित गीतकारों, चुटकुलेबाज़ों की विकास परम्परा का जायज़ा लिया जा सकता है। बतकही की शैली में लिखी 'कहो व्यास कैसी कटी' भरपूर पठनीयता लिये हुए है। ब्रज का इसमें विस्तृत एवं रोचक वर्णन है। महामूर्ख सम्मेलन से जुड़े चटपटे संस्मरण हैं। कथ्य के स्तर पर भरपूर हास–परिहास लिये हुए यह आत्मकथा कहीं–कहीं जीवन जगत् को समझने की अंतर्दृष्टि विकसित कर पाने में कई बार चूकती है।

भाषा के स्तर पर काव्यात्मक, चुटीली लच्छेदार भाषा है, शैली तो वही व्यास जी की जानी–पहचानी बतकही शैली है। अन्य आत्मकथाओं से यह थोड़ी भिन्न है।

अपने–अपने पिंजरे (मोहनदास नेमिशराय) 1995

दलित चेतना आंदोलन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण, हिन्दी की पहली दलित आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' को आलोचकों–समीक्षकों की मिली–जुली प्रतिक्रिया मिली। यह आत्मकथा इस मायने में तो महत्त्व रहती है कि इसने मराठी की तर्ज़ पर हिन्दी में आत्मकथा लेखन के ज़रिये दलित चेतना विकसित करने का सूत्रपात किया। किंतु लेखक इसमें अपने वर्णन में बजाय विकासवादी दृष्टिकोण अपनाने के विषय से भटक गया है। कहीं वह अपने नपुंसक भाई का, बम्बई की तवायफों का व्यर्थ का वर्णन करने लगता है तो कहीं वह महिलाओं के बारे में अस्वस्थ टिप्पणी देता है। चूंकि दलित आत्मकथाएं सौन्दर्यशास्त्रीय की जगह समाजशास्त्रीय अध्ययन की अधिक अपेक्षा रखती हैं अतएव हम अपने अगले अध्याय में इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

जूठन (ओमप्रकाश वाल्मीकि) 1997

हिन्दी की दूसरी दलित आत्मकथा 'जूठन' उन सभी ख़ामियों से मुक्त कही जा सकती है जो हमें 'अपने–अपने पिंजरे' में देखने को मिलती है। लेखक ने इसमें आत्मकथा को केन्द्र बना कर दलित समाज की यातना–यंत्रणा कथा कही है। पुस्तक के पृष्ठ आवरण पर इसका मूलकथ्य इस रूप में अंकित है – "आज़ादी के पाँच दशक पूरे होने और आधुनिकता के तमाम आयातित अथवा मौलिक रूपों को भीतर तक आत्मसात कर चुकने के बावजूद आज भी हम कहीं–न–कहीं सवर्ण और अवर्ण के दायरों में बंटे हुए हैं। सिद्धांतों और किताबी बहसों के बाहर जीवन में हमें आज भी अनेक उदाहरण मिल जाएंगे जिनसे हमारी जाति और वर्णगत असहिष्णुता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। 'जूठन' ऐसे ही उदाहरणों की श्रृंखता है जिन्हें एक दलित व्यक्ति ने अपनी पूरी संवेदनशीलता के साथ ख़ुद भोगा है। "इस आत्मकथा में लेखक ने स्वाभाविक ही अपने उस 'आत्म' को तलाश करने की कोशिश की है जिसे भारत का वर्ण–तंत्र सदियों से कुचलने का प्रयास करता रहा है।"[1]

---

1. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ आवरण

'आत्म' की तलाश की स्वाभाविक चेष्टा के साथ इसमें दलित समाज की व्यथा–कथा भी अंतर्निहित है अतः कहीं भी विषयभंग नहीं होता। यह आत्मकथा पाठकों आलोचकों में दलितवादी विमर्श छेड़ने में कामयाब हुई है। दलित समीक्षाकार एन. सिंह के अनुसार – "मेरी दृष्टि में ये आत्मकथा भावी–दलित पीढ़ियों के लिये प्रेरणा का स्रोत प्रमाणित होंगी।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की इस कृति को साहित्य अकादमी पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

जो कहा नहीं गया (कुसुम अंसल) 1996

कुसुम अंसल की आत्मकथा हिन्दी में पहली महिला आत्मकथा है। इससे पूर्व 1956 में श्रीमती जानकी देवी बजाज की संस्मरणात्मक कृति 'मेरी जीवन यात्रा' प्रकाशित हो चुकी थी, किंतु श्रीमती जानकी देवी चूंकि स्वयं निरक्षर थी एवं उनकी आत्मकथा ऋषभदेव जी रांका ने सुन कर लिपिबद्ध की थी अतः स्वयं अपने हाथों से न लिखे जाने के कारण वह कृति आत्मकथा और जीवनी के बीच का दस्तावेज़ बन गई है। इन अर्थों में कुसुम अंसल को सहज ही हिन्दी की पहली आत्मकथा लेखिका बनने का श्रेय मिल जाता है।

'जो कहा नहीं गया' एक अति धनाढ्य परिवार की स्त्री के अवचेतन में दबी उस भावना की अभिव्यक्ति है जो कभी उभर कर सामने नहीं आ पाई।

कुल पंद्रह अध्यायों में विभक्त यह भावना घर से शुरू होकर भविष्य पर ख़त्म होती है। कुसुम अंसल अलीगढ़ के एक समृद्ध व्यापारी परिवार की बेटी हैं। उनकी शिक्षा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में हुई है, अतः अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्कार उनके व्यक्तित्व पर गहरे दिखाई देते हैं। पुस्तक में भी अपने पारिवारिक माहौल के चित्रण के साथ अलीगढ़ विश्वविद्यालय को भी पूरी मार्मिकता के साथ याद किया गया है। ऊपरी तौर पर कुसुम अंसल की यह आत्मकथा बचपन और जवानी का अकेलापन, विवाह, बच्चे

---

2. अंबेडकर इन इण्डिया – जुलाई 2002, एन. सिंह, पृ. 34

उनका कैरियर, पति के बिज़नेस वगैरह का 'ग्रैण्ड–टोटल' मात्र है। फिर भी जहाँ आजकल 'विचार का अंत' या 'साहित्य का अंत' जैसी धारणाएं बलवती हो रही हैं वहाँ एक अति धनाढ्य परिवार की स्त्री का लेखन के क्षेत्र में उतरना सचमुच एक चुनौती को स्वीकार करना है। अरविंद जैन इस सन्दर्भ में लिखते हैं – "हो सकता है कि परिवार में किसी ने कुसुम अंसल की रचनाएं पढ़ी तक न हों फिर भी अपनी सीमाओं में रहकर उनकी इच्छाओं के विरुद्ध अपने स्वतंत्र चुनाव का ख़तरा 'मौन के दो पल' से 'जो कहा नहीं गया' तक लिखना ही एक अर्थ में परिवार–संस्था के 'कर्त्ता' की सत्ता को चुनौती देना भी है और मौन विद्रोह भी। इस आत्मकथा द्वारा समाजशास्त्रीय शोधकर्त्ताओं को सुविधा सम्पन्न वर्ग के भीतर झांककर देखने–समझने की एक खिड़की तो मिली।"[1] शैलेश ज़ैदी जो कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं उन्होंने इस आत्मकथा को 'अकेलेपन को चीरती एक प्रतिमा'[2] नाम दिया है। यह सही है कि अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति को तरसती लेखिका इस 'जो कहा नहीं गया' के माध्यम से बहुत कुछ कहना चाहती है किंतु पाठक से संपेषणीयता ठीक नहीं बना पाती हैं।

लगता नहीं है दिल मेरा (कृष्णा अग्निहोत्री) 1998

यह एक ऐसी स्त्री की कहानी है जो उच्चकुल में पैदा होकर, उच्च शिक्षा प्राप्त, अमीर आई.पी.एस. अधिकारी से विवाह करती है फिर भी उसे क़दम–क़दम पर जीवन में अपना हक़ पाने के लिये लड़ाई लड़नी पड़ी। यह एक स्त्री का दारूण संघर्ष है। पर इस सारी संघर्ष साधना में लेखिका का पक्ष बहुत सबल नहीं दीखता। हर जगह वह दुनिया से रोष व शिकायतों की अभिव्यक्ति करती नज़र आती है। उनके पति, घर परिवार के लोगों से लेकर सहकर्मी यहाँ तक कि उनके विद्यार्थियों ने भी उन्हें वासनात्मक दृष्टि से ही देखा किंतु लेखिका के अनुसान "अतृप्त या मेरी ओर ताकने वाली भावनात्मक दृष्टि मुझे अच्छी लगती है।"[3] अनेक विद्वानों, साहित्यकारों, संपादकों जैसे राजेन्द्र अवस्थी, भारती, कन्हैयालाल नंदन, हिमांशु जोशी, राजेन्द्र यादव इन सभी ने लेखिका से प्रेम

---

1. औरत : अस्तित्व और अस्मिता – अरविंद जैन, पृ. 129
2. दिल्ली के इण्डिया इंटरनेशनल सेंटर में 16 मार्च, 1996 को आयोजित एक विचार गोष्ठी में।
3. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 106

निवेदन किया। इनके अलावा भी बीसियों अन्य लोगों ने लेखिका को प्रेम के नाम पर छला।

इस संबंध में लेखिका के गृहनगर इंदौर से निकलने वाली पत्रिका 'मनस्वी' में डॉ. पार्वती राव की यह टिप्पणी निश्चय ही द्रष्टव्य है कि – "आख़िर क्यों एक स्त्री बार–बार छली गई ? या उसने स्वयं को छलने दिया ? जब एक नारी की दृष्टि से मैंने यह पुस्तक पढ़ी तो अनेक प्रश्न कांटों की तरह जेहन में उग आए और उनके उत्तर मुझे ढूंढे भी नही मिले।"[1]

निश्चय ही इस पुस्तक को पढ़कर मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि लेखिका पढ़ी–लिखी, स्वावलंबी है, वह क्यों छली गई ? वह स्वयं को सीधी–सच्ची, नेक, भोली, सादगी की प्रतिमूर्ति तो बताती है किंतु कहीं भी देह से परे की नारी के अतिरिक्त उसकी कोई भूमिका नहीं मिलती। अगर वे अपने अस्तित्व के प्रति इतनी ही सजग है तो भी नारी विमर्श को लेकर एक छोटी सी भी गहरी–विचारोत्तेजक टिप्पणी वे नहीं लिखती हैं। पठन पाठन की समस्याएं, राजनीतिक–सामाजिक स्थितियों से लेखिका का कहीं कोई सरोकार नहीं दिखाई देता। हर जगह वे दैहिक सौन्दर्य को बौद्धिक सौन्दर्य पर तरजीह देती हैं। यह एक ऐसी स्त्री की कहानी प्रतीत होती है जो – बुद्धिजीवी या क़लमजीवी न होकर रूपजीवी अधिक है। अंतिम तीस पृष्ठों में लेखिका ने सिर्फ अपने प्रतिद्वन्द्वियों की आलोचना की है जिसमें उनके अवगुण गिनाए हैं। कुछ का तो ऐसा लगता है मानों समय की कमी से सिर्फ़ नामोल्लेख करके छोड़ दिया है।

इस सम्बन्ध में अरविंद जैन अपनी पुस्तक 'औरत अस्तित्व और अस्मिता' में लिखते हैं – "यह कोई अनोखी 'मॉडल गर्ल' या उत्तर आधुनिक नायिका की 'आप बीती' नहीं है। हाँ ! मध्यवर्गीय अनेक औरतों का दुखदर्द, लगता है, एक ही जीवन में इकट्ठे हो गए हैं।"[2]

---

1. मनस्वी – डॉ. पार्वती राव, पृ. 391.
2. औरत : अस्तित्व और अस्मिता – अरविंद जैन, पृ. 132

निश्चय ही कृष्णा अग्निहोत्री की जीवनकथा एक स्त्री की दारुण संघर्ष गाथा है किंतु इसमें संघर्ष की दिशा क्या रही है इस पर 'जीवन संघर्ष' तथा 'ज्ञापन और गोपन' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे।

भाषा के स्तर पर यह कृति मध्य स्तरीय है। कुछ नए शब्द बनाए गए हैं – विस्फोटा, प्रवेशा, पुरुषीय, महिलापन आदि !

बूंद बावड़ी (पद्मा सचदेव) 1999

पद्मा सचदेव की आत्मकथा 'बूंद बावड़ी' फ्लैश बैक शैली में लिखी एक संस्मरणात्मक कृति है। लेखिका स्वयं ही भूमिका (दो शब्द) में यह स्पष्ट कर देती है कि "मेरी ये स्मृतियाँ आत्मकथात्मक होने पर भी अपने से ज़्यादा दुनिया से जुड़ी हैं। इनमें आपबीती भी है जगबीती भी। दुनिया की कहानी ही मेरी कहानी भी है।"

लेखिका मूलतः कवियित्रि है अतः इस आत्मकथा में शुरू से आख़िर तक एक काव्यात्मक संवेदना विद्यमान है। किंतु आत्म की सशक्त अभिव्यक्ति न होने के कारण यह आत्मकथा के निकष पर खरी नहीं उतरती है।' कुल तीन सौ त्रेसठ पृष्ठों की पुस्तक में दो सो सत्रह पृष्ठों में अस्पताल तथा अस्सी पृष्ठों में 'लता मंगेशकर' का वर्णन है। लेखिका का लता मंगेशकर के साथ गहरा संसर्ग रहा होगा किंतु आत्मकथा में ऐसी आसक्ति दुर्गुण मानी जाती है।

महिला लेखक से जिस चेतना, जिस सामाजिक–साहित्यिक विमर्श की अपेक्षा की जाती है तथा जिस उद्देश्य से स्त्री लेखक को सार्थकता मिलती है वह इसमें विलुप्त है। पूरी कृति एक आत्ममुग्ध स्त्री की गूंज है जो विभिन्न विशिष्ट हस्तियों से अपने जुड़ावों–सम्बन्धों का ताना बुनती है।

कौशल्या बैसंत्री (दोहरा अभिशाप) 1999

अपने जीवन संघर्षों के सन्दर्भ में भले ही लेखिका ने इस कृति का शीर्षक दोहरा अभिशाप (स्त्रीत्व और दलित्व) रखा है पर हिन्दी साहित्य में तो कह सकते हैं कि यह कृति 'दोहरा वरदान' बन कर' शामिल हुई है। यह कृति दो स्तरों पर महत्त्वपूर्ण है, यह

न केवल श्रेष्ठ दलित आत्मकथा है बल्कि महिला आत्मकथाओं में भी यह श्रेष्ठता के मानक स्थापित करती है।

अन्य दलित आत्मकथाओं में जहाँ हम सामाजिक समस्या का व्यक्तिगत रूपान्तरण पाते हैं, वहीं इस आत्मकथा में हर समस्या–विषमता का कार्य–कारण संबंध ढूंढते हुए समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। लेखिका का पति उस पर अत्याचार करता है। लेखिका ने इस घटना का वर्णन भी निजी पति–पत्नी संबंध को आधार बना कर नहीं, चिरंतन स्त्री–पुरुष टकराहट को मद्देनज़र रख कर किया है। यह कृति भाषा के स्तर पर भी परिष्कृत है तथा लगता नहीं है कि किसी प्रतिष्ठित लेखिका द्वारा नहीं बल्कि घरेलू स्त्री द्वारा लिखी गई है।

आत्मकथा किसे लिखनी चाहिये, इस पर भी यह कृति उस मनोवृत्ति को करारा जवाब है जो यह सिद्ध करने की कोशिश में हैं कि मात्र प्रतिष्ठित व्यक्तियों का जीवन ही महत्वपूर्ण होता है अतः उन्हीं की आत्मकथाएं महत्त्व भी रखती हैं, वस्तुत जीवन की घटनाओं का क्रमवार ब्यौरा (बल्कि बहुत सी आत्मकथाओं में क्रमवार भी नहीं) नहीं लेखक की जीवनानुभूति एवं जीवनदृष्टि का महत्त्व है एवं 'दोहरा अभिशाप' में दलितवादी चेतना एवं स्त्रीवादी विमर्श दोनों दृष्टिकोणों से जीवन की पड़ताल की गई है। अपना जीवन लेखिका ने समूची संघर्ष गाथा में उदाहरण स्वरूप पेश किया है।

विवेच्य आत्मकथाओं का क्रमवार अवलोकन करने के बाद आत्मकथाओं में वर्णित व्यंजित जीवन के स्वरूप पर भी यहां चर्चा की जा रही है। विभिन्न लेखकों ने अपनी आत्मकथा में अपने व्यक्तित्व को, व्यक्तित्व–निर्माण की प्रक्रिया को विविध प्रकार से रूपायित किया है।

आदि बिंदु से लेकर उम्र के एक सार्थक पड़ाव, जोकि जीवनोद्देश्य के अर्थ में अंतिम महत्त्वकांक्षी बिंदु होता है, तक की कहानी में लेखक अपना संघर्ष, आत्मद्वन्द, परिवेशगत वैषम्य, निजी, सामाजिक व्यक्तित्व सभी कुछ का वर्णन करता है। इस वर्णन में वह कुछ छिपाता है, कुछ बढ़ाता है, कहीं वह आत्मगोपन करता है, कुछ आत्मप्रस्फुटन करता है आशय यह कि अपने दैहिक, आर्थिक, सामाजिक, मानसिक समस्त संघर्ष

अभिव्यक्त करता है उन घात–प्रतिघातों, खोए–पाए का हिसाब जिनसे लेखक का व्यक्तित्व बना है निश्चय ही आत्मकथा में महत्त्व रखता है अतः विवेच्य आत्मकथाएं अपने और अधिक खुले एवं गहन अध्ययन की अपेक्षा रखती हैं।

यहां इन आत्मकथाकों का तीन कसौटियों पर विवेचन–विश्लेषण किया जा रहा है –

(1) जीवन संघर्ष
(2) दुनिया और साहित्यिक दुनिया का द्वन्द
(3) ज्ञापन और गोपन

जीवन संघर्ष

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में संघर्ष के क्षण आते हैं, बस उस संघर्ष के मोर्चे पृथक–पृथक होते हैं। कोई आर्थिक मोर्चे पर संघर्ष कर रहा होता है तो कोई सामाजिक मोर्चे पर ! कहीं विचारधारात्मक स्तर पर लड़ाई लड़नी पड़ती है तो कहीं जातिगत स्तर पर। महिला रचनाकारों को जहाँ एक ओर समाज–परिवेश, घर–द्वार का मोर्चा संभालना पड़ता है तो वहीं दूसरी ओर साहित्य की राजनीति में अपना स्थान, सम्मान पाने के लिये कई प्रकार का संघर्ष करना पड़ता है, कहीं उनका महिला रूप सामने आता है तो कहीं रचनाकार रूप ! इसी प्रकार दलित साहित्यकारों को भी जहाँ एक ओर रोज़ी–रोटी की समस्या, अस्तित्व की रक्षा जैसे सवालों से जूझना पड़ता है वहीं हर क़दम पर जाति का प्रश्न भी सम्मुख खड़ा रहता है।

हिटलर की आत्मकथा का शीर्षक 'मेरा संघर्ष' है। वस्तुतः जीवन संघर्षों की आग में तप कर ही व्यक्ति में अपनी सार्थकता का बोध होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में संघर्ष नहीं होते हैं उसमें अपने प्रति गर्व का भाव आ ही नहीं सकता। संघर्षों पर विजय पाकर ही जीवन उद्देश्य पूरा हो सकता है। आत्मकथाऐं इस संबंध में दर्पण का कार्य करती हैं। साहित्यकार, नेता, फिल्मी कलाकार, खिलाड़ी सभी ने अपनी आत्मकथा में अपने चरित्र के विकास में अपने जीवन संघर्षों की भूमिका स्वीकार की है। संघर्ष व्यक्ति को कितना मज़बूत बनाते हैं, या उसे भीतर से कितना तोड़ देते हैं, जीना सिखाते हैं या

जीना दुश्वार कर देते हैं यह आत्मकथाओं को पढ़ कर ही जाना जा सकता है। विभिन्न प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष संघर्षों का वर्णन आत्मकथाकारों ने किया है। सबसे पहले बच्चन की आत्मकथाओं के अध्ययनोपरान्त इसमें उनके किशोरावस्था के भावुक संघर्षों से लेकर एक पति, एक बेरोज़गार युवक से लेकर शोधार्थी, कवि इत्यादि विभिन्न भूमिकाओं में किये गए संघर्ष दृष्टिगत होते हैं। आर्थिक, मानसिक, शैक्षणिक संघर्षों से लेकर अस्मिता की लड़ाई तक इस आत्मकथा के चारों भागों में नज़र आती है।

आत्मकथा के प्रथम खण्ड 'क्या भूलूं क्या याद करूं' में आरम्भ में शैशव काल तक का समय उल्लेखनीय नहीं है। इसमें वंशावलि, जन्म, आरम्भिक शिक्षा इत्यादि बहिरंग बातों का वर्णन है किंतु किशोरवय बच्चन के कई भावुक संघर्ष दृष्टिगत होते हैं। वस्तुतः ये संघर्ष न होकर चारित्रिक कमज़ोरियों के कारण झेली गई समस्याएं मात्र हैं। लेखक का अपने मित्र कर्कल से अप्राकृतिक आकर्षण है किंतु कर्कल की शादी होने वाली है अतः लेखक इसलिये उद्विग्न है कि कर्कल की पत्नी चंपा उनके मित्र को उनसे छीन लेगी। किंतु यह एक ऐसी विचित्र मित्रता थी कि कर्कल उन्हें भी अपने वैवाहिक जीवन में शामिल कर लेते हैं – "मैं दो की जगह दुनिया में तीन के स्वप्निल संसार की कल्पना करने लगा।"[1] बाद में कर्कल की मृत्यु हो जाती है। लेखक इस सदमें से टूट जाता है किंतु सम्बन्धों के बावजूद भी वह चम्पा से विवाह नहीं करता। नाजायज़ सम्बन्ध बनाने में लेखक भीरू नहीं है किंतु सम्बन्धों को जायज बनाने में लेखक की भीरू मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं। चम्पा का उसने दैहिक–मानसिक शोषण किया किंतु वही लेखक जो परिवार के जाति बहिष्कृत होने से ज़रा भी विचलित नहीं होता है, समाज की परवाह नहीं करता है, अब एक विधवा स्त्री की मदद को आगे नहीं आता है। अपनी आत्मकथा लिखकर बच्चन कमज़ोरियों को उजागर तो करते है परंतु वे शर्मिन्दा नहीं हैं। जिस घटना से एक स्त्री गर्भवती होकर दर–दर भटकती है अपमानित होती है लेखक उस भयानक प्रसंग से प्रभावित नहीं है। समाज की परम्परा की बेड़ियों से संघर्ष करने वाले लेखक के जीवन में यहाँ पर समाज से संघर्षमयी प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव दिखता है परंतु लेखक सिर्फ़ इतना ही विचलित होता है कि – "मैं रात भर मुँह में कपड़ा दबा कर रोत

---

1. क्या भूलूं क्या याद करूं – बच्चन, पृ. 211

हूँ – 'चोर नारि जिमि प्रकट न रोई' – कई रातों को रोता हूँ और एक दिन जैसा दुनिया का क्रम है, मेरे आंसू सूख जाते हैं।'[1]

लेखक में संघर्ष वृत्ति का सर्वथा अभाव है। जहाँ संघर्ष करना चाहिये था वहाँ लेखक पलायन का चोर रास्ता अख़्तियार करके रो रहा है। भले ही उसने इस घटना से कितना भी मानसिक तनाव झेला हो किंतु संघर्ष नहीं करना उसे भीरू तथा रुग्ण सिद्ध कर देता है। वे घटना को अधिक मर्मस्पर्शी बनाने के लिये भावुकता का आश्रय लेकर आत्मदया उपजाते हैं तथा पाठक की सहानुभूति प्राप्त करना चाहते हैं।

एक वर्ष के उपरांत (1970 में) बच्चन की आत्मकथा का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ 'नीड़ का निर्माण फिर'। यह पत्नी श्यामा की मृत्यु से आरम्भ होता है, उसकी शवयात्रा में समाज से बहिष्कृत होने के कारण मात्र परिवार के चार छह लोग ही शामिल हुए। अतः लेखक क्षुब्ध है – "व्यक्ति को समाज के सहयोग की आवश्यकता होती है ... पर व्यक्ति को समाज से यह सहयोग लेने के लिये बड़ा महंगा मूल्य चुकाना पड़ता है उसे अपनी स्वतंत्रता गिरवी रखनी पड़ती है।"[2] अपनी पत्नी के दाहकर्म से सम्बन्धित विधिविधानों को लेखक यह कह कर करने से इंकार कर देता है ये 'खटराग' उसके बस में नहीं। उसका इनमें विश्वास नहीं है। अर्थात लेखक अपनी सुविधानुसार विद्रोही है। पुस्तक में आगे लेखक का मानसिक या सामाजिक, आर्थिक संघर्ष अभिव्यक्त नहीं हुआ है। तेजी से शादी की खुशी अन्य भाई बहनों की मृत्यु का क्षोभ इस भाग में मिलता है।

आत्मकथा का तीसरा खण्ड 'बसेरे से दूर' (1977) है। इसमें जीवन की उस अवधि की कहानी है जिससे लेखक अध्ययन हेतु विदेश जाता है। तथा आर्थिक, शैक्षणिक, मानसिक संघर्ष के दो कड़े वर्ष बिताता हैं यह लेखक का सही अर्थों में संघर्ष काल था। इस खण्ड में लेखक के जीवन में अधिक परिपक्वता दिखाई देती है। कैम्ब्रिज जाने हेतु मार्ग व्यय की व्यवस्था करने हेतु लेखक जगह–जगह भटका। वह शिक्षासचिव

---

1. क्या भूलूं क्या याद करूं – बच्चन, पृ. 223
2. नीड़ का निर्माण फिर – बच्चन, पृ. 20

से लेकर शिक्षामंत्री, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति तक से मिला। कैम्ब्रिज पहुँचने के बाद भी वहाँ दो वर्ष तक रहने खाने की समस्या मुँह बाए खड़ी थी। लेखक के लिये रूपया रूपया मोहर समान था। "मुझे चिंता बनी रहती, खर्च कहाँ से आएगा। ... मैं हर रात कंजूस के समान अपने पौण्ड गिनता कॉलेज की फीस के लिये आवश्यक राशि अलग करके देखता तो बस इतना ही बनता कि चार–पांच महीने मुश्किल से चल सकता और रहना मुझे था बारह महीने और।'[1] शीघ्र शोध प्रबंध समाप्त करने की चिंता, पैसे ख़त्म हो जाने की चिंता के साथ ही स्वदेश में अकेली पत्नी घर–गृहस्थी व बच्चों की परवरिश की चिंता में लेखक मानसिक द्वन्द में डूबता उतराता रहा।

आत्मकथा के चौथे तथा अंतिम खण्ड 'दशद्वार से सोपान तक' (1998) में' लेखक का आर्थिक या मानसिक संघर्ष नहीं है किंतु उनके कार्यस्थल पर उनका व्यवसायिक संघर्ष अवश्य इसमें दर्शाया गया है जिसमें इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उनके विद्वेषियों से लेकर विदेश मंत्रालय में हिंदी विरोधी वर्ग से टकराह का वर्णन है। जहाँ उन्हें लेखन के लिये प्रतिकूल परिस्थितियाँ मिली थीं किंतु फिर भी उन्होंने अनवरत काव्य रचना की।

'हैं लिखे मधुगीत मैंने
हो खड़े जीवन समर में।'[2]

दिल्ली में मकान प्राप्त करने, फिर बदलने के सामान्य कष्टों का भी इसमें ज़िक्र किया गया है एक पिता के रूप में अमिताभ के एक्सीडेंट के समय का करूण मानसिक संघर्ष अवश्य मार्मिक बन पड़ा है।

हंसराज रहबर ने अपनी आत्मकथा 'मेरे सात जन्म' को सात जन्मों की कहानी बताया है। वस्तुतः ये सातों जन्म उसे एक ही जन्म के दौरान हासिल हुए हैं। लेखक का कहना है कि मनुष्य को प्रगतिशील बने रहने के लिये एक ही ज़िंदगी में कई जन्म लेने पड़ते हैं लेखक की पूरी जीवन कहानी ही संघर्ष गाथा है – "मेरा जन्म ग़रीबी में हुआ और बचपन से ही ग़रीबी के ख़िलाफ़ संघर्ष करना पड़ा। फिर जब राजनीति में भाग लेना

---

1. बसेरे से दूर – बच्चन, पृ. 198
2. दशद्वार से सोपान तक – बच्चन, पृ. 25

शुरू किया तो मेरा यह संघर्ष देश की आज़ादी के संघर्ष से जुड़ गया। ... बाद में साहित्य तथा राजनीति साथ–साथ चले। जहाँ राजनीति में सक्रिय रहा वहाँ मैंने साहित्य की ग़लत प्रवृत्तियों के ख़िलाफ भी संघर्ष किया। मेरी यह आपबीती अथवा जगबीती मेरे इसी लंबे संघर्ष की कहानी है।"[1]

आत्मकथा के चारो खण्डों में लेखक का संघर्ष प्रतिबिंबित होता है। बचपन में ग़रीबी के दिनों में तंगहाली का समय बिताया। "शरीर पर ढंग का कपड़ा नहीं, पाँव में जूते नहीं और रोटी भी रूखी–सूखी।"[2] पिता से लेखक के वैचारिक मतभेद थे। अपनी पढ़ाई तथा गुज़ारे के लिये दूसरों पर आश्रित भी रहना पड़ा। यह स्वतंत्रता संग्राम का समय था। परिवर्तनकामी लेखक सत्ता के साथ–साथ समाज को भी बदल देना चाहता था। वैचारिक स्तर पर उसके विचार बदलते जाते थे। इसी उथल–पुथल में वह सनातनी से आर्य समाजी तथा फिर कांग्रेसी व कम्युनिस्ट बन जाता है। यहाँ भी लेखक पहले सी. पी.आई. (एम.) तथा फिर सी.पी.आई. (एम.एल.) ज्वॉइन कर लेता है। पार्टी का होलटाइमर बन कर लेखक घर का खर्चा चलाने में असमर्थ रहता हैं किंतु वह सिद्धांतों से समझौता नहीं करना चाहता। छोटे–छोटे प्रसंगों के माध्यम से लेखक ने अपने व्यक्तिगत वैचारिक एवं आर्थिक संघर्ष का वर्णन किया है।

हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास लेखन के लिये प्रसिद्ध डॉ. वृन्दावन लाल वर्मा स्वतन्त्रता संग्राम के योद्धा भी हैं और कवि हृदय व्यक्ति भीं आत्मकथा 'अपनी कहानी' में लेखक ने अपने जीवन के विकट संघर्ष की कथा प्रस्तुत की है। इस आत्मकथा को पढ़कर पता चलता है कि अपने सिद्धांतों पर अडिग रहने के कारण लेखक को बहुत बार असफलताएं बाधाएं भी झेलनी पड़ीं किंतु उसने आत्मविश्वास की कमी नहीं होने दी तथा प्रतिकूल परिस्थितियों का भी डटकर मुकाबला किया।

लेखक एक समाज सेवी भी रहा तथा उसका जीवन उथल–पुथल से भरा रहा। किंतु उसने अपने जीवन मूल्यों से समझौता नहीं किया।

---

1. मेरे सात जन्म (खण्ड–1, रहबर, पृ. भूमिका)
2. – वही – खण्ड–1, पृ. 89

'यौवन के द्वार पर' में डॉ. देवराज का जीवन संघर्ष स्थूल रूप में तो वर्णित नहीं हुआ है किंतु इसके वयःसंधि के मानसिक उतार–चढ़ाव व समस्याओं का वर्णन किया गया है। यौवन के चित्रण को उन्होंने विशेष रूप से उभारा है। यौवन की महत्वकांक्षाएं, यौवन की विद्रोही प्रकृति, उच्छश्रृंखलता इन सभी के प्रति लेखक बहुत सजग है तथा इनका सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक वर्णन करता है।

डॉक्टर नगेन्द्र की आत्मकथा 'अर्धकथा' में जीवन संघर्ष अभिव्यक्त नहीं हुआ है। लेखक अपने जीवन को सामान्य बताता है। "सामाजिक जीवन भी प्रायः सुख–सरल ही रहा है। भगवान ने कुछ एक से कम दिया है तो अनेक से अधिक दे दिया है।"[1]

नागर जी की आत्मकथा 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' समग्र आत्मकथा न होकर नाम के अनुरूप टुकड़े–टुकड़े आत्मकथा है। वस्तुतः इसमें आत्म की कथा पाठक को कम ही मिलती हे इसमें कहीं भाखड़ा नंगल के निर्माण का वर्णन है तो कहीं नाथूपुर के बुद्ध का ! कहीं पिकनिक के संस्मरण हैं तो कहीं निराला जयंती के। इन छिटपुट संस्मरणों को पढ़कर लेखक के व्यक्तित्व का पता नहीं लग पाता अधिकांश संस्मरण इसी प्रकार के हैं जैसे आंध्र : 'एक झलक', 'बंबई की पहली यात्रा'। इन संस्मरणों में यात्रा प्रमुख हो गई लेखक पीछे, अतः उसके जीवन के संघर्ष या व्यक्तित्व निर्माण पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। फिर भी इन खण्ड सूत्रो को जोड़ कर लेखक के जीवन का विश्लेषण करने पर इतना अवश्य तय हो जाता है कि लेखक संघर्षशील रहा है। लेखक का पेशा अख्तियार करने के कारण उन्हें आर्थिक कष्ट उठाने पड़े। उनके पिता उन्हें डाक्टर या इंजीनियर बनाना चाहते थे "इधर मैं अपनी जन्म कुण्डली में चप्पल चटकाऊं लेखक बनने के ग्रह नक्षत्र बटोर कर लाया था।"[2] उनके पिता द्वारा की गई आत्महत्या से भी लेखक को "भीतर ही भीतर कचोट सालती थी – कि शायद मेरे कारण पिता ने अपनी जान दी।"[3] जीविकोपार्जन के लिये लेखक बम्बई गया। वहाँ उसकी जेब कट गई किंतु वह

---

1. अर्धकथा – डॉक्टर नगेन्द्र, पृ. 171
2. टुकड़े–टुकड़े दास्तान – अमृतलाल नागर, पृ. 32
3. – वही – पृ. 37

इस विपत्ति से घबराया नहीं बल्कि "अब आन पड़ी है तो शान से झेलेंगे।"[1] कहकर भूल जाता है। लेखक आत्मविश्वासी तथा ज़िंदादिल व्यक्ति है। आर्थिक–सामाजिक संघर्ष उसके जीवन में आए किंतु इस आत्मकथा में कहीं भी लेखक उनसे विचलित होता या घबराता नहीं दीखता। नागर जी तो वैसे भी अपने ठहाकों के लिये मशहूर रहे हैं। पूरी आत्मकथा में वही बेफिक्री का अहसास इनके व्यक्तित्व की ख़ूबी है।

गोपाल प्रसाद व्यास अपने पृथक तेवर के साथ हिन्दी आत्मकथा क्षेत्र में आए। मूलतः हास्य रस के लिये पहचाने जाने वाले लेखक व्यास जी का सारा जीवन ठहाके लगाते ही गूंजा हो ऐसा नहीं था। किंतु इतना अवश्य है कि उन्होंने अपना संघर्ष सुनाया हास्य की शैली में ही है जैसे वह स्वयं से पूछता हो कि – 'कहो व्यास कैसी कटी ?" इसमें 'पत्रकारिता की पहली सीढ़ी' लेख में वे अपनी खस्ताहाली का वर्णन इन शब्दों में करते हैं – "हालत इस समय वही थी कि आप तो मियाँ मंगते और द्वार खड़े दरवेश' और स्वयं मेरे सामने यह सवाल दरपेश है कि कल क्या होगा।"[2]

अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य न मिलने पर लेखक को मजबूरी वश कम्पोजीटर का कार्य भी करना पड़ा – "लाचारी मनुष्य से क्या नहीं करवा लेती, मन रमा था साहित्य में और करनी पड़ रही है कम्पोजीटरी।"[3] "... यह कहानी उस व्यक्ति की है जो आठ घण्टे स्टूल पर बैठकर कंपोज करता। बगल से बहने वाली नाली की सड़ांध सीधे दिमाग़ तक पहुँचती। ... प्रतीक्षा करता रहता कि वेतन कितना मिलेगा, और किस दिन मिलेगा।"[4] इसी से सम्बन्धित कुछ पंक्तियाँ भी लेखक के आर्थिक संघर्ष का पता देती हैं –

मेरे घर पर मत कह देना
मैं दिल्ली से बोल रहा हूँ
पढ़ना लिखना छोड़
हजामत की दुकान मैं खोल रहा हूँ।[5]

---

1. टुकड़े–टुकड़े दास्तान – अमृतलाल नागर, पृ. 84
2. कहो व्यास कैसी कटी – गोपाल प्रसाद व्यास, पृ. 451–452
3. – वही – पृ. 452
4. – वही – पृ. XV भूमिका
5. – वही – पृ. 468

हल्के–फुल्के अंदाज में व्यक्त किये कुछेक आर्थिक साहित्यिक संघर्ष ही इस आत्मकथा में व्यक्त होते हैं बाक़ी समय लेखक अपनी चुटीली शैली में मित्र मंडली, कवि सम्मेलन, महामूर्ख सम्मेलन का ही वर्णन प्रमुखता से करता है।

दलित आत्मकथाएं अपने–अपने पिंजरे (मोहनदास नेमिषराय) तथा जूठन (ओमप्रकाश वाल्मीकि) दलित संघर्ष के जीवंत दस्तावेज़ है। दोनों में ही जातिगत विषमता से उपजा विद्रोह दिखाई पड़ता है। एक दलित व्यक्ति को समाज में जिस अपमान व घृणा का व्यर्थ शिकार बनना पड़ता है। रोटी–कपड़ा मकान व शिक्षा जैसी मूलभूत सुविधाओं से जिस तरह एक पूरे वर्ग को अलग करके रखा गया – उस वर्ण व्यवस्था का विरोध करने में किया गया संघर्ष इन आत्मकथाओं के हर पृष्ठ पर बिखरा पड़ा है। दलित आत्मकथाएं अपने लिये अलग संवेदना, अलग विमर्श की मांग करती हैं अतएव इस विषय पर अगले अध्याय में विस्तार से चर्चा की जा रही है।

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' ही एक स्त्री के संघर्ष की कहानी है। यह संघर्ष उसे घर–पति समाज सभी से करना पड़ा है। उच्चकुल में पैदा होकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर, अमीर आई.पी.एस. अफसर से शादी करके भी लेखिका को क़दम–क़दम पर जीवन में अपना हक़ पाने के लिये लड़ाई लड़नी पड़ीं यह एक स्त्री का दारुण संघर्ष है। छोटी बच्ची को लेकर, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी एक स्त्री द्वारा इण्टर, बी.ए., एम.ए. और फिर पी–एच.डी. करना कितना दुष्कर है यह आसानी से समझा जा सकता है। लेखिका को नौकरी तो मिल गई लेकिन प्राध्यापक की उस नौकरी को पाने तथा बनाए रखने की जद्दोज़हद में उसने जिन भयानक कठिनाइयों और अवरोधों–प्रतिरोधों तथा आरोप–प्रत्यारोपों का सामना करना पड़ा वह रोंगटे खड़े कर देने वाला है।

उनके पति – घर–परिवार के लोगों से लेकर पति के मित्र, स्वयं के सहकर्मी यहाँ तक कि उनके विद्यार्थियों, अनेक विद्वानों, साहित्यकारों, जैसे राजेन्द्र अवस्थी, भारतीजी, कन्हैया लाल नंदन, हिमांशुजोशी, राजेन्द्र यादव इन सभी ने लेखिका से प्रेम निवेदन किया। प्रेम के नाम पर छला, धोखा दिया, वासना की पूर्ति करनी चाहिये।

निश्चय ही यह नारी उत्पीड़न की दारुण कथा है किंतु साथ ही ये प्रश्न भी उठते हैं कि लेखिका पड़ी–लिखी–स्वावलंबी है वह क्यों छली गई ? वह स्वयं को सीधी–सच्ची, नेक, भोली, सादगी की प्रतिमूर्ति भावुक तो बताती है किंतु कैसे वे वासना के जाल में फंसती चली गईं यह अभिव्यक्त नहीं करतीं, क्या दुनिया में सेक्स, कामुकता, प्यार–वासना और स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वे अपना तथा सामने वाले का परिचय रूप, रंग के बखान से ही देती हैं – "मैं छोटी–दुबली–कमसिन गोरी लाल चट्ट और सुन्दर।"[1] उन्होंने दूसरी शादी भी श्रीकांत जोग के – "सौन्दर्य तथा पोस्ट की डिगनिटी"[2] से प्रभावित होकर की। प्रभाकर क्षत्रिय 'गोरे लुभावने'[3] हैं तो प्रभू जोशी 'सांवले सलोने बेहद आकर्षक आँखों वाले'[4]। अपने विद्यार्थी को वे स्मरण भी करती हैं तो, 'मछली जैसी आकार की सुन्दर आँखों के साथ'[5] पठन–पाठन की समस्याएं, राजनीतिक–सामाजिक स्थितियों से लेखिका का कहीं कोई सरोकार नहीं दीखता। जीवन में संघर्ष के नाम पर सम्पन्न भाई, माँ, प्राचार्य व अन्य कुछेक विरोधियों के षड्यंत्रों से निपटने का कार्य अवश्य लेखिका ने किया। किंतु इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। यह एक ऐसी स्त्री की कहानी अधिक प्रतीत होती है जो दैहिक सौन्दर्य को बौद्धिक सौन्दर्य पर तरजीह देती है तथा इसी कोण से दुनिया के सारे सम्बन्धों का वर्णन करती है।

कौशलया बैसंत्री की आत्मकथा का शीर्षक 'दोहरा अभिशाप' के दो शब्द ही आत्मकथाकार के जीवन संघर्ष का पता दे देते हैं। 'स्त्री' वह भी 'दलित' ? यानी दो मोर्चों पर घिरी हुई। 'वर्ग' और 'वर्ण' दोनो में अभिशप्त। लेखिका की माँ एक बहुत ही कर्मठ व साहसी महिला थीं, उसने दलित समाज में रहते हुए भी अपनी पाँचो बेटियों को पढ़ाया लिखाया व उनमें अच्छा जीवन जीने का हौसला पैदा किया। यह सन् 1926 के

---

1. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 53
2. – वही – पृ. 211
3. – वही – पृ. 319
4. – वही – पृ. 312
5. – वही – पृ. 173

आसपास का समय था जब कि भारत की मात्र 8% जनता साक्षर थी व दलित अछूत कहे व समझे जाते थे। पढ़ना–लिखना–नौकरी–स्वास्थ्य यह सब उच्च वर्णों को भी मयस्सर नहीं था ऐसे में महार जाति की स्त्री का शिक्षा व सम्मान के लिये संघर्ष चमत्कार ही लगता है।

आरंभ से स्कूली शिक्षा शुरू होते ही लेखिका को जाति व निर्धनता के कारण सहपाठियों से अपमान व दुत्कार मिलना शुरू हो गई। अन्य साधन सम्पन्न बच्चों को देखकर उसके मन में हीनभावना, कुण्ठा गहरे जड़ जमाने लगीं – "उनकी तुलना में मेरे कपड़े बहुत घटिया होते थे उन लड़कियों के कानों में सोने की बालियाँ रहती थीं वे अपनी किताबें अच्छे बस्तों में लाती थीं मेरा बस्ता दो–तीन कपड़े की पट्टियों को जोड़कर बनाया गया होता था। वे अच्छे टिफिन बॉक्स में खाना लेकर आती थीं ... मुझे अपने घटिया डिब्बे ओर घटिया रोटी को उनके सामने खोलने में शर्म आती थी। मैं दीवार की ओर मुँह करके खाना खाती थी ताकि कोई देख न ले ... उनके खाने की खुशबू और खाना देखकर मैं ललचा जाती थी, सोचती थी ऐसा खाना मुझे कब नसीब होगा।"[1]

मानसिक वेदना, दुःख और उस कार्य के प्रति खेद–डर जो उसने किया ही नहीं, दलित वर्ग की यह नियति क़दम–क़दम पर लेखिका का पीछा करती है 'कोई मुझसे मेरी जाति न पूछ बैठे, इसका डर मुझे सदैव लगा रहता था।"[2] कन्याशाला में अक्सर ही लेखिका को जाति व ग़रीबी के कारण अपमान झेलना पड़ा जोकि उसके कच्चे–किशोर मन पर गहरे चुभ जाता था। वह अब भी उस अपमान को स्मरण करके व्यथित हो जाती है। "अब भी इस बात की याद आते ही बहुत व्यथित हो जाती हूँ, अपमान महसूस करती हूँ। जाति–पाँति बनाने वाले का मुँह नोच लेने का मन करता है।"[3] महंगाई के दौर में बड़े परिवार के पालन–पोषण के अलावा समाज का विरोध लेखिका के परिवार को झेलना पड़ा। विवाह के बाद लेखिका को अलग तरह का संघर्ष करना पड़ा। अभी तक 'दोहरा

---

1. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 41
2. – वही – पृ. 41
3. – वही – पृ. 47

अभिशाप' का वर्णगत अभिशाप ही उसने भोगा था अब 'वर्ग' की त्रासदी भी झेलनी पड़ी। लेखिका का पति पढ़ा–लिखा अफसर होने के बावजूद पत्नी से कहता है कि "मैं बहुत शैतान आदमी हूँ।"[1]

लेखिका का वैवाहिक जीवन अपमान, पिटाई, मानसिक प्रताड़ना व आर्थिक बदहाली से भरा हुआ रहा। प्रसूति के समय में भी उसने गिनकर पैसे दिये तथा अकेला छोड़ कर चला गया तथा प्रसूति के बाद उसे देखने भी नहीं आया इस तरह का उत्पीड़न झेलने के बाद भी लेखिका ने अपना अस्तित्व बचाए रखा। इस आत्मकथा को पढ़ कर लेखिका के प्रति सम्मान की भावना आती है। लेखिका सहानुभूति नहीं चाहती वह सजग है समाज के प्रति, समय के प्रति। वह दलितों की स्थिति पर बौद्धिक विमर्श चाहती है। दया, सहानुभूति या तरस नहीं। वह आज से अस्सी वर्ष पूर्व के भारत में दलितों की स्थिति व आज के भारत में दलितों की स्थिति का तुलनात्मक विश्लेषण करती है तथा आज भी अपना संघर्ष जारी रखती है। एक समीक्षक ने इसे "तिहरा अभिशाप' अर्थात दलित अस्मिता विमर्श में स्त्री भी कहा है।'[2]

कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' एक ऐसी स्त्री की कहानी है जिसका आदि तथा अंत अति धनाढ्य परिवारों में बीता है। किंतु बीच का जीवन मध्यमवर्गीय जीवन स्तर में। आरंभ में अति वैभव–सम्पन्न माहौल में अपनी स्वतंत्रता के दो पलों को तरसती कुसुम 'पुरी' जब कुसुम 'अंसल' बन कर वैवाहिक जीवन में क़दम रखती हैं तो वहाँ मध्य वर्ग की चिंताएं समस्याऐं, सास, ननद के रिश्ते तथा आटे–दाल के भाव उसका स्वागत करते हैं।

यद्यपि बाद में लेखका का पति भारत के गिने चुने रईसों की पंक्ति में शामिल भी हो गया किंतु अपने आप को अभिव्यक्त कर पाने की एक कसमसाहट उनके भीतर कचोटती रही जिसे वे लेखन के ज़रिये अभिव्यक्त करने लगीं किंतु इस बीच भी बहुत कुछ अनकहा रह गया था जो लेखिका 'जो कहा नहीं गया' के माध्यम से अभिव्यक्त कर

---

1. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 104
2. हंस – जुलाई, 2000, बजरंग बिहारी तिवारी

पाई है। प्रसिद्ध नारीवादी लेखक अरविंद जैन ने अपनी पुस्तक 'औरत अस्तित्व और अस्मिता' में इसे 'जो सहा नहीं गया'[1] करार दिया है। जीवन को थोड़ा बहुत अपने तरीक़े से भी जी लेने की चाहत लेखिका में दिखाई देती है। किंतु उसके व्यक्तित्व के साथ चस्पां 'मिसेज अंसल' का लेबल उसे 'अंसल परिवार की आंशिक अभिव्यक्ति' मात्र मानता था। प्रकाशक कहते थे कि 'इस सेठानी को क्या ज़रूरत थी लेखिका बनने की'[2] यही 'सेठानी' तथा 'लेखिका' के बीच का संघर्ष इस आत्मकथा की केन्द्रीय संवेदना है।

पद्मा सचदेव की आत्मकथा बूंद बावड़ी का आरंभ ही संघर्षपूर्ण कष्टदायक अस्पताल प्रवास से होता है। लेखिका के जीवन में अस्पताल का बहुत महत्त्व है। जीवन के तीन महत्त्वपूर्ण वर्ष उठारह–उन्नीस–बीस उसने अस्पताल में ही बिताए। किशोर अवस्था में ही लेखिका ने ग़लत प्रेम में पड़ कर अपने से बारह वर्ष बड़े डोगरी के एक अख़बार के संपादक से विवाह कर लिया था जो सारा दिन नशे में धुत्त रहता था। किंतु लेखिका को उस व्यक्ति से इस हद तक प्रेम था कि उसने घर, संसार सब रिश्ते छोड़कर उस व्यक्ति से शादी की और उसके घर में रहने लगी। ससुराल में पति को छोड़कर सब रहते थे पति की रिहायश का कहीं ठिकाना नहीं था। ससुराल में ही गंदगी और अंधेरे तथा घुटन में रहते–रहते लेखिका को टी.बी. की बीमारी ने घेर लिया । उन दिनों (पचास के दशक में) टी.बी. एक असाध्य बीमारी थी तथा टी.बी. के मरीज के कोई पास भी नहीं फटकता था। लेखिका को ससुराल–मायका कहीं जगह नहीं मिली। उसे एक ख़ैराती अस्पताल में जाकर शरण लेनी पड़ी, जहाँ उसके अपने कोई उसके पास नहीं आते थे सिर्फ़ अस्पताल का स्टाफ था जिसने उसकी देखभाल की। इस प्रकार शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक यंत्रणाओं को लेखिका ने मात्र अठारह वर्ष की उम्र में झेला। यह अवधि तीन वर्ष तक खिंची। लेखिका जिंदादिल लड़की थी उसने यह दुख–दर्द तो झेल लिये किंतु अस्पताल से बाहर आने पर उसके लिये कोई जगह नहीं थी जहाँ वह जा सकती थी। "मेरी मां को मेरे वापस आने की चाह रही होगी पर और कोई जगह न थी जो मेरे बिना ख़ाली पड़ी हो।"[3] एक अल्पवयस्क लड़की जिसे न

---

1. औरत : अस्तित्व और अस्मिता, अरविंद जैन, पृ. 125
2. औरत : अस्तित्व और अस्मिता, अरविंद जैन, पृ. 129
3. बूंद–बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 29

ससुराल में जगह थी न पति के पास, न नौकरी थी। एक आम मध्यवर्गीय लड़की की मायके में वापसी कितनी कष्टदायक होती है यह सर्वविदित है।

अपने पति से तलाक़ लेने के बाद लेखिका का जीवन और भी दुष्कर हो गया। "रोज़ी–रोटी का दुख सबसे बड़ा मसला था, इधर उधर कवि सम्मेलन होता तो कुछ हाथ लग जाता।"[1] जम्मू के रेडियो स्टेशन में उसे अनुबंध नहीं मिले। किसी की सिफारिश लेकर उसे दिल्ली आकर नौकरी करनी पड़ी। रेडियो की नौकरी प्राप्त करने तथा उसे बनाए रखने की जद्दोज़हद में एक छोटे शहर से दिल्ली आई लड़की का विकट संघर्ष दिखाई पड़ता है। लेखिका अपनी किसी रिश्तेदार के घर रहती थी बाद में वह होस्टल चली गई। दिल्ली में उसे सड़क तक पार करना नहीं आता था। किंतु लेखिका निराश नहीं हुई थी वह लिखती है – "मुझमें एक उत्साह था। जीने की राह हमेशा रोटी से होकर निकलती है।"[2] अपने संघर्ष के दिनों में लेखिका फ़ैज़ की इस नज़्म से हिम्मत ग्रहण करती रही –

'चंद रोज़ और मेरी जान
फकत चंद ही रोज़
जुल्म की छवि में दम लेने को मजबूर हैं हम।
अपनी हिम्मत है कि
हम फिर भी जिये जाते हैं।'[3]

जम्मू के निकट छोटे से गाँव 'पुरमण्डल' की एक लड़की जो स्थानीय भाषा के सिवा कुछ न जानती हो, वह समाज के विरुद्ध जाके, तलाक़ लेकर, दिल्ली जैसे महानगर में रह कर, अपने जीने की राह स्वयं ढूंढ कर अपने जीवन को पुनर्स्थापित करती है। आज पद्मा सचदेव 'पद्मश्री' है। उनकी आत्मकथा पढ़ कर जीवन संघर्षों से हार न मानने वाली एक जीवट लड़की के व्यक्तित्व का पता चलता है।

---

1. बूंद–बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 220
2. – वही – पृ. 243
3. – वही – पृ. 235

अलग–अलग आत्मकथाओं का अनुशीलन करने से लेखक द्वारा उनमें व्यंजित किये गए जीवन का वर्णन पढ़ने से यह तथ्य अवश्य ही सम्प्रमाणित होता है कि 'जीवन' और 'संघर्ष' एक दूसरे के पर्याय हैं। विशेषतः जबकि व्यक्ति महत्त्वकांक्षी हो।

इन जीवन संघर्षों को पढ़ने से यह स्थिति स्पष्ट होती है कि संघर्ष के अनेक रूप होते हैं। व्यक्ति के आर्थिक, शैक्षणिक या रोज़गारोन्मुखी संघर्ष जहाँ अत्यंत मूर्त रूप में समाज के सामने प्रत्यक्ष रहते हैं वहीं अनेक अनंत प्रकार के मानसिक, मनोवैज्ञानिक विकार जन्य भी संघर्ष हो सकते हैं। 'प्रेम' की भावना के उन्मीलन से जहाँ किशोर वय का भावुक संघर्ष दुनिया की नज़रों में नासमझी का पर्याय है वहीं आत्मकथाकार के लिये वह तत्कालीन भावुकता भी जीवन–क्रम में महत्त्वपूर्ण सोपान बन जाती है। उससे उसका आगामी जीवन, जीवन के निर्णय गहरे प्रभावित होते हैं। उदाहरणार्थ पद्मा सचदेव के जीवन में किशोर वय का छोटा सा रोमांस शादी में परिणत होकर गंभीर परिवर्तन ले आता है। जबकि परिवारजनों या अन्य लोगों के लिये वह घटना इनकी किशोर वय की मूर्खता मात्र थी। हंसराज रहबर का संघर्ष साहित्य–राजनीति और समाज में फैली गलत धारणाओं के विरुद्ध जारी रहा, जबकि गैर–कम्युनिस्ट लेखकों या पाठकों के लिये यह बड़ा बचकाना संघर्ष है। क्योंकि 'ग़लत' की उनकी अपनी भिन्न अवधारणा है। जहाँ दलित लेखकों का एक बहुत ही प्रत्यक्ष एवं सर्वविदित संघर्ष सामने आता है वहीं कुसुम अंसल सब कुछ प्राप्त होते हुए भी जीवन में संघर्षरत रहती हैं। वे अपनी मनःस्थिति इस प्रकार अभिव्यक्त करती हैं – "इस संसार ने सुख और धनाढ्यता को एक दूसरे का पर्यायवाची मान लिया है – जैसे हर पैसे वाला पूर्ण सुखी है – मुझे लगा, अपने भीतर धुंआ–धुंआ होती इस 'इमोशन्स की पावर्टी' का क्या करूँ जो मेरे वजूद को चिथड़ा कर चुकी है।"[1] जाहिर है कि सुविधा ओर सुख एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं। इनकी आत्मकथा को पढ़कर एक अलग प्रकार के मानसिक संघर्ष का पता चलता है। कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा सभ्य सुशिक्षित समाज की उस कलई को खोलती है जिसमें एक तलाकशुदा स्त्री आत्मनिर्भरता के बावजूद सामान्य ज़िंदगी नहीं जी सकती है। यहाँ एक तथ्य उल्लेखनीय है कि जहाँ सभी पुरुष लेखकों को जीवन यापन करने के लिये

---

1. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 85

आर्थिक संघर्ष करना पड़ा तो महिला आत्मकथाकार भी इस संघर्ष से बच नहीं सकी हैं। कृष्णा अग्निहोत्री एवं पद्मा सचदेव को नौकरी प्राप्त करने और उसे स्थायी बनाने के लिये अनेक कष्ट उठाने पड़े। पद्मा जी को जहाँ रेडियो–स्टेशन समय पर पहुँचने के लिये कोयले के ट्रक तक में लिफ्ट लेनी पड़ी, वहीं कृष्णा अग्निहोत्री को बारिश में खेतों में से निकल कर महाविद्यालय पहुँचना पड़ता था। कौशल्या बैसंत्री चूंकि घरेलू महिला थी अतः नौकरी की तकलीफ तो उन्होंने नहीं झेली किंतु अपने छोटे–मोटे खर्चों के लिये पुत्र, माँ या बहन से छोटी–छोटी धनराशि उन्हें मांगनी पड़ती थी जिसका अत्यंत मार्मिक वर्णन है। शोधकार्य के दौरान बच्चन जी द्वारा किया गया शैक्षणिक, आर्थिक एवं मानसिक, शारीरिक संघर्ष उनके जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें अपनी आत्मकथा का पूरा एक खण्ड अलग से देना पड़ा है। तात्पर्य यह कि सभी आत्मकथाओं में जीवन की भिन्नता के कारण भिन्न–भिन्न प्रकार के संघर्ष दृष्टिगत होते हैं। जहाँ हिटलर अपने जीवन की कहानी का शीर्षक 'मेरा संघर्ष' देना पसंद करता है तो हेलेन केलर का पूरा जीवन ही संघर्ष का अप्रतिम उदाहरण है। "बालिका हैलेन केवल अंधी और बहरी ही नहीं थी वरन बहरेपन के कारण उसके बोलने की शक्ति भी मारी गई थी इसलिये वास्तव में ही उसका जीवन नीरव और अंधकारमय था।"[1] पाँच में से तीन ज्ञानेन्द्रियाँ खो देने के बाद भी उन्होंने जीवन में जो उपलब्धियाँ हासित की वे चमत्कृत कर देने वाली है तथा पाठकों को उत्प्रेरित करती हैं।

निस्संदेह आत्मकथा पढ़ने को प्रवृत्त होने के पीछे लेखकों का जीवन संघर्ष पाठक के लिये एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है। विपरीत परिस्थितियों में उन्होंने कैसा अनुभव किया, कैसा व्यवहार रखा तथा क्या निर्णय लिये यह पाठक को जीवन में हार न मानने की प्रेरणा देता है। दूसरों के जीवन के अंतरंग में झांकने के लिये आत्मकथा पढ़ने को प्रवृत्त होने की पाठक की इच्छा जहाँ मानवीय कमजोरी कही जाएगी वहीं लेखकों का जीवन संघर्ष उनका उदात्त चरित्र, लेखकीय ईमानदारी पाठक को प्रेरणा देते हैं, उसे और संवेदनशील तथा मज़बूत बनाते हैं। आत्मकथा पढ़कर मात्र पाठकीय संतोष ही नहीं प्राप्त होता बल्कि जीवन के अनुभव भी हस्तगत होते हैं।

---

1. मेरी जीवन गाथा – हेलन केलर, पृ. 9

दुनिया और साहित्यिक दुनिया का द्वन्द

साहित्यकार समाज से उत्प्रेरित होता रहता है। उसका साहित्यिक जीवन और सामाजिक जीवन समानान्तर चलते हैं किंतु समानान्तर चलने के बाद भी उनमें बीच–बीच में टकराव की स्थिति बन ही जाती है। ऐसे में लेखक को कभी साहित्यिक रूप संकुचित करना पड़ता है तो कभी सामाजिक रूप।

जहाँ साहित्य की अन्य विधाओं में लेखक अपनी मनोभावनाएं दूसरे पात्रों के साथ अभिव्यक्त करके समाज द्वारा उठाए आक्षेपों से छूट जाता है वहीं आत्मकथाकार को ऐसी छूट नहीं मिलती। वह जो कुछ भी लिख रहा है वह सीधे–सीधे उसी से जुड़ा है अतः ऐसे में सामाजिक रूढ़ियों, वर्जनाओं में बद्ध आत्मकथाकार अनेक बातों का उल्लेख करने से हिचकता हैं। उसे चाहे–अनचाहे, लज्जावश या भयवश परम्परागत सामाजिक नैतिकता कोद्व मान्यताओं और रूढ़ियों को सम्मान देना ही होता है। आत्मकथा लेखन में ईमानदारी चाहे जितना भी आवश्यक तत्व माना जाए किंतु लेखक के मस्तिष्क में भारतीय पारिवारिक व्यवस्था के नैतिक मानदण्ड भी चेतन रूप में सक्रिय होते हैं और उनकी अवहेलना कदापि नहीं की जा सकती। भारतीय सन्दर्भ में यह सामाजिक भय मानसिक मनोग्रंथि नही है बल्कि सामाजिक जिम्मेदारी है। यहाँ "सत्यं ब्रूयात, न ब्रूयातं अप्रिय सत्यं" जीवन का मूलमंत्र है, विशुद्ध सत्य भी अप्रिय होने की दशा में गुप्त रहना चाहिये। साहित्य समाज का दर्पण है, लेकिन साहित्य के दर्पण में पात्र का चेहरा बदल जाता है। आत्मकथा में व्यक्ति अपना चेहरा नहीं बदल सकता पर दर्पण के प्रतिबिंब की 'एडिटिंग' तो करता ही है, क्योंकि एक तो यथार्थ प्रत्यंकन से उसकी 'इमेज' खण्डित होती है तथा अगर वह यह दुस्साहस जुटा भी ले तो अपने से जुड़े अन्य व्यक्तियों के बारे में तो उसे अप्रिय सत्य लिखने का बिल्कुल अधिकार नहीं है। अधिकारिक तौर पर ही नहीं यह व्यवहारिक तौर पर भी अनुचित है। इससे क़ानूनी विवाद तो उत्पन्न हो ही सके हैं, किसी के सामाजिक जीवन पर भी आंच आ सकती है, इसलिये आत्मकथाकार को दुनिया और साहित्यिक दुनिया के द्वन्द में झूलना ही पड़ता है।

बड़े–बड़े साहित्यकार भी इस द्वन्द से नहीं बच पाते। इन आत्मकथाकारों की कथाएं भी बहुत से ऐसे तथ्य और सत्य अपने में संजोए हैं जो कुछ लोगों को अप्रिय भी लगे होंगे तो कुछ लोगों को सुखद। बच्चन ने यद्यपि अपने निर्भीक होने का दावा तो किया है – "बच्चन के दाग़, दोष, कमियाँ, त्रुटियाँ, संसार को मालूम ही हो जाएंगी तो क्या ? न देगी दुनिया जो देती रही हो, बस न।"[1]

यह निर्भीकता बच्चन ने अपने पत्रों के प्रकाशन के सन्दर्भ में व्यक्त की है किंतु आत्मकथा में आरम्भ में ही मानतेन के शब्दों में अपना मत प्रकट कर देते हैं – "मैं अपने गुण–दोष, जग जीवन के सम्मुख रखने जा रहा हूँ , पर ऐसी स्वाभाविक शैली में जो लोकशील से मर्यादित हो।"[2] यानी लोकशील की मर्यादा का ध्यान बच्चन को भी है और मानतेन को भी। जब लेखक इस मर्यादा का ध्यान नहीं रखता है तो वह विवादों से घिर जाता है। बच्चन की आत्मकथा में 'कर्नल–चंपा' प्रसंग और 'प्रकाशो' प्रसंग ऐसे ही उदाहरण हैं। यद्यपि 'बसेरे से दूर' मे इलाहाबाद में अपने विरोधियों–प्रतिद्वन्दियों के सबन्ध में बच्चन ने बिना नाम लिये ही अपनी तल्खी ज़ाहिर की है। वहाँ उन्होंने लोकशील की उपेक्षा नहीं की है। 'नीड़ का निर्माण फिर' में भी लेखक लोकशील में रहने को विवश हुआ है – वह कहता है – "किस चहबच्चे के बच्चे को मैंने चांद सा देखा है, आप नाम पता पूछना चाहेंगे तो मैं नहीं बताऊँगां यह मेरा लोकशील है जिसमें रहने का मैंने व्रत लिया है इन संस्मरणों को लिखने में।'[3] अन्य कई प्रसंगों में भी, 'अमुक', 'एक सज्जन' या 'मेरे परिचित कवि' लिखकर अप्रत्यक्ष रूप में घटना बताई गई है। ऐसा सामाजिकता के निर्वाह हेतु ही किया गया है।

सामाजिक और साहित्यिक जीवन के टकराव का एक प्रसंग मधुशाला को गांधी जी की सभा में पढ़ने पर देखने को मिलता है। इन्दौर में एक सभा में जिसका सभापतित्व गांधी जी कर रहे थे बच्चन ने 'मधुशाला' पढ़ी थी – "किसी ने गांधी जी से

---

1. दशद्वार से सोपान तक : बच्चन, पृ. 275
2. बच्चन की आत्मकथा के प्रत्येक खण्ड में आरभ में दिया गया मान्तेन का वक्तव्य।
3. नीड़ का निर्माण फिर – बच्चन, पृ.163

शिकायत कर दी कि जिस सम्मेलन में आप सभापति हों उसमें मदिरा का गुणगान किया जाए, बड़े आश्चर्य की बात है।"[1] यद्यपि गाँधी जी ने बच्चन से, मधुशाला के कुछ पद सुनने के बाद उन्हें 'मदिरा के गुणगान' के आरोप से बरी कर दिया किंतु मदिरा प्रेमी का ठप्पा तो उन पर लग ही गया।

इसी प्रकार पंतजी के पत्रों के प्रकाशन के मामले में भी लेखक को दुनिया और साहित्यिक दुनिया का टकराव झेलना पड़ा। बच्चन जी के पास पंतजी के तकरीबन सात सौ पत्र थे। जिनमें कुछ पत्र वे पंतजी की अनुमति से प्रकाशित करवा चुके थे। बाद में 1971 में बच्चन जी ने "पंतजी के दो सौ पत्र" इसी नाम से प्रकाशित करवाने चाहे। इस पर विवाद शुरू हुआ "पंतजी ने मुझको लिखा कि संकलन में से दस पत्र या तो निकाल दिये जाएं या उनमें से कुछ अंश जो वे कहें हटा दिये जाएं। ... मैं इसके लिये तैयार नहीं था। ... इससे नाराज़ होकर पंतजी ने अपने वकील के द्वारा इलाहाबाद जिला जज की कचहरी में मेरे ख़िलाफ़ मुक़दमा दायर कर दिया। ... मुकदमा दायर करने और प्रतिबंध लगवाने की ख़पर पंतजी ने अख़बारों में भी छपवा दी।"[2]

अंत में यद्यपि पंतजी ने अपना मुक़दमा वापस भी लिया और पुस्तक जिस रूप में छपी थी उसी में बिकती भी रही। किंतु एक साहित्यिक विवाद के क़ानूनी विवाद बनने की इस सारी प्रक्रिया में बच्चन और पंत जी की मित्रता ख़त्म हो गई। साहित्यिक कारणों से बच्चन पत्रों मे कांट–छांट न चाहते थे जबकि सामाजिक कारणों से पंत जी ऐसा चाहते थे। ऐसा ही विवादास्पद मसला बच्चन की आत्मकथा के प्रत्युत्तर में प्रकाशवती पाल का 'लाहौर से लखनऊ तक' पुस्तक लिखना भी है। यद्यपि यहाँ मामला न्यायालय तक नहीं गया हालांकि सामाजिक प्रश्न तो उठे ही ! जिन पर हम आगे 'ज्ञापन और गोपन' में चर्चा करेंगे।

---

1. क्या भूलूं क्या याद करूँ – बच्चन , पृ. 309
2. दशद्वार से सोपान तक : बच्चन, पृ. 274–275

हंसराज रहबर चूंकि साहित्यकार कम और पार्टी कार्यकर्ता ज़्यादा थे अत उनकी आत्मकथा 'मेरे सात जन्म' में सामाजिकता और साहित्यिकता की जगह सामाजिकता और राजनीतिक विचारधारा की लड़ाई ज़्यादा नज़र आती है फिर भी चूंकि उनका साहित्य प्रतिबद्ध साहित्य है अतः समाज से, दुनिया से, पारिवारिक ज़रूरतों से साहित्य लेखन के टकराव जगह–जगह दिंखाई पड़ते हैं। लेखक ने ऐसा ही एक वर्णन 'अदबे–लतीफ़' पत्रिका में अपनी कहानी के प्रकाशन के सन्दर्भ में किया है जिसके एवज़ में प्रकाशन ने उन्हें पेशगी तीस रूपये का चेक काट कर दे दिया था किंतु साथ ही कहानी में परिवर्तन की पेशकश भी की। "हम आपकी कहानी सालाना नम्बर में छाप रहे हैं लेकिन इसके मुताल्लिक मेरा एक छोटा सा सुझाव है अगर आप इसे मान लें तो मेरा ख़्याल है कि कहानी और बेहतर बन जाएगी।"[1] ... ऐसे अवसरों पर व्यक्ति के भीतर का दुनियादार आदमी उसे बिना विरोध किये सलाह मान लेने को कहता है किंतु उसका साहित्यकार रूप अड़ जाता है – "सुझाव के लिये बहुत–बहुत शुक्रिया ... मगर उस सूरत में कहानी मेरी न रहकर आपकी बन जाएगी।"[2] ऐसा ही कहानी में परिवर्तन करने का सुझाव 'नया दौर' के सम्पादक शाहीन शाहिद ने भी लेखक को दिया जिसके जवाब में लेखक ने बेरुख़ी से उन्हें लिख भेजा कि – "जैसे विक्रमादित्य की कहानी में जो भी गड़रिया टीले पर बैठता था उसमें इंसाफ करने की काबिलियत अपने आप आ जाती थी – हमारे इस ज़माने में जो कोई भी एडीटर की कुर्सी पर बैठ जाता है उसमें अदीबों को मशविरा देने की काबिलियत अपने आप ही आ जाती है।"[3]

इस प्रकार साहित्यिक समझौते न करने की लेखक की प्रवृत्ति के कारण उसे काफ़ी आर्थिक कठिनाईयाँ उठानी पड़ीं। 'हंस' के संपादक अमृत राय जोकि प्रेमचंद के पुत्र थे उनसे भी लेखक का विवाद हुआ। इससे प्रकाशन से मिलने वाला पारिश्रमिक नहीं मिल पाता था किंतु लेखक स्वयं के लिये लिखता है कि 'हालात ने मुझे मुजाहिद बना

---

1. मेरे सात जन्म, (भाग–3) : हंसराज रहबर, पृ. 152
2. – वही – पृ. 153
3. – वही – पृ. 155

दिया था मेरे जिहाद में लचक नाम की चीज़ जिसे दूसरे शब्दों में मसलहत पसंदी, दूरान्देशी कहते है बिल्कुल नहीं थी।'[1]

वस्तुतः यह 'दूरान्देशी' समझौतावाद का ही दूसरा नाम है। एक ज़िम्मेवार साहित्यकार विचारधारा से प्रतिबद्ध रहता है किंतु एक पति–पिता या भाई के रूप में जो उसकी दूसरी ज़िम्मेदारियाँ होती हैं वे उसे समझौता करने पर मज़बूर कर देती हैं। ज़रूरी नहीं कि ये मजबूरी हमेशा आर्थिक ही हों महिला लेखकों के सम्मुख यह मजबूरी संकोच के रूप में आती है। पाश्चात्य लेखिका जेन कार्लाइल ने लिखा है – "यदि वह अपने जीवन की कहानी को बिना किसी संकोच एवं ग़लत रंगों के प्रयोग से बता सकती तो इंग्लैण्ड की महिलाओं के लिये वह अमूल्य दस्तावेज़ दे सकती थी परंतु शील का भय उसे वर्जित करता है।"[2]

निश्चय ही पुरुषों की तुलना में महिलाओ को कई प्रकार की सामाजिक दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता है – घर–बार, परिवेश, विषयगत संकोच, वर्गगत असमान स्थिति इत्यादि ! लेखिका कौशल्या बैसंत्री ने 'दोहरा अभिशाप' की भूमिका में स्पष्ट शब्दों में लिखा है – "मैंने अपने अनुभव खुले मन से लिखे हैं, पुरुष प्रधान समाज औरतों का खुलापन बर्दाश्त नहीं कर पाता, पति तो इस ताक में रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिये चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दें। पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज़ हो सकते हैं। परंतु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिये कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूं। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं के आए होंगे परंतु वे समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती और जीवन भर घुटन में जीती हैं।"[3]

---

1. मेरे सात जन्म : हंसराज रहबर, पृ. 155
2. हिन्दी आत्मकथाएं : सिद्धांत ओर स्वरूप विश्लेषण, पृ. 368
3. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री (भूमिका से)

कुसुम अंसल चूंकि अतिधनाढ्य बिल्डर पति की पत्नी है अतः नितांत धन–संपदा–ऐश्वर्य के साथ लेखन की दुनिया में सामंजस्य बैठाना उनके लिये और भी दुष्कर कार्य रहा। जो कि मध्यवर्गीय परिवार की स्त्री के लिये कम दुष्कर रहता है। इन्होंने धनसम्पन्न परिवार की स्त्री होकर लेखन जैसा क्षेत्र अपनाने की जो क़ीमत चुकाई है उसका एक अनुभव लिखते हुए कहती हैं "मुझे याद है मैं एक बार हिंदुस्तान टाइम्स में साप्ताहिक के लिये अपनी एक कहानी लेकर गई थी, वहाँ के एक सम्पादक ने अविश्वास से कहानी पर लिखे मेरे नाम को और मुझे देखा, खिड़की से बाहर खड़े 'अंसल भवन' पर दृष्टि डाली, फिर हंसकर कहा – 'इस सेठानी को क्या आवश्यकता पड़ी थी, लेखिका बनने की इन्हें शायद पता नहीं है ये शौक़ की चीज़ नहीं है, जोखिम का काम है।"[1] मध्य–वित्त अवस्था वाले हिन्दी लेखक समूह में कुसुम अंसल की उपस्थिति असामान्य तो है ही। इसलिये ऐसे में उपरोक्त प्रकार की टिप्पणियाँ अप्रत्याशित नहीं हैं। बहुत जगह लोग उनकी आर्थिक सम्पन्नता का फायदा उठा सकते हैं उठाते ही हैं – बहुत बार रचना की समालोचना करते समय भी प्रबुद्ध वर्ग, लेखक के व्यक्तित्व को दृष्टि में रखते हैं।

"आलोचकों ने मेरे उपन्यास को वर्ण व्यवस्था या वर्ग व्यवस्था के आधार पर एक खास कटघरे में खड़ा कर दिया जहाँ मेरा अपना व्यक्तित्व उपन्यास पर हावी होकर उसे कमज़ोर बनाता चला गया। जो लोग अपने उच्च दर्शन और मानसिक उदारता के परचम उड़ाए घूमते थे, वही पथ प्रदर्शक हमारे हिन्दी के लेखक, उदारता और सही दृष्टि का उपयोग करना भूल गए थे।"[2] निश्चय ही साहित्यिक वर्ग उनके पैसे के कारण उनका मूल्यांकन उचित कसौटी पर नहीं कर पाया। यहाँ तक कि कान्स्टीट्यूशनल क्लब के कमरे का किराया जो कि हमेशा लेखिका संघ के खाते से दिया जाता था, वह भी कुसुम अंसल से वसूल किया गया उनकी पारिवारिक स्थिति लेखकीय स्थिति पर हावी ही रहीं।

---

1. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 84
2. – वही – पृ. 85

राजनीति या दुनियादारी, लेखक पर किस क़दर हावी रहती है, यह भी इससे पता चलता है कि लेखिका के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'पंचवटी' में भी संवाद लेखन में निर्देशक बासु भट्टाचार्य का नाम भी जुड़ गया।

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' से पता चलता है कि उनके साहित्यिक जीवन पर सदा ही उनका सामाजिक जीवन हावी रहा। लेखिका चूंकि तलाक शुदा थी अतः उनके लिये सामाजिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में राह आसान नहीं थीं। पुस्तक की भूमिका में ही लेखिका अपने अनुभवों की कटुता इस प्रकार अभिव्यक्त करती है – 'प्रगति के नगाड़े बजाकर इक्कीसवीं सदी तक पहुँच जाने वाला भारतीय पुरुष समाज अब भी बुद्धिजीवी, कलाकार, प्रतिभाशील महिला और साहित्यकार की वास्तविक सम्माननीय दृष्टि से नहीं देखता। उसके लिये वह इस्तेमाल की वस्तु है ... समाज की संरचना में अभी तक यह संभावना नहीं है कि वह मेरे जैसी तिल–तिल गलकर साहित्य सृजन करने वाली स्त्री को क्षणिक सुखों का माध्यम न मानें। समाज की दृष्टि में हमें चरित्रहीन करार करने का हर अंदेशा छुपा रहता है।"[1]

लेखिका ने ऐसे बहुत से उदाहरण दिये हैं जब उन्हें अकेली स्त्री होने के कारण साहित्यिक जगत् में दुविधा का सामना करना पड़ा तथा साहित्यकार होने के कारण समाज में अच्छी नज़रों से नहीं देखा गया। "दुनिया तो स्त्री को जीने ही नहीं देना चाहती और जो नारी दुस्साहस करती है उसे वह जितना भी दण्डित कर सकती है करती है।"[2] महाविद्यालय की प्राचार्या ने भी उनके साथ सहानुभूति नहीं रखी। सामाजिक भय लेखन के क्षेत्र पर इतना हावी रहता कि बहुत जगह कृष्णा अग्निहोत्री लोगों के नाम पूरे न लिखकर मात्र, शि.,अ.,नि. इत्यादि सांकेतिक रूप ही दे पाई हैं।

पद्मा सचदेव की आत्मकथा 'बूंद बावड़ी' में यद्यपि ऐसे प्रसंग कम हैं किंतु कुसुम अंसल की ही भांति इनके लिखे एक फिल्मी गीत पर दूसरे लेखक का नाम जाने

---

1. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, भूमिका
2. – वही – पृ. 149

का इसके ज़िक्र है। कमलेश्वर की आत्मकथा 'यादों के चिराग़' में भी ऐसा वर्णन मिलता है कि 'आंधी' फिल्म की कहानी उनके 'काली आंधी' उपन्यास पर आधारित है जबकि फिल्म में नाम गुलज़ार का है। महिला आत्मकथाकारों के साहित्यिक जीवन तथा पारिवारिक जीवन के द्वन्द पर हम अपने पांचवे अध्याय में विस्तार से चर्चा करेंगे।

इसी प्रकार डॉक्टर देवराज उपाध्याय की आत्मकथा 'यौवन के द्वार पर' तथा वृन्दावन लाल वर्मा की आत्मकथा 'अपनी कहानी' में भी साहित्यिक और निजी या सामाजिक जीवन से सम्बद्ध पारिवारिक या भावनात्मक घटनाओं एवं मनःस्थितियों का अभाव मिलता है। वृन्दावन लाल वर्मा जी की आत्मकथा से मुख्यतः उनके, गांधीवादी समाजसेवक, देशभक्त लेखक एवं पीताम्बरा पीठ के आचार्य श्री के शिष्य रूप की झलकियाँ अधिक मिलती हैं। देशभक्त रूप ने ही उन्हें साहित्य की ओर प्रेरित किया, विशेषतः ऐतिहासिक साहित्य की ओर ! बचपन में अंग्रेज़ी में पढ़ाए गए भारत के पक्षपातपूर्ण इतिहास से क्रुद्ध होकर लेखक पुस्तक का वह पृष्ठ फाड़कर इतिहास के अध्ययन की ओर उन्मुख हुआ तथा उसने प्रतिज्ञा की – 'पढूँगा, ज़रूर पढ़ूँगा और खोज करूँगा।' वे लिखते हैं – इतिहास के अध्ययन की ओर रुचि उसी दिन से हुई। मैंने निश्चय किया कि ख़ूब पढूँगा और इन झूठी पुस्तकों की कलई खोलने के लिये कुछ लिखूंगा भी।"[1]

इस प्रकार ग़लत इतिहास लेखन पढ़कर प्रतिशोधवश लेखक ने न केवल इतिहास का गहन अध्ययन किया बल्कि अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना भी की। मृगनयनी, गढ़कुंडार, विराटा की पद्मिनी आदि रचनाएं उसी अध्ययन का प्रतिफल है। इस प्रकार एक छोटी सी घटना ने लेखक के भीतर का रचनाकार एवं इतिहासकार जागृत किया साथ ही लेखक के जीवन को इतना उदात्त भी बनाया कि लेखक को क्षुद्र सामाजिक अवरोध प्रभावित नहीं कर सकें।

---

1. अपनी कहानी – वृन्दावन लाल वर्मा, पृ. 18

डॉ. देवराज उपाध्याय ने दो आत्मकथाएं लिखी हैं 'बचपन के दो दिन' तथा 'यौवन के द्वार पर' जहाँ 'बचपन के दो दिन' में लेखक ने मात्र अपनी बाल्यावस्था का वर्णन किया है वहीं 'यौवन के द्वार पर' कृति में मूलतः यौवन की ओर उन्मुख लेखक की मानसिकता दर्शाई गई है। एक सौ अट्ठाईस पृष्ठों की यह आत्मकथा तीन खण्डों में विभक्त है। वस्तुतः यह आत्मकथा भी खण्ड आत्मकथा है इसमें लेखक ने अपना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। डॉ. नगेन्द्र की आत्मकथा 'अर्धकथा' जीवन की समग्र कथा न होकर खण्डशः संस्मरण श्रृंखला है। जिसमें अपना, दिल्ली विश्वविद्यालय का, परिवार का, पुत्रियों का स्थूलतः वर्गीकरण किया गया है। वैचारिक विमर्श या चिंतन–मनन न करके ब्यौरा मात्र दिया गया है अतः जीवन संघर्ष मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। लेखक स्वयं लिखता हे कि उसके जीवन में कभी कोई विपरीत परिस्थिति नहीं आई – "अतीत जीवन में रोग शोक की कोई असामान्य घटना नहीं हुई। सामान्य जीवन भी प्रायः सुख सरल ही रहा है। भगवान नें कुछ एक से कम दिया है तो अनेक से अधिक दे दिया है।"[1] अतः पाठक को इनकी पुस्तक में सामाजिक और साहित्यिक स्तर पर कोई उल्लेखनीय द्वन्द नहीं मिलता है।

इसी प्रकार अमृतलाल नागर की आत्मकथा 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान भी खण्ड आत्मकथा है। इससे लेखक के समग्र जीवनानुभवों की जानकारी तो नहीं मिलती किंतु कुछेक प्रसंगों से ही साहित्य और दुनियावी जीवन के द्वन्द का पता अवश्य ही चलता है। लेखक अत्यंत मलाल के साथ लिखता है कि –

"यह सच है कि साहित्य के लिये लिखकर इस देश में ख़ास तौर पर हिन्दी में, घर गृहस्थी चलाने लायक कमाई नहीं हो पाती। परन्तु इसके साथ ही यह भी सच है कि साहित्य लेखन कार्य भी एक कार्य है और वह साहित्यिक से अपने लिये समय और लगन मांगता है।"[2]

---

1. अर्धकथा – डॉक्टर नगेन्द्र, पृ. 171
2. टुकड़े–टुकड़े दास्तान – अमृतलाल नागर, पृ. 133

डॉक्टर, वकील, व्यापारी, अफसर इत्यादि पेशों का हवाला देकर लेखक लिखता है कि अगर ये अपने व्यवसाय में पूर्णतः डूबते हैं तो इसका समुचित प्रतिफल उन्हें मिलता है। किंतु अगर लेखक , लेखन में पूर्णतः डूबता है तो – "दुर्भाग्यवश हमारा काम हमें गुज़ारे लायक पैसा नहीं देता।"[1]

'मैं क्यों लिखता हूँ' शीर्षक अध्याय में भी लेखक ने साहित्य लेखन के मूल में सामाजिक जिम्मेदारियों के निर्वाह हेतु धनार्जन की आकांक्षा के सत्य को स्वीकार किया है। 'नए चरित्रों और पात्रों की खोज' अध्याय में लेखक ने एक प्रसंग बताया है जिसमें एक सत्य घटना को कहानी का प्लाट बना देने के कारण उनके मित्र की भतीजी को ससुराल में कोपभाजन बनना पड़ा। लेखक को कहानी लिखने पर परिवार के बड़े लोगों की नाराज़गी झेलनी पड़ी। इस प्रकार का विवाद प्रेमचंद जी को भी 'मोटेराम शास्त्री' नाम कहानी के पात्र की किसी व्यक्ति विशेष से समानता होने के कारण झेलना पड़ा था। अमृतलाल नागर इस बारे में अपनी आत्मकथा में बड़ी सजगता से लिखते हैं – "मैं पेशे और कर्म से उपन्यास लेखक हूँ यह ठीक है, पर इसके अतिरिक्त कईयों का सगा संबंधी हूँ, पड़ोसी हूँ, मुहल्लेदार हूँ, नागरिक हूँ, खून से लेकर प्रेम तक मेरे नाते रिश्ते भी आम लोगों के समान ही फैले हुए हैं। मैं अपने घर में घर–गृहस्थी की बात करने पर भी मजबूर हूँ।"[2]

गोपाल प्रसाद व्यास की आत्मकथा में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जब उनकी सामाजिक महत्वकांक्षा उनके साहित्यिक रूप से टकरा गई एवं उनके स्वप्न उनके साहित्य की वजह से चूर–चूर हो गए। लालबहादुर शास्त्री जी ने व्यास जी को राज्यसभा के लिये नामांकित किया था। लेखक स्वयं भी इस सदस्यता के लिये बहुत इच्छुक एवं प्रयत्नशील था किंतु उसकी एक कविता ने उससे यह पद मिलने से पहले ही छीन लिया। "परंतु वह घड़ी नहीं आई और शास्त्री जी चले गए। मुझे कुछ लोगों ने बाद में बताया कि गृह मंत्रालय की संभावित सूची में उन्होंने मेरा नाम भी दर्ज़ करवा दिया था, बाद में इन्दिरा

---

1. टुकड़े–टुकड़े दास्तान – अमृतलाल नागर, पृ. 133
2. – वही – पृ. 154

जी भी उसे नहीं काटती, लेकिन मेरी एक कविता ही कदाचित् उसे ले बैठी –

मियाँ अय्यूब क्या कश्मीर को ननिहाल समझा है
परोसा थाल समझा है, मुफ्त का माल समझा है
गए वे दिन कि जब गदहों को डाली घास जाती थी
अमां क्या शास्त्री जी को जवाहरलाल समझा है।

ऐसी पंक्तियों को लिखने वाला इंदिरा युग में राज्यसभा का सदस्य बनने की उम्मीद कैसे कर सकता था ?"[1]

इसी प्रकार आगरा विश्वविद्यालय से डाक्टरेट मिलने के अवसर पर भी व्यास जी को अपनी एक कविता न चाहते हुए भी जनता की बेहद माँग पर सुनानी पड़ी एवं आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री बालकृष्ण राव ने उसे अपने पर व्यक्तिगत आक्षेप समझा तथा "सारा गुड़ गोबर हो गया, होते–होते डाक्टरेट की घोषणा रुक गई।"[2]

निश्चय ही उनकी कविताओं से उन्हें कैरियर में भारी नुकसान उठाना पड़ा है। यहाँ तक कि जिन्ना के विरोध में एक बार कुछ लिखने पर अलीगढ़ विश्वविद्यालय के छात्रों ने उन पर प्राणघातक हमला भी किया। विचारधारात्मक विरोध दैनिक सामाजिक जीवन में कितना प्रभाव डालते हैं इसका जिक्र – "जिन्ना पर लिखा, जान पर बन आई" लेख में किया गया है।

साहित्यकार को लोकप्रिय सत्य लिखने के कारण कभी–कभी विकट परिस्थितियों का सामना भी करना पड़ जाता है यह इनकी आत्मकथा से स्पष्ट होता है। जाहिर है लेखक एक ज़िम्मेदार सामाजिक भी होता है। लेखन कार्य हिमालय की कंदरा में बैठ कर तपश्चर्या करना नहीं है, उसके लिये समाज में रहना अत्यावश्यक है। यहीं से रचनाकार को पात्र, कथावस्तु इत्यादि की प्राप्ति होती है अतः समाज एक आवश्यक बुराई की तरह लेखनकार्य हेतु आवश्यक है। समाज से लेखक को जहाँ अनेक प्रकार के अवरोध, भय, उत्तरदायित्व, मनोग्रंथियों के रूप में मिलते हैं वहीं लेखन का कच्चा माल भी समाज के संसर्ग से ही प्राप्त होता है। लेखकीय दुनिया और सामाजिक दुनिया एक दूसरे को पोषित करती है और शोषित भी।

---

1. कहो व्यास कैसी कटी – गोपाल प्रसाद व्यास, पृ. 220–221
2. – वही – पृ. 224

ज्ञापन और गोपन

किसी भी आत्मकथा का सर्वाधिक प्रमाणिक एवं विश्वसनीय सूत्र मात्र स्वयं आत्मकथाकार ही होता है। अलग–अलग भावजगत् तथा अलग–अलग कर्मजगत की कथाएं होने के बावजूद भी आत्मकथाओं की गुणवत्ता की एक प्रमुख कसौटी 'सच' होती है। आत्मकथा में वर्णित सभी घटनाओं या उनके सन्दर्भ सूत्रों का एकमात्र प्रमाणिक दावेदार लेखक होता है। आत्मकथा के पाठकों की जिज्ञासा का केन्द्र बिंदु भी यही रहता है कि लेखक अपने आत्मप्रकाशन में कितना ज्ञापित करता हे और कितना गुप्त रख जाता है। यह भी सच है कि 'सच' के उद्घाटन – निरूपण की प्रक्रिया में आत्मकथाकार को कई बार मानसिक दुविधा से भी गुजरना पड़ता है।

पं. जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा 'मेरी कहानी' में शुरुआत ही इस उहापोह की अभिव्यक्ति से की गई है। उन्होंने अब्राहम काउली के इन शब्दों का सहारा लिया है – "अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी, क्योंकि अपनी बुराई या निंदा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है और अगर अपनी तारीफ करें तो पाठकों को उसे सुनना नागवार मालूम होता है।"[1]

किंतु स्वयं की और पाठक की दोनों की संतुष्टि को मद्देनज़र रख कर लिखे जाने के कारण ही आत्मकथा की सत्यता पर प्रश्नचिन्ह भी लग सकते हैं।

इस संबंध में राही मासूम रज़ा की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है – " ... इसलिये मैंने तय किया है कि मैं आत्मकथा नहीं लिखूंगा। मुझे लगता है कि आत्मकथा में लोग आमतौर से झूठ बोलते हैं। वरना एक–एक सांस का हिसाब किसे याद रह सकता है। किसने अपने आंसू गिने या मुस्कराहटों का अकाउण्ट रखा है ?'[2]

---

1. मेरी कहानी – पं. जवाहरलाल नेहरू, पृ. 15
2. रविवार – 6–12 नवम्बर, 1977, संपादक एम.जे. अकबर, पृ. 24

यह तो बात स्मृति की भूल की हुई किंतु लेखक स्मरण शक्ति पर ज़ोर डालता है अथवा विस्मरण शक्ति पर यह उसकी स्वयं की इच्छा पर निर्भर करता है। इसीलिये राही मासूम रज़ा आगे कहते हैं कि – "जीवनियाँ इनकम टैक्स के अकाउण्ट की तरह होती हैं जिसमें लेखक ब्लैक को व्हाइट करने की तिकड़में करता है और अपने अकाउण्ट की साख जमाने के लिये 'कनफेस' कर लेता है कि इतना ब्लैक उसने ज़रूर किया और पढ़ने वाला उसी को ले उड़ता है कि साहब लेखक कितना बेबाक और बेधड़क है।"[1]

उपरोक्त उदाहरण से आत्मकथा में सत्यनिरूपण की प्रक्रिया में दो बाधाएं आने का पता चलता है एक तो स्मृति की कमज़ोरी से कुछ भूल जाने की समस्या तथा दूसरी आत्मछवि खण्डित न हो जाए, प्रशंसकों की श्रद्धा न समाप्त हो जाए इस भय से कुछ सायास भुला देने एवं कुछ अनावश्यक बना देने की कोशिश ! इस याद रखने और भुला देने की कवायद को ही हमने 'ज्ञापन' और 'गोपन' नाम दिये हैं। अगर बच्चन के शब्दों का सहारा लें तो यह ज्ञापन और गोपन 'क्या भूलूं क्या याद करूं' भी हो सकता है। हम बच्चन की आत्मकथा के प्रथम खण्ड से ही शुरुआत कर सकते हैं। लेखक ने इसे शीर्षक ही द्वन्दात्मक दिया है "क्या भूलूं क्या याद करूँ। ग़ौरतलब है कि लेखक 'क्या भूला' नहीं कह रहा है वह द्वन्द में है कि क्या भूलूं (भुला दूँ) क्या याद करूं ? जो याद है वह महत्त्वपूर्ण नहीं है, आत्मप्रस्तुति करते समय क्या विशेषतः याद रखना चाहिये वह महत्त्वपूर्ण है। घटित होते समय घटनाएं उतनी महत्त्वपूर्ण या महत्त्वहीन नहीं रहती हैं जितनी कि प्रस्तुत करते समय। यही पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण आत्मकथा को विवादास्पद बना देता है।

बच्चन इस कृति की भूमिका में पाठकों के सामने 'अपने हृदय पर हाथ रखकर' कहते हैं और 'कलाकार के लिये इससे बड़ी सौगंध' भी कुछ नहीं है' कि उन्होंने कुछ भी ऐसा नहीं लिखा जो उनके अपने 'अंतर से नहीं उठा, जो उसमें नहीं उमड़ा घुमड़ा।'[2]

---

1. रविवार – 6–12 नवम्बर, 1977, संपादक एम.जे. अकबर, पृ. 24
2. क्या भूलूं क्या याद करूं – बच्चन, पृ. 7

अपनी आत्मकथा में प्रारंभिक डेढ़ सौ पृष्ठों में लेखक अपनी जाति के इतिहास, वंश–वर्णन, पूर्व–पुरुषों की यशोगाथा, अपनी जाति के अन्य महापुरुषों की यशोगाथा का जो भरपूर ज्ञापन करता है उससे लेखक के जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अमोढ़ा के कायस्थों का अवश्य ही विस्तृत विज्ञापन होता है।

बच्चन ने इसमें अपने क्लर्क, अध्यापक, पत्रकार बनते–बनते साहित्यकार बनने की घटनाएँ तो दर्शाई हैं जिससे उनके जीवन की घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। किंतु इस सारे सतही वर्णन के अतिरिक्त जीवन का विश्लेषण नहीं किया है। आत्मकथा की क्या गुणवत्ता होती है इस पर प्रकाश डालते हुए डॉ. कमलेश सिंह कहती हैं –

"जहाँ तक कथा का संबंध है, एक सतही ढंग से अपने जीवन की सब घटनाएं लेखक ने ईमानदारी से प्रस्तुत कर दी हैं। आत्मकथा लेखक की महानता इसमें नहीं है कि वह अपने जीवन की सब घटनाएं ज्यों–की–त्यों कह डाले, अपितु वह महानता इसमें है कि अपने जीवन को कितनी अर्थवत्ता दे पाया है ? बच्चन जी जीवन के उन क्षणों में, जिन्हें परीक्षा के क्षण कह सकते हैं, उस छटपटाहट तक नहीं पहुँच सके जो उन्हें व्यक्ति की त्रासदी तक पहुँचाने वाला बनाती। ये परीक्षा के क्षण उनके जीवन में केवल दो हैं – एक तो कर्कल चंपा प्रसंग – दूसरा 'श्रीकृष्ण प्रकाशो प्रसंग।"[1]

जहाँ तक कर्कल से तथा बाद में उसकी पत्नी चंपा से लेखक ने अपने जिन भी संबंधों का वर्णन किया है उनकी प्रमाणिकता पर हम कोई टिप्पणी नहीं कर सकेंगे क्योंकि चंपा या कर्कल अब इस घटना पर कुछ भी बताने को प्रस्तुत नहीं हैं, हाँ इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि लेखक को दूसरों के बारे में इतना कुछ लिखने से बचना चाहिये क्योंकि वे घटनाऐं सिर्फ उसकी रामकहानी नहीं है दूसरे भी उनसे जुड़े हैं। ख़ैर ... प्रकाशो प्रसंग में अवश्य ही बच्चन जी कटघरे में आ जाते हैं क्योकि एक तो प्रकाशो के प्रसंग के समय उनकी प्रथम पत्नी श्यामा भी जीवित थी जिससे कि लेखक अपना अथाह प्यार दर्शाता है एवं जीवन में उसकी अनिवार्यता पर ज़ोर भी देता है।

---

1. हिंदी आत्मकथा : स्वरूप और साहित्य – कमलेश सिंह, पृ. 195

(हालांकि उससे विवाद की तिथि को भूल जाता है)[1] अगर घर में बीमार पत्नी की मौजूदगी में भी बच्चन जी प्रकाशो की तरफ आकर्षित होते हैं तो इसका सीधा–सादा अर्थ है कि या तो उनका श्यामा के प्रति प्रेम झूठा है या फिर प्रकाशो का प्रसंग ही झूठा है।

महिलाओं विशेषकर दूसरों की पत्नियों के प्रति लिखते वक़्त अगर आत्मकथा को सच का उगालदान न समझा जाए तो ही बेहतर है। सौभाग्य से इस सारे घटनाक्रम की भोक्ता पात्र श्रीमती प्रकाशवती आत्मकथा के छपने के समय जीवित थी एवं उनकी आत्मकथात्मक पुस्तक 'लाहौर से लखनऊ तक में' बच्चन जी का ज़ोरदार खण्डन हमें मिल जाता है।

अपनी पुस्तक "लाहौर से लखनऊ तक" में श्रीमती प्रकाशवती ने बच्चन के द्वारा दिये गए तथ्यों का सप्रमाण विरोध किया है तथा लिखा है कि "अपने संस्मरणों में बच्चन अधिकतर भूलते और बहुत कम याद रख पाते लगते हैं।"[2]

अपने चरित्र पर आघात करने पर श्रीमती प्रकाशवती को कितना दुःख पहुँचा इसका पता उनके इस स्पष्टीकरण से स्वतः ही चल जाता है – "अपने संस्मरणों में बच्चन ने सच्चाई न छिपा कर सब कुछ कह देने का विश्वास दिलाया है। औरों के बारे में क्या कह सकती हूँ पर मेरे सम्बन्ध में उन्होंने अपनी कल्पना को खुली छूट दे दी है और यही बात श्रीकृष्ण के संबंध में सत्य है। ऐसा पोएटिक लाइसेंस कविता की रचना में स्वीकृत या क्षम्य हो सकता है, किसी के चरित्र पर आघात करने या किसी की छीछालेदर करने पर नहीं। तिस पर जो चाहे भूलनें और जैसे चाहे याद रखने की उनकी अद्‌भुत क्षमता की दाद देनी पड़ती है।"[3]

श्रीमती प्रकाशवती से अपनी पहली भेंट का बच्चन ने जो ब्यौरा दिया है उसे लेखिका ने सिरे से ग़लत साबित किया है, साथ ही उन्होंने यह भी लिखा है – "जो व्यक्ति मुझसे पहली भेंट की बात इतने विश्वास से इतनी ग़लत लिख सकता है,

---

1. क्या भूलूं क्या याद करूं – बच्चन, पृ. 228
2. लाहौर से लखनऊ तक – श्रीमती प्रकाशवती पाल, पृ. 79
3. लाहौर से लखनऊ तक – श्रीमती प्रकाशवती पाल, पृ. 78

काल्पनिक देशकाल की ही नहीं, काल्पनिक पात्रों की भी रचना कर सकता है, उसको मेरी मनःस्थिति या मेरे संघर्षों का कितना ज्ञान या कितनी समझ हो सकती है इसका निर्णय पाठक ही करेंगे। बच्चन का कहना है कि मैं श्रीकृष्ण के जीवन की समस्या थी (पृ. 277) तथा उन्होंने मुझे 'विरह विधुरा सी' बैठे देखा था। बच्चन को पता होना चाहिये और पता था कि मैं एक कर्मठ लड़की थी ब्रिटिश सरकार की जड़ें हिला देना चाहती थी। यशपाल जी के गिरफ़्तार होते ही दल के साथियों द्वारा उनकी नेता चुनी गई थीं।"[1]

चूंकि श्रीमती प्रकाशवती एक क्रांतिकारी महिला थीं अतएव बच्चन के द्वारा लगाए गए आरोपों का उन्होंने मुहँतोड़ किंतु शालीन जवाब दिया है। वे दुखी होती हैं कि – "तथ्यों को नकारने के साथ बच्चन ने तथ्यों को तोड़ा–मरोड़ा भी है।"[2]

बच्चन ने जो छोटी–छोटी बातें उनके संबंध में लिखी हैं श्रीमती प्रकाशवती उनका भी सटीक उदाहरणों से स्पष्ट खण्डन करती हैं।

"उन्होंने लिखा है कि मैं उन्हें बाज़ार घुमाने को कहती थी। न वे कभी मुझे बाज़ार घुमाने ले गए न कभी मैंने ऐसी मांग की। मैं कई वर्ष फरार रह चुकी थीं पुलिस की आँखों से बचकर रहते लोग सदा किसी का हाथ पकड़ कर नहीं चलते। मैं अकेली रह सकती थी (और रही थी) बाज़ार जाना तो क्या नगरों के बीच अकेली यात्रा कर सकने में समर्थ थी। क्या बाज़ार जाने के लिये ही मुझे बच्चन की मिन्नत करनी थी ?"[3]

ये बातें यद्यपि बहुत छोटी–छोटी हैं किंतु इनसे निश्चय ही एक क्रांतिकारी महिला के चरित्र पर आघात पहुँचता है। साहित्य का पाठक बच्चन से ज्यादा परिचित है प्रकाशवती पाल से कम। ऐसे में मात्र बच्चन के संस्मरण पढ़ कर कोई भी श्रीमती

---

1. लाहौर से लखनऊ – श्रीमती प्रकाशवती पाल, पृ. 79
2. – वही – पृ. 79
3. – वही – पृ. 79

प्रकाशवती के बारे में ग़लत धारणा का शिकार हो सकता है, दूसरे इन सब बातों को न लिखने से बच्चन के जीवन पर प्रकाश नहीं पड़ता हो ऐसा भी नहीं है तब बच्चन का अनावश्यक ही यशपाल की पत्नी के बारे में ऐसा सब लिखने का उद्देश्य समझ से परे है।

दूसरे के चरित्र को ग़लत विज्ञापित करने में बच्चन के इस दोहरे चरित्र की कलई अवश्य खुल जाती है कि अपनी पत्नी श्यामा के जीवित रहते हुए उन्होंने किसी पराई स्त्री (जो कि उनकी नज़र में चरित्रवान भी नहीं है) को घर में क्यों रखा और अगर रखा तो उसकी तरफ ग़लत आकर्षण क्यों ? प्रकाशवती तो फिर भी अविवाहित थी, घर से भागी हुई थी, बच्चन तो गृहस्थ थे ज़िम्मेदार अध्यापक थे उन्होंने अपनी इस भूमिका पर कहीं भी आत्मग्लानि क्यों व्यक्त नहीं की ?

एक बेहतर कवि साहित्यकार होते हुए भी अगर बच्चन किसी की छवि खण्डित करने के लिये अनावश्यक ज्ञापन करते हैं तो वे अपना ही चरित्र संदिग्ध करते हैं प्रकाशवली पाल को इन प्रसंगों से हार्दिक कष्ट पहुँचा है – "बच्चन ने जो प्रसंग मेरे सम्बन्ध में अपने संस्मरणों में लिखे हैं, वो त्रासद हैं, जो उड़ाने बच्चन ने भरी हैं वह सचमुच ही कष्टकारक है। उन प्रसंगों ने बहुत सी ग़लत बातों और भ्रांतियों को जन्म दिया है।"[1]

जैसा कि हमने ऊपर लिखा है बहुसंख्य पाठक बच्चन को पढ़ते हैं प्रकाशवती पाल को नहीं, ऐसे में निश्चय ही भ्रांतियों का फैलना स्वाभाविक है क्योंकि बच्चन के द्वारा वर्णित घटनाओं को पढ़ने के बाद प्रकाशवती पाल के स्पष्टीकरण को सभी पाठक नहीं पढ़ पाएंगे बेहतर होता अगर आत्मकथाकार के रूप में बच्चन जी थोड़ी सी सामाजिक गंभीरता का भी निर्वाह करते चलते। 'दशद्वार से सोपान तक' में तुलसी दास की पत्नी रत्नावली ने चरित्र के बारे में लिखते हुए भी उन्होंने अपनी कल्पना के घोड़े को खुली छूट दे दी है तथा लिखते हैं कि – "Frailty thy name is woman, नारी तेरा नाम

---

1. लाहौर से लखनऊ तक – प्रकाशवती पाल, पृ. 77–78

छिनरपन।"[1] तथा भगवती बाबू और उनकी पत्नी नंदिता के संबंधों पर भी ऐसी ही अवांछित टिप्पणी मिलती है।[2]

दूसरी महिलाओं के चरित्र का भरपूर ज्ञापन करते हुए बच्चन अपनी पत्नियों श्यामा और तेजी का न केवल अतिशय उदात्त एवं गरिमामय रूप प्रकट करते हैं बल्कि बहुत सी बातों का गोपन भी कर जाते हैं। श्यामा और मुक्त जी पर बच्चन ने सिर्फ़ संकेत भर दिये हैं। इसी प्रकार बच्चन जी श्यामा को 'ज्वॉय' कहते थे जब कि वह उन्हें 'सफरिंग' कहती थी। 'आनंद' के प्रत्युत्तर में 'कष्ट' नाम देने के कारणों का खुलासा बच्चन जी ने नहीं किया।

'नीड़ का निर्माण फिर' में बच्चन जी ने श्यामा से विछोह और तेजी से मिलन की कथा मात्र कही है। कृति के पूर्वार्ध में लेखक रुग्ण पत्नी की मृत्यु से कातर–क्लांत है कृति के उत्तरार्ध में नव–पत्नी के साथ सुखी–सम्पन्न है। आत्मकथा के तीसरे भाग 'बसेरे से दूर' में लेखक के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के दिनों का वर्णन है। बच्चन जब इंग्लैण्ड में डाक्टरेट कर रहे थे उन दिनों तेजी इलाहाबाद में आर्थिक संघर्ष करके बच्चों को पाल रही थीं। यहाँ बच्चन ने तेजी की भयानक ग़रीबी का वर्णन करते हुए लिखा है कि जब वे वापस लौट कर भारत आए तब –

'कि तेजी का आख़िरी ज़ेवर बेचा जा चुका था,
कि बैंक से आख़िरी पैसा निकाला जा चुका था,
कि घर का आख़िरी दाना पकाया जा चुका था।'[3]

इतनी गहन ग़रीबी से ऐसा लगता है कि तेजी मध्यवर्ग या निम्नवर्ग नहीं बल्कि ग़रीबी रेखा से भी नीचे जीवनयापन कर रही थी, जबकि उसी अनुच्छेद के आरंभ

---

1. दशद्वार से सोपान तक – बच्चन, पृ. 65
2. – वही – पृ. 30
3. बसेरे से दूर – बच्चन, पृ. 143

में ही बच्चन जी से तेजी अपनी महराजिन का परिचय देती है, 'खाना बहुत अच्छा बनाती है।'[1]

आज भी मध्यवर्ग में नौकर रखने का चलन प्रायः नहीं है ऐसे में 1954 के समय में बच्चन परिवार 'दशद्वार' वाले एक सुन्दर बंगले में किराए से रहता था। मोटर–गाड़ी 'फोर्ड प्रिडेक्ट' रखता था, बच्चे सेंट मेरीज़ कान्वेंट में पढ़ रहे थे। बिना पैसों की गृहस्थी मे तेजी की नौकरानी की तनख़्वाह कौन देता था, यह लेखक ने गुप्त ही रखा है। साथ ही यह भी गुप्त ही रखा है तेजी जैसी उच्च शिक्षित, स्वतंत्र महिला जो कि पूर्व में नौकरी पेशा रह भी चुकी थी, ने इस संकट से उबरने में कोई नौकरी क्यों नहीं की ? जबकि घर की हालत बच्चन के शब्दों में ऐसी थी – "और दूसरे दिन का राशन उस पांच पौण्ड में से आया था जिनको मैंने जहाज़ पर 75/– रूपयों में बदलवा लिया था।"[2]

इस पूरे प्रसंग में लेखक ने तेजी बच्चन के चरित्र को उभारने के लिये कई घटनाओं का वर्णन किया है जो अस्वाभाविक सी लगती है। यथा बच्चन की अनुपस्थिति में तेजी को आकर्षित–प्रलोभित करने के लिये कुछ दुर्जनों ने पैसे से लेकर पिस्तौल तक का सहारा लिया किंतु "तेजी ने कहा तुम चलाओ गोली। अगर मेरे बच्चों और बच्चन के भाग्य में यही देखना बदा है तो ...

... और राक्षस ने गोली चला दी।
तेजी निश्चल खड़ी रही।"[3]

और तेजी वहाँ से वापस लौटकर ऐसे आई जैसे – "सिविल लाइंस से शॉपिंग करके लौटी हो"[4] यहाँ लेखक अपनी पत्नी को 'असहाय–असमर्थ–दयनीय' बताता है। वैसे वे उसे कर्मठ, संघर्षशील, पुरुष हृदय भी लिखते हैं। तेजी के व्यक्तित्व विज्ञापन को पढ़ कर प्रबुद्ध पाठक सहज ही इस अतिश्योक्ति का अनुमान लगा सकते हैं।

---

1. बसेरे से दूर – बच्चन, पृ. 142
2. – वही – पृ. 143
3. – वही – पृ. 145
4. – वही – पृ. 145

इसी प्रकार 'दशद्वार से सोपान तक' में बच्चन अमिताभ की अभिनय क्षमता का बचपन से ही प्रस्फुटित होना दर्शाने के लिये भी अतिरंजना का प्रयोग करते हैं। इस प्रसंग में अमिताभ अपनी बीमारी के कारण कालेज के वार्षिकोत्सव में भाग नहीं ले सके थे जिसमें कि उन्हें नाटक में भूमिका निभानी थी। बुखार की स्थिति में नाटक का रोल हाथ से छूट जाने का उनके पुत्र को मलाल अवश्य ही होगा किंतु बच्चन जी ने जितना बढ़–चढ़ कर वर्णन किया है उतना शायद नहीं – "तेज़ बुखार में भी अमित के दिमाग़ में कुछ था तो बस नाटक – नाटक – नाटक। ... वे बहुत बेचैन थे तड़प रहे थे कि इस समय भी डॉक्टर या प्रिंसिपल उन्हें अनुमति दे दें तो वे उछलकर मंच पर पहुँच जाऐं और अपना पार्ट करने लगें। मन से, कल्पना से तो वे मंच पर ही थे। वे बार–बार घड़ी देखते। ... अब नाटक शुरू हो गया होगा ... अब फलाँ पात्र स्टेज पर आया होगा। ... अब मुझे आना था। ... अब मुझे ऐसा बोलना था। ... जब तक नाटक होता रहा वे क्रमानुसार नाटक के दृश्यों की शाब्दिक झांकी मेरे सामने प्रस्तुत करते रहे जैसे किसी क्रिकेट या हॉकी मैच की कमेण्ट्री चल रही हो। मैं आश्चर्य चकित था।

... अमित कहते जा रहे थे –

अब अंतिम बार पर्दा गिरा होगा, अब सब पात्र एक पंक्ति में रंगमंच पर खड़े हो गए होंगे।

... अब फिर पर्दा उठा होगा। ... और अब दर्शकालय तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा होगा।"[1]

यह सारा वर्णन किसी दुधमुंहे बच्चे की चाँद पकड़ने जैसी बालहठ का नहीं है। सोलह–सत्रह वर्ष के नवयुवक का है। अतः अस्पताल में लेट कर कालेज के वार्षिक ड्रामे की रनिंग–कमेण्ट्री अस्वाभाविक ही प्रतीत होती है। यद्यपि बच्चन जी ने इसे "सहज कल्पित की जाने वाली निराशा"[2] बताया है।

---

1. दशद्वार से सोपान तक : बच्चन, पृ. 155–156
2. – वही – पृ. 155

इसी तरह पृष्ठ 291 पर जहाँ बच्चन जी एक आम मध्यवित्त अवस्था वाले गृहस्थ की तरह चिंता ग्रस्त हैं कि उनके पास स्वयं का मकान नहीं है वे मार्च '72 के बाद कहाँ रहेंगे। वहीं मई '72 में बच्चन परिवार यह निश्चय करता है कि – "अजित अपनी नौकरी छोड़ दें तथा स्वयं अपनी स्वतंत्र शिपिंग कम्पनी आरंभ करें।"[1] इस प्रकार विपन्नता का रोना तथा सम्पन्नता के उदाहरण बच्चन की आत्मकथा में बिना किसी विशेष प्रयत्न के मिल जाते हैं तथा लेखकीय ईमानदारी पर शंका खड़ी कर देते हैं।

दिल्ली में बड़े बंगले में रहने के ख़्वाहिशमंद बच्चन जी और तेजी कभी जवाहरलाल नेहरू से सिफारिश लगवाते हैं कभी इन्दिरा गाँधी या नंदिनी सत्पथी से। साथ ही ख़ुश होकर जैसे ग़ालिब ने मलिका विक्टोरिया के क़सीदे लिखे थे वैसे ही इन्दिरा गाँधी और नंदिनी सत्पथी की जय जयकार का घोष भी लेखक कर उठता है।

"हमने कहा –

नंदिनी सत्पथी की जय ! इंदिरा गांधी की जय।"[2]

अपने पारिवारिक सामंजस्य एवं प्रेम का वर्णन करने में जहाँ लेखक तेजी एवं दोनों पुत्रों के साथ अपने संबंध का गुणगान करते हैं वहीं पुत्रवधुओं के व्यवहार के बारे में कुछ नहीं लिखते। ज्येष्ठ पुत्र अमिताभ के परावैवाहिक संबंधों एवं कनिष्ठ पुत्र अजिताभ के तलाक से दोनों पुत्रवधुओं की क्या प्रतिक्रिया थी यह बच्चन जी ने गुप्त रखा है। तेजी के श्यामा के प्रति क्या विचार है यह भी लेखक व्यक्त नहीं करता है क्योंकि इनसे उनकी स्त्री सुलभ दुर्बलताएं उजागर होती हैं। अमिताभ के सफल फिल्मी कैरियर का लेखक भरपूर ज्ञापन करता है किंतु असफल राजनीतिक कैरियर का नहीं। बच्चन परिवार के सर्वज्ञात तथ्यों को इस आत्मकथा में गुप्त रखा गया है।

हंसराज रहबर की आत्मकथा 'मेरे सात जन्म' में भी आत्मज्ञापन एवं आत्मगोपन की प्रवृत्ति की झलक मिलती है।

आत्मकथा के प्रथम खण्ड में ही लेखक स्पष्ट कर देता है कि उसके "तथ्यों को साहित्य बनाने के लिये कल्पना की पुट भी दी है।"[3]

---

1. दशद्वार से सोपान तक : बच्चन, पृ. 307
2. – वही – पृ. 395
3. मेरे सात जन्म, भाग–1 : हंसराज रहबर, पृ. 8

कल्पना के पुट का आत्मकथा में निषेध है। इससे प्रमाणिकता तो संदिग्ध होती ही है साथ ही पाठक की 'ज्ञापन एवं गोपन' की शंका भी बलवती होती है।

निजी घटनाओं के वर्णन में कल्पना का पुट घटनाओं को पठनीय एवं सजीव बनाने के लिये किया गया है। प्रथम खण्ड में मित्रों, परिचितों की बातों, उनके वार्तालाप में यह स्पष्ट दिखलाई पड़ता है किंतु ये बातें मात्र भूमिका बांधने के लिये हैं अतः आत्मकथा में इन प्रसंगों में ज्ञापन अथवा गोपन का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। किंतु, जहाँ लेखक अपने साहित्यिक, सामाजिक एवं पार्टी के राजनीतिक प्रसंगों में कल्पना की स्वतंत्रता से काम लेता है वहाँ वह कृति की सत्यता को खण्डित करता है।

लेखक ने अपने जीवन को सात जन्मों की कथा बताया है ये सात जन्म विचारधारात्मक स्तर पर हुए हैं। जहाँ लेखक आज स्वयं को घनघोर कम्युनिस्ट बताता है वहीं मानसिक रूप से वह इतना अस्थिर एवं दुर्बल है कि कभी आर्य समाजी, कभी कांग्रेसी, कभी सोशलिस्ट तो कभी कम्युनिस्ट बन जाता है ऐसे में इस बात की क्या गारंटी है कि वह अपने सातवें रूप, यानी नक्सलवादी पर कायम रहेगा, सात जन्मों के बाद आठवां जन्म क्यों नहीं हो सकेगा ?

लेखक अपने कम्युनिज़्म प्रेम का भरपूर ज्ञापन तो करता है किंतु उस कमजोरी का वर्णन नहीं करता जिसके वशीभूत होकर वह कपड़ों की भाँति विचारधारा बदलता है। अंत में लेखक कम्युनिज़्म का इतना जड़ अनुयायी हो जाता है कि वह अपनी पुरानी विचारधाराओं जो कि उसके अनुसार उसमें सम्पूर्ण जन्म थे, की लेशमात्र भी प्रशंसा नहीं करता। यह बौद्धिक सतहीपन की निशानी है तथा लेखक ने अपनी इन दुर्बलताओं का पूर्णतः गोपन किया है। बल्कि वह लिखता है कि – "परिवर्तन एक संशिलष्ट प्रक्रिया है, इसमें किस–किस घटना का कितना योगदान है और कौन–कौन से रूढ़िगत संस्कार किस हद तक टूटे हैं यह लेखा–जोखा संभव नहीं है।"[1]

---

1. मेरे सात जन्म – हंसराज रहबर, पृ. 345

हंसराज रहबर की आत्मकथा में देवेन्द्र सत्यार्थी पर काफी कुछ लिखा गया है जिनमें से अधिकतर उपहासात्मक प्रसंग ही हैं यद्यपि ये प्रसंग मनगढंत नहीं प्रतीत होते । क्योंकि स्वयं देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपनी आत्मकथा 'नीलयक्षिणी' में साहिर लुधियानवी, प्रकाश पण्डित इत्यादि अनेक लेखकों के अपने संबंध में जो लेख प्रकाशित किये हैं उनमें इनमें से कुछ प्रसंग मौजूद हैं किंतु इन प्रसंगों से देवेन्द्र सत्यार्थी पर ही प्रकाश पड़ता हैं स्वयं रहबर के जीवन पर नहीं अतः अपनी आत्मकथा में दूसरे का वर्णन विशेषतः करना ग़ैर इरादतन नहीं लगता एवं इसके पीछे रहबर के मन में सत्यार्थी के प्रति छिपी एक स्वाभाविक चिढ़ प्रकट होती है। यथा – "लोकगीतों पर उसके कुछ लेख उर्दू–हिन्दी के अलावा अंग्रेज़ी में भी छप चुके थे। मज़े की बात यह थी कि तीनों भाषाओं में से कोई भी भाषा उसे अच्छी तरह नहीं आती थी, अंग्रेज़ी का तो ज्ञान नहीं के बराबर था। लिखने के बजाय साहित्यकारों और कलाकारों से मेलजोल बढ़ाने में वह कहीं अधिक निपुण था।"[1] या – "कपूर और सत्यार्थी सोफे पर बैठे थे, कपूर बोल रहा था और सत्यार्थी लिख रहा था मैं समझ गया कि सत्यार्थी की नई कहानी का निर्माण हो रहा है।"[2] या "अपने घुमक्कड़ जीवन में सत्यार्थी ने भीख ही मांगी थी देखा–सीखा कम था।"[3]

देवेन्द्र सत्यार्थी भारतीय साहित्य जगत में कहानीकार के रूप में जाने जाते हैं पर रहबर लिखते हैं कि – उन्होंने बेरोज़गारी के कारण कहानी लिखने का धंधा अपना लिया था "सत्यार्थी की तीव्र बुद्धि को यह धंधा 'हींग लगे न फिटकरी' की तरह लाभदायक लगा और उसके लिये यह धंधा आसान भी था क्योंकि उसे पराए वाक्य फिट करने और चेपियाँ लगाने की कला ख़ूब आती थी।"[4]

---

1. मेरे सात जन्म – हंसराज रहबर, खण्ड–3, पृ. 57
2. – वही – पृ. 75
3. – वही – पृ. 77
4. – वही – पृ. 76

इस प्रकार की टिप्पणियों का कारण नितांत व्यक्तिगत प्रतीत होता है। (ऐसी ही टिप्पणी उन्होंने कृश्नचन्दर के बारे में की है) अध्याय उन्नीस पूरा देवेन्द्र सत्यार्थी पर ही लिखा गया है तथा उनके स्वभाव का वर्णन करते हुए लिखा है कि – "दूसरों का पैसा, योग्यता और समय अधिक से अधिक हड़प लेने में सत्यार्थी का दृढ़ विश्वास था और इसमें बाधा डालने वाली किसी भी बात पर ध्यान न देना उसका स्वभाव बन चुका था।"[1]

अपनी पत्नी कौशल्या के साथ प्रेमपूर्ण क्षणों का लेखक ने लंबा–लंबा उबाऊ चित्रण किया है तथा संवादों को गढ़ने में स्पष्ट ही उसने 'कल्पना का पुट' लिया है। अपनी प्रशंसा करने में भी लेखक पीछे नहीं रहा है। अपनी स्थापनाओं को वह 'अद्वितीय' मानता है – "तथाकथित प्रगतिशील और प्रयोगवादी दोनों ही प्रेमचंद को अप्रासंगिक बनाने का प्रयास कर रहे थे। मैंने उनकी ग़लत स्थापनाओं को नकार कर प्रेमचंद को जनवादी लेखक बताया और उनकी प्रासंगिता सिद्ध की।"[2]

आत्मश्लाघा की हदों को पार करते हुए लेखक सीधे–सीधे घोषणा करता है "प्रेमचंद का उत्तराधिकारी मैं हूँ, क्योकि प्रेमचंद हमारे विचार को जहाँ छोड़ गए थे मैंने उसे आगे बढ़ाया, विकसित किया है और उसके लिये संघर्ष भी किया है।"[3]

पाठक के विवेक पर कुछ न छोड़ कर लेखक स्वयं बताता है कि "मेरी यह आत्मकथा ... बीसवीं सदी के आरंभ से अब तक का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास है।"[4] वह स्वयं को बार–बार प्रेमचंद का उत्तराधिकारी घोषित करता है (पृ. 234, भाग–4) तथा कमलकिशोर गोयनका जिन्होंने कि प्रेमचंद संबंधी काफी साहित्य जुटाया है एवं गहन शोध किया है उन पर वह लिखता है कि – "वहाँ प्रेमचंद संबंधी विवरण जुटाने और प्रदर्शनियाँ लगाकर पैसा बटोरने वाला कमलकिशोर गोयनका

---

1. मेरे सात जन्म – हंसराज रहबर, खण्ड–3, पृ. 122
2. – वही – भाग–4, पृ. भूमिका
3. – वही – भाग–4, पृ. 3
4. – वही – पृ. 3

भी उपस्थित था जिसे विचार की विकास प्रक्रिया का तनिक भी ज्ञान नहीं।[1] आत्मकथा के चारों भाग दंभ की भावना से रंगे हुए हैं। आत्मज्ञापन में रहबर जी ने जितनी उदारता दिखाई है आत्मगोपन में उतनी ही सावधानी बरती है।

'अपने–अपने पिंजरे' में लेखक एक ओर तो यह बताता कि 1940 में उनके पास तीन मज़िल का पक्का मकान है, ताऊ जी नगरपालिका के मेम्बर हैं, घर में बेहतर साजो–सामान है तथा पंखा है जिसे कोई अन्य व्यक्ति हिला कर चलाता है, वहीं दूसरी ओर वह ग़रीबी, दीनता, लाचार ज़िंदगी का वर्णन करता है। यानी अपनी सुदृढ़ आर्थिक–सामाजिक स्थिति का दंभ उन्हें है तथा साथ ही दलित जीवन के स्तब्धकारी अनुभव लिख कर पाठकों की सहानुभूति भी चाहिये। दलित समस्याओं, उनके निराकरण पर कोई विमर्श पुस्तक में नहीं दिखता। लेखक जीवन को इस एकांगी दृष्टि से देखता है कि जो जीवन दलित भोगते हैं वह और कोई नहीं भोगता, किंतु यह तथ्य इसमें सर्वथा अव्यक्त है कि यह संघर्ष लेखक का निजी नहीं है तथा एक लेखक के रूप में वह जो लड़ाई लड़ रहा है वह लड़ाई सतह पर नहीं उतरती है बल्कि काग़ज़ों पर ज्यादा उतरती है। लेखक ने स्वयं इस पुस्तक के आरंभ में ही 'समर्पण' मे इसे अपनी ज़िंदगी के 'स्याह व सफेद संघर्ष का दस्तावेज़' बताया है। स्याह और सफेद से लेखक का क्या तात्पर्य है, सच्चा या झूठा संघर्ष या कुछ और ?

दलित आत्मकथा लेखन इस उद्देश्य से अपना महत्त्व खो देता है। जबकि ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' एकांगी नहीं है। दलित जीवन के संघर्षपूर्ण कड़वे–मीठे अनुभव इसमें भी सविस्तार व्यक्त हुए हैं। किंतु उनके वर्णन का उद्देश्य अपनी दीनता का ज्ञापन करना नहीं बल्कि दलित जीवन की तस्वीर पेश करना ही है। क्योंकि लेखक जब तक उन संघर्षों से स्वयं नहीं जुड़ेगा एवं सवर्ण समाज की निंदा करने के अतिरिक्त जब तक अवर्ण–सवर्ण संबंधों की सही परिप्रेक्ष्य में पड़ताल नहीं करेगा तथा दलित समाज की उन्नति मे अपना ठोस योगदान नहीं देगा तब तक दलित जीवन का चित्रण करना लफ़्फ़ाजी मात्र होगा जिसके सामाजिक प्रतिफल कुछ नहीं होंगे। दलित

---

1. मेरे सात जन्म – हंसराज रहबर, खण्ड–4, पृ. 235

आत्मकथाओं में बहुधा लेखक की दृष्टि इतनी एकांगी हो जाती है कि सवर्ण समाज की निंदा के अतिरिक्त अपने समाज के उत्थान की कोशिशों पर वे कम चर्चा करते हैं। इससे उनका उद्देश्य कुण्ठित होता है।

कुछ आत्मकथाएं जिनमें कि जीवन का समग्र विश्लेषण नहीं मिलता है वे भी आत्मगोपन की भावना की ओर इंगित करती हैं। इस संबंध में अमृतलाल नागर की आत्मकथा 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' तथा नगेन्द्र जी की आत्मकथा 'अर्धकथा' का उल्लेख किया जा सकता है। 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' एक संस्मरणात्मक पुस्तक है जिसकी भूमिका में ही लेखक ने अपना मंतव्य यह कह कर व्यक्त कर दिया है कि 'आत्मकथा के संबंध में सदा से मेरा यह मत रहा है कि उसे कोरी अहमकथा बनाकर लिखने से बेहतर है न लिखना।' आत्मकथा अहमकथा न बन जाए इस प्रयास में सजग लेखक ने बहुत से संस्मरण अपने से असमबद्ध भी दिये हैं। नागर जी ने अपनी तस्वीरें भी पुस्तक में दी हैं किंतु ये किन्हीं लब्धप्रतिष्ठित लोगों के संग खिंचवाई गई वो तस्वीरें नहीं हैं जिनसे लेखक का क़द बढ़े, बल्कि स्वयं नागर जी की अकेले की वे तस्वीरें हैं जिनसे उनके व्यक्तित्व का पता चलता है। मसलन – भांग पीसते हुए, ठहाका लगाता हुए, लेखन में मग्न या मूर्ख सम्मेलन में शामिल। इसी प्रकार नगेन्द्र जी की आत्मकथा 'अर्धकथा' भी उनके जीवन की आधी तस्वीर ही पेश करती है। जब लेखक अपने जीवन की मात्र मोटी–मोटी सतही घटनाओं का ही वर्णन कर रहा है तो ऐसे मे गोपन एवं ज्ञापन की संभावनाऐं भी ख़त्म हो जाती हैं।

वृन्दावन लाल वर्मा की 'अपनी कहानी' तथा डॉ. देवराज उपाध्याय की आत्मकथा 'यौवन के द्वार पर' में भी लेखक का उद्देश्य कुछ छिपाना, कुछ जताना नहीं है बल्कि मात्र जीवन का सीधा–सादा बल्कि आधा वर्णन है। वृन्दावन लाल वर्मा में अपनी लेखन प्रक्रिया के विस्तृत इतिवृत्तात्मक वर्णन के साथ–साथ अपनी डायरी के पन्ने तथा अपनी एक रूसी प्रशंसिका 'दीना गोदंमान' की चिट्ठियाँ भी आत्मकथा में संकलित की हैं।

गोपाल प्रसाद व्यास की आत्मकथा 'कहो व्यास कैसी कटी' छः उल्लासों तथा एक सौ सात अध्यायों में लिखी छः सौ छिहत्तर पृष्ठों की वृहद् आत्मकथा है इसमें प्रत्येक

अध्याय के अंत में लेखक ने बिना भूले एक या दो विशिष्ट व्यक्तियों के अपनी प्रशंसा में लिखे अनुच्छेद अवश्य ही दिये हैं।

यथा – "व्यास जी की हिंदी साहित्य की सेवाओं का मैं आदर करता हूँ। वे राष्ट्रीयता के पुजारी तथा परम देश भक्त हैं।" (लाल बहादुर शास्त्री)[1] या "व्यास जी आपका भाषण और कविताएं सुनकर मुझे लगा कि मैं अभी तक आपके कृतित्व से क्यों वंचित रहा ? अब लायब्रेरी से खोज–खोज कर आपकी पुस्तकें पढूंगा। (श्रीलाल शुक्ल)"[2]

लेखक ने स्वयं को घनघोर कांग्रेसी और परम देशभक्त बताया है। दैनिक हिंदुस्तान के उपसंपादक पद पर पहुँचने में उनकी कांग्रेस की भक्ति की अहम भूमिका थी, इसका पता आत्मकथा के विविध प्रसंगों से चलता है। किंतु लेखक ने इसका खुलासा नहीं किया है। प्रकाशन संस्थान के प्रमुख श्री साही जी जिनके बारे में वे स्वयं लिखते हैं कि – "वे मुझसे बड़ा स्नेह रखते थे, उन्हीं के प्रयत्नों से मुझे दोगुनी–तिगुनी वेतनवृद्धि भी मिली।"[3] किंतु केन्द्रीय मंत्री से सिफारिश करवाने पर जब साही जी उनसे चिढ़ गए तो लेखक को बहुत क्षोभ हुआ – "उस दिन साही जी रूख बदल कर बोले – मिस्टर व्यास मंत्रियों से दबाव–डलवा कर अकसर लोग अफसरों से मिलते हैं मगर ... कम्पनी तो मुझे चलानी है, मुझे दफ्तर के संतुलन को भी देखना होता है।"[4]

सिफारिश लगाने पर साही जी की नाराजगी से लेखक क्षुब्ध है यद्यपि वह अगले ही पृष्ठ पर लिखता है कि – "उस समय मेरे मन पत्रकारिता और जीवन के ऐसे मानदण्ड घर कर गए थे कि जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये सिफारिशें और जोड़–तोड़ करना सही नहीं माना जाता।"[5]

---

1. कहो व्यास कैसी कटी – गोपाल प्रसाद व्यास, पृ. 223
2. – वही – पृ. 440
3. – वही – पृ. 217
4. – वही – पृ. 217
5. – वही – पृ. 218

सिफारिशों और जोड़–तोड़ को लेखक सही भी नहीं मानता है एवं स्वयं अपने लिये वह यह सब करता भी है। ये दोहरे मापदण्ड अपनाना लेखक के कूटनीतिक बुद्धि चातुर्य को दर्शाता है।

पद्मश्री सम्मान पाकर वह अत्यंत प्रसन्न होता है किंतु जब उसे यह ज्ञात होता है कि पद्मश्री मिलने से व्यक्ति वी.आई.पी. नहीं हो जाता तथा उसके लिये रेलवे में भी कोई आरक्षण कोटा नहीं होता है तब वह पद्मश्री वापस कर देता है। सरकार की हिन्दी विरोधी नीति के विरोध में वापस करने की घोषणा के साथ !

महिला आत्मकथाकारों में से सिर्फ़ कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' ही अनावश्यक ज्ञापन एवं सप्रयास गोपन के कौशल से मुक्त दिखाई देती है। शेष तीन महिला आत्मकथाओं में कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया' से लेकर कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा' तथा पद्मा सचदेव की 'बूंद बावड़ी' तीनों ही आत्मदंभ से परिपूर्ण कथाएं प्रतीत होती हैं। कुसुम असंल ने पुस्तक के पृष्ठ आवरण पर अपनी खूबसूरत सी 'स्टाइलिश' तस्वीर भी दी है तो पद्मा सचदेव ने उनसे भी आगे बढ़ कर अपनी आत्मकथा में अपनी तेईस तस्वीरें प्रकाशित की हैं। कहीं साहित्य अकादमी पुरस्कार ग्रहण करते हुए तो कहीं सोवियत नेहरू पुरस्कार ग्रहण करते हुए। ज़्यादातर तस्वीरें उन मशहूर हस्तियों के साथ घुल–मिल कर बातें करते हुए दी गई हैं जिनसे लेखिका अपना सम्बन्ध प्रदर्शित करना चाहती है।

कृष्णा अग्निहोत्री ने भी पुस्तक में अपनी तस्वीर दी है तथा साथ ही जी खोल कर अपनी रूप–गुण–चर्चा भी की है। सिर्फ़ कौशल्या बैसंत्री ही एकमात्र ऐसी महिला आत्मकथाकार है जिन्होंने ऐसी कोई चेष्टा नहीं की है।

कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' 1996 में प्रकाशित हुई तथा इसे हिंदी की पहली आत्मकथा होने का गौरव भी प्राप्त है। साथ ही इससे यह सच्चाई भी जुड़ी हुई है कि यह उस कुसुम अंसल द्वारा लिखी गई है जो एशिया के सबसे बड़े बिल्डर अंसल की पत्नी है। इस पूरी आत्मकथा में लखिका अपनी इस पहचान से मुक्ति की लड़ाई का ज़िक्र करती रही है और साथ ही अपनी उसी पहचान का गुरूर भी बनाए

रखती हैं। स्पष्ट ही वह ऊपरी तौर पर जिस छद्म अस्मिता की बात करती हैं वस्तुतः वह उनकी असलियत नहीं है। जिस तथ्य को वे कहती हैं कि मैं गुप्त रखना चाहती हूँ वस्तुतः उसी की तरह–तरह से व्याख्या की गई है। जहाँ पुस्तक के 'आमुख' में वह उपदेशात्मक लहजे में कहती हैं कि – "मेरे जीवन में आर्थिक, भौतिक सुखों को कभी स्थान प्राप्त नहीं हुआ ... "धन से न तो कोई धनी होता है न छोड़ देने पर त्यागी।"[1] साथ ही पुस्तक बंद करते ही लेखिका की सजी–धजी मेकअप से चुस्त, गहनों में लदी हीरे की अंगूठी की चकाचौंध दिखाती, मुस्कुराती हुई तस्वीर भी है जो लेखिका के 'आमुख' में व्यक्त आत्म–परिचय की कलई खोल देती है।

लेखक वर्ग और धनसम्पन्न वर्ग के बीच की आर्थिक अंतर की खाई ने लेखिका को आम लेखिका नहीं बनने दिया। इस संबंध में अरविंद जैन का यह विश्लेषण बिल्कुल सटीक बैठता है कि – "वैभव का अपना तर्क है और वह लगभग एक पैटर्न पर आदमी–आदमी के रिश्ते बदलता है, उन्हें विकृत करता है। जीवन में हर अच्छे, बुरे परिणाम का कारण वहाँ आर्थिक सम्पन्नता ही बन जाती है और ऐसे में हर व्यक्ति संदेहास्पद और अविश्वसनीय लगने लगता है। हर समय चौकन्नापन संबंधों के तनाव को बनाए रखता हे कि कहीं कोई नौकर–चाकर, सगा–संबंधी कुछ उठाकर न ले जाए या कुछ मांग न ले।"[2]

ऐसी ही शंका कुसुम अंसल को भी है। जहाँ लेखकीय कारणों से लोग उनसे जुड़ते है वहीं आर्थिक कारणों से भी। "हम सब लेखकीय गोष्ठियों में साथ जाते, नया–नया लिखते और यात्राएं भी साथ में करते। इसके अतिरिक्त भी बहुत से लोग थे जो हमसे जुड़ते थे किसी को अपने बेटे या दामाद के लिये नौकरी चाहिये होती थी, किसी को धन चाहिये होता था, किसी को हमारे स्कूल में दाखिला।"[3]

यद्यपि धनाढ्य वर्ग के साथ ऐसे ज़रूरतमंद लोगों का सम्पर्क करना बड़ी बात नहीं है किंतु बहुधा धनाढ्यवर्ग की समस्या यह है कि वह मित्रों और हित साधकों में फर्क

---

1. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, आमुख, पृ. 15
2. औरत : अस्तित्व और अस्मिता – अरविंद जैन, पृ. 128
3. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, आमुख, पृ. 84

नहीं कर पाता नतीजतन हमेशा शंका में घिरा रहता है। कुसुम अंसल चाहे धन के गर्वीले आवर्त्त से कितना भी मुक्त होने का दावा करें किंतु उनकी आत्मकथा में 'कुसुम' का कम और 'अंसल' का प्रभाव ज़्यादा ही है। "मैं सबके लिये सहृदयता से प्रयास करती, आख़िर इंसान ही तो इंसान के काम आता है। मेरा धन भी जहाँ–तहाँ बंटता, कभी इश्तेहार के रूप में, कभी किसी समारोह के रूप में।"[1]

इनकम टैक्स की रेड के प्रसंग में भी कुसुम अंसल के भीतर छिपी 'सेठानी' लेखिका के आवरण मे निरीह बन जाती है। वह यह जताना चाहती है कि इतने बड़े परिवार की धनसाम्राज्ञी होकर भी वह 'राइटर' मात्र है, सेठानी नहीं। इनकमटैक्स वाले कहते हैं – "बस यही है आपकी अलमारी मिसेज अंसल, इतने से ही हैं आपके ज़ेवर, कपड़े। बिलौंगिग्स ... यक़ीन नहीं होता, हम तो बड़े–बड़े घरों में गए हैं – क्या–क्या शानदार आल्मारियां देखी हैं, ज़ेवरात देखे हैं। ... पर आपके पास तो कुछ नहीं है ...।

मैं अपनी दलील पर खिसिया रही थी, "मैं राइटर हूँ न ... ।"[2]

इस तरह के प्रसंग अपने लेखक होने की पुष्टि के लिये दिये गए प्रतीत होते हैं। लेखिका यह प्रदर्शित करना चाहती है कि "मैं लेखिका हूँ।"

गोपन और ज्ञापन के सन्दर्भ में कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' सहज ही उदाहरण उपलब्ध करवाने, वाली पुस्तक है। पुस्तक की भूमिका के आरंभ में ही लेखिका अपना राग शुरू कर देती है – "मैंने बहुत झेला, बहुत भोगा – बहुत सहा।"[3] यह राग पूरी पुस्तक का केन्द्रीय राग है। पूरी पुस्तक में लेखिका यह बताती रही है कि – "मैं कमसिन, गोरी, लालचट्ट और सुन्दर।"[4] या "मैं तो थी ही सादगी की

---

1. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 84
2. – वही – पृ. 150
3. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. भूमिका
4. – वही – पृ. 53

प्रतिमूर्ति।"[1] सादगी की अति देखिये कि – "मैं तो यह भी नहीं जानती थी कि चेहरे पर बिंदी कहाँ लगाई जाए ?"[2]

लेखिका ने अपने शारीरिक और वैयक्तिक गुणों का ज़बरदस्त अतिरंजित वर्णन किया है। आत्मविज्ञापन अगर कला है तो इसमें कलात्मक भी नहीं, बल्कि सीधे–सीधे उद्घोषणात्मक तरीक़े से किया गया है जो कि उपहासात्मक ही अधिक हो गया है – यथा – 'मेरे रूप की ज्वाला' (पृ. 116), 'मैं नर्म दिल महिला' (पृ. 215), 'मैं समझदार स्त्री' (पृ. 218), 'मेरा भोलापन' (पृ. 216), या 'मैं आदर्शों का नशा रखती हूँ' (पृ. 221), 'अपने को पत्थर मारने वाले पर भी मैं दया–करूणा करती हूँ' (पृ. 220), इत्यादि।

अपने रूप व गुणों का भरपूर ज्ञापन करने के साथ ही लेखिका ने इस बात का भी श्रृंखला बद्ध वर्णन किया है कि कौन–कौन लेखक उस पर फिदा था। जिनमें उसने आलोक मित्र से लेकर राजेन्द्र अवस्थी तक के नामों की लंबी लिस्ट बना ली है। इस प्रकार के आकर्षण एक तरफा या दो तरफा अथवा काल्पनिक थे इसका स्पष्टीकरण कहीं अन्य किसी लेखक द्वारा नहीं किया गया। इन प्रसंगों में विश्वेश्वर प्रसंग की अवश्य ही पुष्टि कमलेश्वर की आत्मकथा 'यादों के चिराग़' पढ़ने से हो जाती है। कृष्णा जी से विश्वेश्वर ने कहा भी कि – "मैं बम्बई कमलेश्वर जी के पास चला जाऊँगा।"[3] विश्वेश्वर के बारे में इन्होंने जो कुछ भी लिखा है उसके असहज व्यवहार की पुष्टि कमलेश्वर द्वारा किये गए वर्णन से भी होती है। मसलन वह एक घनघोर क़िस्म का साहित्यिक जीव था जो बाद में जेल से लेकर पागलखाने तक में बंद रहा। कमलेश्वर लिखते हैं कि – "उसके बारे में कुछ भी कह पाना मुमकिन नहीं था।"[4] इसके अतिरिक्त कृष्णा जी द्वारा लिखे गए प्रसंगों की सत्यता या असत्यता पर किसी लेखक द्वारा आपत्ति नहीं उठाई गई। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध स्त्रीवादी समीक्षक अरविंद जैन की यह टिप्पणी भी महत्त्वपूर्ण है कि "झूठे आरोपों के लिये मानहानि और हर्जाने के दावे ठोंके जा सकते हैं, मगर कृष्णा जी के

---

1. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 78
2. – वही – पृ. 80
3. – वही – पृ. 215
4. यादों के चिराग़ – कमलेश्वर, पृ. 151

विरुद्ध किसी ने भी कोई दावा दायर नहीं किया।"[1] दावा दायर न करने से इन आरोपों की सत्यता (या महत्वहीनता) का संकेत तो मिलता है किंतु यह स्पष्ट नहीं होता कि लेखिका ने अपनी आत्मकथा में अपना विश्लेषण करने की जगह दूसरों के चरित्र की छीछालेदर में क्यों अधिक समय लगाया ? उसने अपनी कमजोरियों को क्यों गुप्त रखा ? जहाँ पहले पति आई.पी.एस. अग्निहोत्री की उसने इतनी बुराईयाँ लिखी हैं वहीं यह क्यों स्पष्ट नहीं किया कि उनसे लाख प्रताड़ना, यंत्रणा सह कर भी वह क्यों जुड़ी रही एवं उनकी नौकरी छूटने के बाद ही क्यों उसने तलाक लिया ? और तलाक लेने से पहले ही दूसरी शादी भी क्यों कर ली ? वे किन भौतिक सुखों की चाह में ऐसा कर रही थीं ? वे स्वयं लिखती हैं कि – "मुझे जोग साहब का सौन्दर्य, मजिस्ट्रेट की पोस्ट की डिगनिटी तो दिख रही थी, परंतु उनके घर की गरीबी व चार बच्चों को मैं नज़रअंदाज़ क्यों कर रही थी, कि जिस व्यक्ति के चार बच्चे हों, आर्थिक स्थिति अति साधारण हो वहाँ कोई भी औरत कितना समझौता कर सकती है।"[2] स्पष्ट है कि उन्हें मजिस्ट्रेट का पद, उनका व्यक्तित्व तो आकर्षित करता है किंतु पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ नहीं। तिस पर वे स्वयं को आदर्शवादी लिखती हैं, कैसे, इसका खुलासा उन्होंने नहीं किया है।

पद्मा सचदेव की आत्मकथा 'बूंद बावड़ी' की शुरूआत ही विभिन्न पुरस्कार ग्रहण करने हुए अथवा विशिष्ट लेखकों, राजनेताओं, फिल्मी हस्तियों के साथ खिंचवाई गई तेईस तस्वीरों से होता है। इन्होंने अपने से ज्यादा लता मंगेशकर का वर्णन किया है। लेखिका स्वयं भी साहित्य अकादमी पुरस्कार, सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार, पद्मश्री इत्यादि से सम्मानित कवियित्री है किंतु जितनी आत्महीनता से वे लता मंगेशकर के व्यक्तित्व का गुणगान करती हैं उससे प्रतीत होता है कि वे अपनी ऊंचाई का पैमाना दूसरे उच्च लोगों से सम्पर्क–सम्बन्ध को हा मानती हैं। कहीं–कहीं तो यह स्थिति बड़ी दयनीय हो उठी है – "लता जी से मिलने कई लोग आते हैं, पर दीदार करके चले जाते हैं। मुझे वो भीतर अपने कमरे में बिठाती थी।"[3] लता जी के लिये अपनी अहमियत बताने

---

1. औरत अस्तित्व और अस्मिता – अरविंद जैन, पृ. 137
2. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 221
3. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 279

का यह तरीका बचकाना अधिक लगता है। लता मंगेशकर के अतिरिक्त भी बंबई फिल्म जगत की अनेक बड़ी हस्तियों से अपने निकट संबंधों का लेखिका ने वर्णन किया है कोई इन्हें भाभी कहता है तो कोई बेटी। सभी से इनके घरेलू संबंध है। इन संबंधों के निर्माण में इनकी व्यवहार कुशलता का तो योगदान होगा ही किंतु इनके इनकम टैक्स के कमिश्नर पति के पद की भी भूमिका बम्बई की नामी हस्तियों को आकर्षित करती होगी इसका ज़िक्र लेखिका ने कहीं नहीं किया है। इनकम टैक्स हमेशा से ही बम्बई फिल्म जगत् की हस्तियों के लिये एक प्रमुख समस्या रहा है, तब अगर इनकम टैक्स के अधिकारी की पत्नी से घरेलू संबंध बनाकर दीदी या भाभी का नाता जोड़ लिया ताए तो क्या हानि ! लेखिका ने संबंधों के कारणों को गुप्त ही रखा है। इसी तरह लेखिका ने एक और तथ्य प्रस्तुत किया है कि 'प्रेमपर्वत' फिल्म का एक मशहूर गीत जो कि वे बीच में लिखते हुए अधूरा छोड़ कर कहीं चली गई थी। जॉ निसार अख़्तर ने पूरा कर लिया और अपने नाम से ही फिल्म में दे दिया। जॉ निसार अख़्तर इस प्रसंग पर टिप्पणी करने के लिये मौजूद नहीं है हालांकि फिल्मी दुनिया में ऐसा घटित हो जाना नयी बात नहीं है किंतु इसके आगे जो पद्मा जी लिखती हैं कि उन्होंने जॉ निसार अख़्तर को कुछ न कहा बल्कि लता मंगेशकर से उन गाने को गाने के लिये मिन्नतें की तथा जॉ निसार अख़्तर की मदद की, यहाँ बात थोड़ी अविश्वसनीय हो जाती है। अपने लिखे गीत को किसी अन्य के नाम से आने पर उन्हें गुस्सा क्यों नहीं आया, कम से कम उसका विरोध तो कर सकती थी। अपने पूर्व पति दीपजी के प्रसंग में लेखिका ने बार–बार एक ही बात दुहराई है कि बावजूद बेहद शराबी होने के भी वे दीप जी से बेइंतिहा प्यार करती थी और इस यक़ीन में थी कि वे शादी के बाद शराब न पीयेंगे। पर अपने भोले निश्छल निःस्वार्थ प्रेम का पुरज़ोर वर्णन करने के साथ उन्होंने दीपजी का पक्ष कहीं नहीं रखां दीपजी डेमोक्रेटिक नेशनल कांग्रेंस के सक्रिय कार्यकर्ता थे तथा डोगरी के विद्वान कवि भी। वे एम.ए. पास थे, किंतु इसमें उनके मात्र शराबी रूप के अतिरिक्त अन्य किसी विशेषता का रंचमात्र भी वर्णन नहीं है। अगर लेखिका ने उनसे सारी दुनिया का विरोध सहकर प्रेम विवाह किया था तो उनमें कुछ तो विशेषता होगी उस विषय पर पद्मा जी मौन रही हैं।

इस पूरी आत्मकथा में एक काव्यात्मक प्रवाह है उस काव्यात्मक प्रवाह में बहुत सी बातों का सिलसिला जम नहीं पाया है। अस्पताल के परिवेश और लता मंगेशकर के

वर्णन में ही लेखिका की दिलचस्पी ज़्यादा दिखाई देती है नतीजतन उनके स्वयं के व्यक्तित्व से जुड़ी बहुत सी आवश्यक बातें भी आत्मकथा में नदारद हैं।

महिला आत्मकथाओं में कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' कई मायनों में महत्वपूर्ण है। पुस्तक के फ्लैप पर ही मस्तराम कपूर की यह टिप्पणी इस पर बिल्कुल सटीक बैठती है कि – "यह एक सीधी–सादी जीवन कथा है जो हर प्रकार के साहित्यिक छलों से मुक्त है।"

साहित्यिक छलों से मुक्त होने का तात्पर्य है कि इसमें व्यर्थ की वह कलात्मक कुशलता नहीं दिखाई गई है जो अपने जीवन को महिमा–मण्डित करने के लिये अपनाई जाती है। जिसमें अपने दुखों का, परेशानियों का, खूबियों का ज्ञापन होता है तथा कमज़ोरियों का, छल–छद्मों का गोपन !

यह आत्मकथा दलित राजनीति से प्रेरित होकर भी नहीं लिखी गई है। इसमें दलित जीवन उनकी मान्यताओं, रीतिरिवाज़ों, विश्वासों और अंधविश्वासों का स्पष्ट चित्रण है। लेखिका स्वयं को लेखिका भी नहीं मानती, वह एक दलित स्त्री है और इसमें इन्हीं दो रूपों के भोगे हुए यथार्थ का वर्णन है। अन्य दलित आत्मकथाओं से यह इसी रूप में भिन्न भी है। मस्तराम कपूर के शब्दों में यह आत्मरति या आत्मपीड़न से उत्पन्न उन स्तब्धकारी प्रभावों से मुक्त है जो आमतौर पर दलित साहित्य की रचनाओं में पाए जाते हैं।"[1]

हिन्दी साहित्यकारों की आत्मकथाओं का भिन्न–भिन्न कोणों से अध्ययन अनुशीलन पर हमें उनमें अभिव्यक्ति के विभिन्न स्वर मिलते हैं।

आत्मकथा जीवन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। साहित्यकार के लिये जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य के अन्य रूपों में करना जितना सहज–सरल रहता है आत्मकथा में उतना ही दुष्कर। एक ओर जहाँ उसे अपने अंतर में उमड़ते भावावेग को शब्दांकित कर स्वयं की लेखकीय वृत्ति को परितोष देना होता है वहीं दूसरी ओर उसे लोकशील का

---

1. दोहरा अभिशाप – पुस्तक के फ्लैप पर मस्तराम कपूर की टिप्पणी से उद्धृत

ध्यान भी रखना पड़ता है। साहित्यिक होने के साथ–साथ वह सामाजिक इकाई भी है अतः सामाजिकता का निर्वाह भी उसे करना पड़ता है अतः अनुभूति की अभिव्यक्ति के पूर्व सावधानीपूर्वक चयन, संपादन भी उसे इच्छा–अनिच्छा से करना ही पड़ता है। साथ ही कहीं आत्मकथा डायरी, संस्मरण या इतिहास ग्रंथ न बनकर रह जाए इस हेतु उपयुक्त प्रसंगों का चुनाव भी अपेक्षित होता है। और इस प्रकार एक नितांत व्यक्तिगत रचना भी लोकदृष्टि से ही लिखी जाती है। यह आत्मकथाकार की विवशता भी है और सार्थकता भी। हिन्दी की पहली आत्मकथा 'अर्धकथानक' जहाँ 1641 ई. में 'गुण दोष का वर्णन करने के उद्देश्य से लिखी गई थी वहीं 1932 में भी प्रसाद 'औरों की सुनते हुए' स्वयं मौन रहना चाहते हैं। स्वयं मौन रहने के साथ ही 'औरों की सुनने' की चाह भी महत्वपूर्ण है। अतः आत्मकथा का प्रणयन कितना भी दुष्कर कार्य क्यों न हो, आत्मकथा का अध्ययन–पठन अवश्य ही अत्यंत रोचक कार्य है। आत्मकथा पढ़कर पाठक को न केवल साहित्य अध्ययन का आनंद मिलता है बल्कि जीवन–जगत के अनुभव भी मिलते हैं। महत्त्वपूर्ण लोगों के जीवन के बारे में जानना, उनके विचार समझना, उनके कार्य–व्यवहार से अवगत होना साथ ही उनके निजी प्रसंगों से भी जान सकना यह सब पाठक को रोमांचित कर देते हैं।

अलग–अलग आत्मकथाएं अलग–अलग जीवन की कहानियाँ होती हैं। इसलिये उनमें जीवन के विविध अनुभव निहित रहते हैं, किंतु कुछ निश्चित कोणों से देखने पर उनमें आश्चर्यजनक साम्य भी मिल जाते हैं जो समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन में मददगार होते हैं। जीवन संघर्ष की दृष्टि से देखने पर हमने पाया कि हर आत्मकथाकार के जीवनसंघर्ष की कोटि भिन्न रही। किसी के जीवन में संघर्ष अधिक रहा तो किसी के जीवन में संघर्ष कम रहा। साथ ही भिन्न–भिन्न स्वभाव होने की वजह से उन्होंने अपने संघर्ष को अलग–अलग स्तरों पर भी आंका है। लेखक की भाषा–शैली भी उसके संघर्ष के वर्णन को प्रभावित करती है एवं उस की शैली के प्रभाव से भी पाठक को उसका संघर्ष कम या ज़्यादा प्रतीत हो सकता है। लेखक का उद्देश्य भी उसके संघर्ष वर्णन को प्रभावित करता है। दलित लेखकों का उद्देश्य ही दलित जीवन के संघर्षों, विषमताओं से पाठकों को रूबरू कराना रहा है अतः उनकी आत्मकथाओं में संघर्ष के चित्र बिखरे

पड़े हैं वहीं डॉ. नगेन्द्र अथवा डॉ. देवराज उपाध्याय अपने संघर्षों में पाठक को समभागी नहीं बनाना चाहते। यह अंतर हमें पद्मा सचदेव एवं कृष्णा अग्निहोत्री दोनों की आत्मकथाओं में भी सहज मिल जाता है। दोनों ही लेखिकाओं का प्रथम विवाह असफल रहा किंतु जहाँ कृष्णा अग्निहोत्री एक धनाढ्य परिवार से सम्बद्ध होने पर भी अपना संघर्ष अत्यंत गहनता से अभिव्यक्त करती हं वहीं पद्मा सचदेव मध्यवित्त एवं ग्रामीण पृष्ठभूमि से सम्बद्ध होकर भी अपने प्रेम विवाह की असफलसता का वर्णन करने में कातर, करुण या दुखपूर्ण शैली नहीं अपनाती, बल्कि अपने सात वर्षों के वैवाहिक जीवन के अंत का वर्णन अत्यंत सादगी से करती हैं कि "तो इस तरह से उस जज़्बाती रिश्ते का अंत हुआ।"[1]

शैली का प्रभाव भी संघर्ष की कोटि को बढ़ाने–घटाने में भूमिका निभाता है। बच्चन जी ने भी श्यामा के साथ बिताए अपने वैवाहिक जीवन का ऐसा वर्णन किया हे जैसे श्यामा उनके जीवन की अमूल्य निधि रही हो जबकि बीमारी में श्यामा का इलाज भी उन्होंने नहीं करवाया तथा दस वर्षों के वैवाहिक जीवन में अधिकतर वे अपने पिता के घर ही रहीं यहाँ तक कि बच्चन जी को श्यामा से अपने विवाह की तिथि भी याद नहीं।[2] जबकि प्रकाशो के उनके घर में आने की तिथि बच्चन जी को स्मरण है।[3] जबकि उससे उन्हें प्रेम नहीं है, ऐसा विरोधाभास देखकर लेखक के संघर्ष की सत्यता पर पाठक को अनायास ही शंका होती है एवं संघर्ष वर्णन की हृदयविदारक अभिव्यक्ति देखकर शैली के प्रभाव पर विश्वास जमता है।

विभिन्न आत्मकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी मिलता है कि लगभग हर सवर्ण साहित्यकार ने अपनी जाति का गौरवपूर्ण बखान अवश्य किया है। जहाँ बच्चन ने स्वयं के 'कायस्थ कुलोत्पन्न' होने का वर्णन को अपने पूरे वंशवर्णन के साथ डेढ़ सौ पृष्ठों तक विस्तार दिया है, वहीं 'बूंद–बावड़ी में

---

1. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 231
2. क्या भूलूं क्या याद करूं – बच्चन, पृ. 228
3. – वही – पृ. 288

पद्मा सचदेव ने भी बीसियों बार 'हम इतने भारी पण्डित हैं, या 'हम बड़े ऊँचे ब्राह्मण हैं' दोहराया है।

कृष्णा अग्निहोत्री ने भी अपनी ननिहाल–ददिहाल और ससुराल के ब्राह्मणत्व का वर्णन किया है। गोपाल प्रसाद व्यास में भी यह अभिव्यक्ति मिल जाती है। अमृतलाल नागर, डॉ. नगेन्द्र, हंसराज रहबर, कुसुम अंसल, रामदरश मिश्र इत्यादि ने अपनी जाति का गौरवपूर्ण ब्यौरा नहीं दिया है। दलित रचनाकारों ने सोद्देश्य जातिवर्णन किया है क्योंकि उनके लेखन का मूल उद्देश्य ही जाति व्यवस्था की विसंगतियाँ दर्शाना है।

अपने पिताजी का वर्णन सभी आत्मकथाकारों ने अत्यंत सम्मान के साथ किया है। हंसराज रहबर तथा देवराज उपाध्याय ने अवश्य थोड़े वैचारिक मतभेदों का उल्लेख किया है। 'ईश्वर की कृपा' या 'दैवीय अनुकंपा' का वर्णन भी मात्र 'रहबर' को छोड़कर सभी आत्मकथाकारों ने यहाँ मिल जाता है। जबकि दलित आत्मकथाकार ईश्वर की सत्ता में अनास्था जताते हैं।

महिलाओं में भी कौशल्या बैसंत्री को छोड़कर शेष तीनों आत्मकथाकारों ने भगवान का विशेषतः देवी दुर्गा का अत्यंत श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है। कृष्णा अग्निहोत्री ने तो बार–बार 'मां दुर्गा की कृपा' का ज़िक्र किया है। अपने शिक्षकों–गुरुओं का वर्णन भी हर आत्मकथाकार ने किया है। इनमें शिक्षकों के आदर्श तथा विकृत दोनों रूपों का उल्लेख मिलता है। क्योंकि उन शिक्षकों ने आत्मकथाकारों के व्यक्तित्व निर्माण में अपनी विशिष्ट भूमिका निभाई है चाहे सकारात्मक या नकारात्मक। 'अपने–अपने पिंजरे' तथा 'जूठन' में शिक्षकों के दुर्व्यवहार का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया गया है। रहबर, बच्चन, नागर जी, पद्मा सचदेव की आत्मकथाओं में अयोग्य शिक्षकों के कुछ चुटीले प्रसंग भी हैं। लगभग सभी पुरुष आत्मकथाकारों ने अपने शिक्षकों द्वारा की जाने वाली अंधाधुंध पिटाई का किस्सा ज़रूर बताया है, जिससे यह पता चलता है कि पुराने समय में शिक्षकों द्वारा बच्चों को पीटना आम घटना थी। कृष्णा अग्निहोत्री को तो महाविद्यालय की नौकरी के दौरान भी सहकर्मी व वरिष्ठ शिक्षकों का दुर्व्यवहार सहना पड़ा। अपने गहनों का ज़िक्र भी कौशल्या बैसंत्री के अतिरिक्त सभी महिला आत्मकथाकारों ने किया हे। मनोवैज्ञानिक

दृष्टिकोण से देखने पर इससे इस शाश्वत तथ्य की पुष्टि होती है कि महिलाएं गहनों से प्रेम करती हैं। स्त्री आत्मकथाकारों में सिर्फ़ कृष्णा अग्निहोत्री ने ही अपने जीवन में आए पुरुषों या प्रत्येक छोटे–बड़े प्रेम प्रसंग का वर्णन किया है शेष ने नहीं, किंतु पुरुष आत्मकथाकार इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहे हैं। बच्चन ने चंपा, प्रकाशो, आइरिस, मार्जारी से लेकर अपनी अनेक महिला प्रशंसकों का लंबा वर्णन किया है। रहबर ने भी सरोज, प्रकाश इत्यादि लड़कियों से अपने नज़दीकी संबंध बताऐं हैं। कमलेश्वर की आत्मकथा 'जलती हुई नदी' में सिर्फ़ अपने जीवन में आई महिलाओं की ही दास्तान है शबनम, खतवाली, आभा, भाभी या मीता पांचाल और भी अनेक। नागर जी और नगेन्द्र ने चूंकि अपने सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश नहीं डाला है अतएव ये प्रसंग नहीं मिलते हैं। नागर जी ने अपनी सूरत का वर्णन करके इतना मात्र लिखा है – "कुछ औरतें भी इस पर रीझ चुकी हैं।"[1] 'अपने–अपने पिंजरे' में मोहनदास नेमिशराय ने अपनी अनेक प्रेमिकाओं का ज़िक्र किया है। रसवंती, सूजी, रूबी इत्यादि।

ये वर्णन पुरुष मानसिकता के मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय उदाहरण हैं जो अनेक महिलाओं के संपर्क–संसर्ग को अपनी श्रेष्ठता का परिचायक समझते हैं, उसमें गौरव महसूस करते हैं, जबकि महिलाओ के लिये ऐसे वर्णन महत्त्वहीन तथा चरित्रहीनता के प्रतीक हैं। अनूदित आत्मकथाओं में भी मात्र अमृता प्रीतम तथा कमलादास की आत्मकथाएं इन सन्दर्भों मे बेबाक तथा निर्भीक मानी गई हैं।

महिला आत्मकथाकारों ने अपने पतियों का विशेष वर्णन नहीं किया हैं सभी के पति उनके लेखन कार्य में विशेष सहयोग नहीं देते हैं। कुसुम अंसल के पति 'सुशील जी अवश्य ही उनकी पुस्तक के प्रकाशन में मदद करते हैं। पद्मा सचदेव के पति का भी उनके लेखन में असहयोग नहीं है, जबकि कृष्णा अग्निहोत्री के पति श्रीकांत जोग उनकी रचनाओं को अपने नाम से प्रकाशित करके अपने लेखक बनने के शौक को पूरा करते रहे। पुरुष लेखकों में मात्र बच्चन जी ने अपनी दोनों पत्नियों को अपनी आत्मकथा में काफी स्थान दिया जबकि अन्य ने थोड़ा–बहुत ही वर्णन किया है।

---

1. टुकड़े–टुकड़े दास्तान – अमृतलाल नागर, पृ. 12

इस प्रकार विभिन्न आत्मकथाकारों के जीवन में घटित घटनाओ, प्रसंगों में वैषम्य मिलता है तो साम्य भी है। चारों महिला आत्मकथाकार जहाँ भिन्न–भिन्न प्रदेशों की हैं (पद्मा सचदेव–जम्मू, कौशल्या बैसंत्री–महाराष्ट्र, कृष्णा अग्निहोत्री–मध्यप्रदेश, कुसुम अंसल–उत्तर प्रदेश) वहीं सभी पुरुष आत्मकथाकार उत्तर प्रदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें बच्चन, नागर, नगेन्द्र, डॉ. वृंदावनलाल वर्मा, देवराज उपाध्याय, गोपाल प्रसाद व्यास, मोहनदास नेमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि शामिल हैं, मात्र हंसराज रहबर पंजाब प्रदेश के हैं। प्रादेशिक साम्य के कारण इन आत्मकथाकारों के सामाजिक सांस्कृतिक विकास में भी साम्य होना स्वाभाविक ही है।

महिला आत्मकथाकारों में मात्र पद्मा सचदेव ने ही अपने गाँव का, अंचल का विस्तृत वर्णन दिया है जबकि पुरुष लेखकों की आत्मकथाओं में इलाहाबाद, लखनऊ, मथुरा, मेरठ इत्यादि शहरों के बारे में रोचक जानकारी मिलती है तथा उत्तर प्रदेश के रीति–रिवाजों, मान्यताओं, विश्वासों एवं अंध–विश्वासों का पता चलता है। एक सामाजिक परिदृश्य हमारी आँखों के सम्मुख घूम जाता है जिसमें मध्यवर्गीय परिवारों का जीवन, घर, गली, कूचों, बाज़ारों, स्कूलों का सजीव चित्रण रहता है। इलाहाबाद के बच्चन जी ने गली मुहल्लों के वर्णन, लखनऊ के नागर जी से बहुत भिन्न नहीं है। जहाँ जीविका के लिये आर्थिक संघर्ष भी सभी का समान श्रेणी का मिलता है वहीं साहित्यिक दुनिया के दांवपेंच भी सभी को समान झेलने पड़े, कुसुम अंसल ने तो स्पष्ट ही लेखन क्षेत्र को 'कबड्डी का मैदान' करार दे दिया है। किंतु इतनी समानता होने के बावजूद भी हम प्रत्येक आत्मकथा को दूसरी से सर्वथा भिन्न पाते हैं। इसका कारण रुचियों की भिन्नता, पारिवारिक माहौल की भिन्नता, लेखक के कहानीकार या कवि होने की भिन्नता तो है ही उनका भिन्न जातियों में उत्पन्न होना भी उनके जीवन की भिन्नता का एक बहुत बड़ा कारण है। लेखक का मनोविज्ञान, उसकी जीवनानुभूति जीवन को किस स्वरूप में चित्रित करने की उसकी आकांक्षा है, ये सभी तत्त्व आत्मकथाओं की भिन्नता के कारण हैं। सभी आत्मकथाओं में हमें आत्माभिव्यक्ति के भिन्न–भिन्न स्वर मिलते हैं।

अध्याय — चार

दलित आत्मकथाएं : व्यवस्था के प्रति विद्रोह

क) दलित आत्माभिव्यक्ति की परम्परा
ख) दलित आत्माभिव्यक्ति की आवश्यकता
ग) दलित आत्मकथाएं : संवेदना के विभिन्न धरातल
घ) दृष्टिकोण

चतुर्थ अध्याय

दलित आत्माभिव्यक्ति की परम्परा

'दलित' शब्द संस्कृत के 'दलन' शब्द से बना है ! जिसका अर्थ है दबा–कुचला !

वर्तमान समय में 'दलित' शब्द अपने शाब्दिक अर्थ के साथ ही विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हो गया है। वर्ग विशेष के सन्दर्भ में इसका सामाजिक निहितार्थ है शोषित या वंचित। समाज के जिस वर्ग को वस्तुतः अन्य वर्गों द्वारा दबाया गया या कुचला गया अथवा विकास से वंचित रखा गया वह वर्ग आज 'दलित वर्ग' के नाम से जाना जाता है।

साहित्य के क्षेत्र में 'दलित' शब्द का प्रचलन पहले मराठी में दलित साहित्य के प्रसंग में हुआ। उसके भी पहले दलित शब्द महाराष्ट्र के दलितों के आन्दोलनों के प्रसंग में प्रचलित हुआ। वर्ग भेद के विरुद्ध दलितों के संघर्ष, जाति–व्यवस्था से मुक्ति छुआछूत का विनाश तथा समग्र सामाजिक समानता के लिए उठी दलितों की आवाज़ को दलित आत्माभिव्यक्ति कहा गया। यद्यपि आत्माभिव्यक्ति की परम्परा उतनी ही पुरानी है जितना कि मनुष्य का जीवन। किन्तु साहित्य में दलित जीवन की पीड़ा और सम्वेदना की अभिव्यक्ति नहीं दिखायी पड़ती। इसलिए जब आधुनिक युग में दलित साहित्यकारों द्वारा स्वयं दलित जीवन की समस्याओं, उनके दुःख दर्द एवं सन्त्रास को अभिव्यक्त किया गया तो उसकी विशिष्टता को देखते हुए उसे दलित आत्माभिव्यक्ति नाम दिया गया।

दलित आत्माभिव्यक्ति की चर्चा भले ही आधुनिक युग में शुरू हुई हो किन्तु इससे हमें यह अनुमान नहीं लगा लेना चाहिए कि अगर साहित्य के क्षेत्र में जिस समुदाय या वर्ग की भागीदारी नहीं दिखाई पड़ती है, वह समाज अस्तित्वहीन अथवा अचेतन समाज रहा है। पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य या हिन्दी साहित्य में दलितों एवं महिलाओं की

उपस्थिति हमें नगण्य दिखाई पड़ती है। इसका कारण आलोचक कुअँरपाल सिंह के शब्दों में "भारतीय इतिहास में नारी और दलितों की स्थिति समान रही है। दलितों के लिए तो सिद्धांत और व्यवहार एक जैसा रहा हैं लेकिन नारी के लिए सिद्धांत तो ऊँचे रखे गए पर व्यवहार निम्नवत ही रहा।"[1] नारियों के प्रति रखे गए इस दोहरे मापदण्ड के फलस्वरूप वैदिक साहित्य में नारी शिक्षा के कुछेक उदाहरण मिल जाते हैं, यथा गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा इत्यादि तथा लोक साहित्य के गीतों व कहानियों में नारी की वेदना की कहानी भी सुनने को मिल जाती है जिसमें उसकी दारुण स्थिति के प्रति सहानुभूति के दो शब्द तो होते ही हैं भले ही उससे समाज में नारी की स्थिति में परिवर्तन नहीं आया हो लेकिन देवी, जननी, प्रकृति इत्यादि रूपों में उसे सम्मान मिलता है। सहचरी के रूप में साथ बैठने का अधिकार भी। पर दलितों की स्थिति भिन्न रही। उनके लिये सिद्धांत और व्यवहार समान ही थे, इसलिये साहित्य में भी उनकी वेदना, अपमान और संत्रास की अनुभूति कभी अभिव्यक्त नहीं हो पाई। नारी वर्ग व्यवस्था की शिकार थी तो दलित वर्ण व्यवस्था के। वर्गापसरण तो समय एवं परिस्थिति के अनुसार संभव हो सकता है किंतु वर्णापसरण नहीं, अतः वर्ण व्यवस्था के कुचक्र में फंसे दलितों के लिये भूख, जुल्म, शोषण तो 'भाग्य की देन' थे। नियति थी, स्वाभाविक आचार था, जिसके विरुद्ध आवाज़ उठाने की बात भी किसी के दिमाग़ में नहीं आती थी, न शोषण करने वाला अपने इस वरदान को छोड़ना चाहता, न शोषित होने वाला इस अभिशाप से मुक्ति का मार्ग जानता था। जहाँ पेट की आग बुझा पाना ही पहला और अंतिम सुख हो वहाँ अन्य सामाजिक विषमताओं से पार पाने के बारे में विचार–विमर्श, चिंतन तो गूलर के फूल की तरह अकल्पनीय थे। निश्चय ही 'भूख' की समस्या अगर हल हो जाती तो दलित समाज अन्य समस्याओं पर भी विचार करता। किंतु सामूहिक रूप से कोई विरोध अथवा आंदोलन की

---

1. वर्तमान हिन्दी महिला कथा लेखन और दाम्पत्य जीवन – साधना अग्रवाल, (भूमिका – कुअँरपाल सिंह)

जानकारी नहीं मिलने अथवा साहित्य में दलित चेतना के सूत्र नहीं मिलने मात्र से यह निष्कर्ष तो नहीं निकाला जा सकता कि दलित आत्माभिव्यक्ति हुई ही नहीं होगी। इस संबंध में सर्वप्रथम गौतम बुद्ध का नाम प्रमाणिक तौर पर लिया जा सकता है। गौतम बुद्ध के दर्शन में जाति–व्यवस्था और छुआछूत का विरोध था। गौतम बुद्ध पहले व्यक्ति थे जिन्होंने आज से ढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व वर्णाश्रम पर आधारित अन्यायकारी सामाजिक तंत्र का विरोध किया था। उनके संघ मे शूद्र भी शामिल होते थे और ब्राह्मण भी। बुद्ध का संदेश ही है – 'वसुधैवकुटुम्बकम्' किन्तु बुद्ध के बाद संस्कृत साहित्य एवं हिन्दी साहित्य में आदिकाल तक दलित स्वर नहीं सुनाई देते हैं। पर भक्तिकाल में दलित स्वर को प्रमुखता से स्थान मिला।

भक्तिकाल वह काल है जिसमें दबी कुचली शोषित जनता मानो अचानक अंगड़ाई लेकर उठ खड़ी हुई हो। इन दलित कवियों ने कोई आत्मकथा नहीं लिखी किन्तु कबीर, दादू, रैदास, पीपा व सेना इत्यादि की कविता उनकी आत्माभिव्यक्ति ही तो है। करुण हृदय की पुकार है, स्थिति वैषम्य से उपजा क्षोभ है, वर्ण व्यवस्था के भेदभाव के अन्याय को ललकार है। "हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास" में बच्चन सिंह लिखते हैं – कबीर ने डंके की चोट पर कहा है – "तू बाह्मन मैं कासी का जुलाहा', कितना चुनौती भरा स्वर है, आप ब्राह्मण हैं, उच्च वर्ण के मुकुटमणि तो मैं जुलाहा हूँ – निम्न जाति मैं कमीन। यही पर वर्ण संघर्ष का स्वर मुखर हो उठता है।"[1] कबीर सीधे–सीधे अपने विचारों को व्यक्त करते हैं – "कहै कबीर सुनौ भई संतो।" बच्चन सिंह कबीर की इस आत्माभिव्यक्ति की विशिष्टता बताते हुए कहते हैं कि "सूर, तुलसी और मीरा में भी सम्बोधन की प्रक्रिया अपनाई गई है पर, इन लोगों ने राम–कृष्ण–हरि–गोपाल को

---

1. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : बच्चन सिंह, पृ. 91

सम्बोधित किया है। ... किन्तु कबीर तो अपने श्रोताओं को सीधे सम्बोधित करते हैं।"[1]

जो तू बामन बमनी जाया।
आन बाद ह्वे क्यो नहीं आया।।[2]

उनका काव्य स्वानुभूति का काव्य है। आत्म की सहज अभिव्यक्ति है। आचार्य नगेन्द्र उनके काव्य को जीवन का काव्य मानते हैं। "कवि के रूप में कबीर जीवन के अत्यंत निकट हैं। ... उनके काव्य का आधार स्वानुभूति या यथार्थ है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है :

"मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।"[3]

यह मैं की स्पष्ट अभिव्यक्ति रैदास में भी सहज ही मिल जाती है –

'ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारा'

अथवा

जाती ओछा – पाती ओछा, ओछा जनमु हमारा
रामराज की सेवा कीन्ही। कहि रैदास चमारा।[4]

अथवा 'रज्जब' की यह पंक्ति भी उल्लेखनीय है

जाति–पांति कछु समझौ नाहीं, किसकूं करैं परैरा।।[5]

इनके अतिरिक्त धन्ना, सेना, पीपा इत्यादि दलित कवियों की भी स्वानुभूतियाँ इनके काव्य में मुखर हो उठती है। इनके काव्य को आचार्य नगेन्द्र ने अनुभूतिप्रवण जन–काव्य बताया है। वे लिखते है 'संत साहित्य आध्यात्मिक अनुभूतियों का लेखा–जोखा

---

1. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : बच्चन सिंह, पृ. 95
2. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : बच्चन सिंह, पृ. 39
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 130
4. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : बच्चन सिंह, पृ. 99
5. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : बच्चन सिंह, पृ. 105

मात्र नहीं है, उसमें तत्कालीन जनजीवन का प्रतिबिंब भी विद्यमान है।'[1] इसी में वे आगे कहते हैं कि 'यह साहित्य अपनी सरलता, जीवन दर्शन की गंभीरता ओर तत्वबोध के कारण अत्यंत प्रभावशाली है। इसकी रचना समाज के निम्न अथवा सामान्य वर्ग के लोगों ने की है। जो साहित्य के अध्ययन के स्थान पर आत्मानुभव को प्रधानता देते थे।"[2] यह आत्मानुभव की अभिव्यक्ति से परिपूर्ण इन दलित भक्त कवियों की रचनाएं इनकी ही नहीं अपितु उस काल के पूरे दलित समाज की आत्माभिव्यक्ति है, जो अंदर ही अंदर शोषण से सुलग रहा था। समाज की शोषणकारी व्यवस्था को बदलना चाह कर भी नहीं बदल पा रहा था। उनकी कविता दलित आत्माभिव्यक्ति की परम्परा का सूत्रपात करती है यह महज उनकी ही नहीं सारी दबी–कुचली जनता की अभिव्यक्ति है। डॉ. बच्चन सिंह ने इसे 'व्यक्तिवाद का उदय' कहा है।[3]

ना कुछ देखा भाव भजन में, ना कुछ देखा पोथी में
कहें कबीर सुनो भई साधौ, जो देखा सो रोटी में।[4]

भक्तिकाल के बाद रीतिकाल में यह परम्परा फिर से अवरुद्ध हो गई। क्योंकि शोषित दलित जनता सिर्फ़ अपनी पीड़ा को बता सकती थी दूसरों को रिझाने के लिये श्रृंगारपरक काव्य की रचना नहीं कर सकती थी, क्योंकि श्रृंगारपरक कविता भरे पेट का शग़ल है। वैसे भी यदि उपर्युक्त दलित कवियों के साहित्य को देखें तो उसमें प्रतीक, बिंब, सभी आम साधारण जनता के बीच से ही लिये गए हैं। भाषा भी बोलचाल की है रस–अलंकार विहीन। उनके ईश्वर भी न तो मोहिनी सूरत वाले, राधा और गोपियों से केलि करने वाले नटवर नागर हैं, और न ही राजा राम हैं जिनकी शोभा बनवासियों जैसे वस्त्र धारण करने के बाद भी अनुपम ही रहती है। जबकि इन दलित कवियों के विपरीत दूसरे सवर्ण कवियों ने ईश्वर के उसी रूप का वर्णन किया है जो मनमोहक है, अति सुन्दर, शोभायमान है। वस्तुतः ये भरे पेट के भगवान है। तुलसी भी जब दुखी होते हैं तो

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 141
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 141
3. दलित मुक्ति का प्रश्न और दलित साहित्य – दिनेश राम, पृ. 18
4. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : बच्चन सिंह, पृ. 105

राम के मोहक रूप के बजाय कलियुग को ज्यादा याद करते हैं। (लंकाकाण्ड – कवितावली)

साथ ही रीतिकाल के सन्दर्भ में यह भी महत्वपूर्ण है कि दलित भक्त कवि उस ईश्वर के आराधक हैं जिसका रूप–रेख कुछ नहीं है :

"जाके मुँह माथा नही, नाही रूप सरूप।
पुहुप बास से पातरा, ऐसो तत्त अनूप।।"[1]

और जब उसका शरीर ही नहीं है तो उसके विषय में श्रृंगारपरक रचनाएं कैसे रची जा सकती हैं। इसी कारण जब रीतिकाल में कृष्ण और राधा को आलंबन बनाकर श्रृंगार और कामपरक रचनाएं लिखी जा रही थीं तब निर्गुण का गुण गाने वाले दलित कवियों की कुछ पूछ नहीं रही। भक्ति काल के बाद दलित आत्माभिव्यक्ति की धारा फिर से आधुनिक काल में प्रवाहित हुई। इसके कारण राजनीतिक थे। आचार्य नगेन्द्र के अनुसार "हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का आरम्भ सन् 1857 में हुआ, पर भारतवर्ष के आधुनिक बनने की प्रक्रिया एक शताब्दी पूर्व तभी शुरू हो गई थी जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी के युद्ध में हराया था।[2] "अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के साथ–साथ इस देश की सामाजिक संघटना में विघटन और परिवर्तन लक्षित होने लगा।"[3]

इसका मुख्य कारण यह था कि अंग्रेज़ो ने शिक्षा का प्रचार–प्रसार किया और उन्होंने शिक्षा के द्वार निम्न जातियों के लिये भी खुले रखे थे। इससे उनमें अपनी स्थिति के प्रति जागरुकता आने लगी थी। अंग्रेज़ी शासन के दौरान औद्योगीकरण के कारण हुए नगरीकरण, शहरों की ओर प्रवास, रेलगाड़ी का प्रसार, सरकारी नौकरियों और सबसे ज़्यादा अंग्रेज़ो द्वारा छुआछूत न मानने की भावना के कारण छुआछूत का पालन करना कठिन हो गया था। यद्यपि अंग्रेज़ों ने इस देश में नई अर्थव्यवस्था औद्योगीकरण, शिक्षा,

---

1. कबीर : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 132
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य नगेन्द्र, पृ. 429
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य नगेन्द्र, पृ. 430

संचार–सुविधा, प्रेस आदि को अपने निजी स्वार्थों के लिये ही स्थापित किया था फिर भी भारत का इससे हित हुआ। गांधी जी ने प्रभाव से भी जाति भेद काफी हद तक मिट सका। छुआछूत आदि से सम्बन्धित क़ानून भी बने। इन सबके कारण दलित वर्ग में जागरुकता आई। इसी समय प्रार्थना समाज, ब्रह्मसमाज, रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज, थियोसाफिकल सोसायटी आदि समाजसुधारक संस्थाओं की भी स्थापना हो गई थी। अतः वर्ग विषमता के विरुद्ध आवाज़ें उठना शुरू हो गई थीं। इन संस्थानों द्वारा परिवर्तन की प्रक्रिया में छुआछूत, जाति–प्रथा, स्त्री–पुरुष में भेद आदि का विरोध किया गया और स्वतंत्रता, समानता का समर्थन किया गया जो कि इस बात का द्योतक है कि इस समय तक नवीन मानवतावाद का आविर्भाव हो चुका था। इसी समय केरल में नारायण गुरू तथा महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले निम्न जातियों के अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे थे। ज्योतिबा फुले ने 'गुलामगिरी' (1873) तथा 'सार्वजनिक सत्य धर्म' पुस्तकें भी इस सम्बन्ध में लिखीं। डॉक्टर अम्बेडकर ने दलित मुक्ति आंदोलन का सशक्त नेतृत्व किया। 1927 से 1930 तक उन्होंने एक सुनियोजित आंदोलन चलायां इस आंदोलन के कारण दलितों में नव चेतना जाग उठी। ज्योतिबा फुले ने भी सामाजिक विषमता के खिलाफ सत्यशोधक आंदोलन का नेतृत्व किया। ज्योतिबा फुले तथा बाबा साहेब अम्बेडकर की संघर्षशीलता का ही परिणाम था कि सर्वप्रथम दलित चेतना आंदोलन की शुरुआत महाराष्ट्र में हुई। "मराठी के कवियों में सर्वप्रथम कवि केशव सुत ने 1888 में 'अंत्यज के पुत्र का पहला प्रश्न' नामक कविता में सर्वप्रथम अंत्यज के मन में उठे सवाल को शब्दांकित किया। अस्पृश्य का नन्हा बेटा अपनी माँ से प्रश्न करता है "उस पर मेरी छाया पड़ी, तो इससे कौन ऐसी विपदा खड़ी हुई ?"[1] अरविंद इंगोले, दया पवार, त्रयम्बक सपकाले, सुखराम हिवराले, नामदेव, दयाल, अर्जुन डांगले आदि प्रमुख दलित कवि तथा लेखकों ने मराठी में दलित आत्माभिव्यक्ति की परम्परा की सुदृढ़ नींव डाली। हिन्दी में भी स्वामी अछूतानन्द, हीरा डोम इत्यादि कवियों ने दलित चेतना का प्रतिनिधित्व किया। स्वामी अछूतानंद ने जाटव सभा की स्थापना की। अछूत विद्यालय खोला। दलित लेखक

---

1. चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य – विमल थोरात (संपादक – श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे) पृ. 209

श्यौराज सिंह बेचैन ने अपने एक आलेख 'हिन्दी दलित साहित्य एक पृष्ठभूमि' में स्वामी अछूतानंद को भविष्यद्रष्टा बताया है। "स्वामी अछूतानंद सन् 1917 में दिल्ली आए। यहाँ आकर श्री देवीदास जटिया तथा श्री जगतराम जटिया के सहयोग से 'अखिलभारतीय अछूत महासभा' की स्थापना की। 1922 में पंचम् जार्ज के पुत्र प्रिंस आफ वेल्स के दिल्ली आगमन पर उन्हें अभिनंदन पत्र के बहाने अछूतों की ओर से 16 सूत्री मांग–पत्र प्रस्तुत किया ! ये 16 माँगें स्वामी जी की अछूत चिंता का निचोड़ है। इसमें उनके भविष्यद्रष्टा होने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।"[1]

निश्चय ही यह 16 सूत्री मांग–पत्र दलित आत्माभिव्यक्ति की परम्परा में एक महत्वपूर्ण चरण है। उन्होंने 'आदिहिन्दू' नामक एक समाचार–पत्र भी प्रकाशित किया। इसी प्रकार हीरा डोम भी दलित चेतना के प्रमुख कवि थे। भोजपुरी भाषा में उनका एक गीत सरस्वती पत्रिका में सितम्बर 1914 में प्रकाशित हुआ था। दलित कविता के प्रतिमानों की दृष्टि से यह गीत न केवल 1914 में अपितु आज भी वास्तव में सशक्त है। इस गीत का शीर्षक 'अछूत की शिकायत' है। इस गीत में अछूत ईश्वर के दरबार में शिकायत करता है कि तुम खम्भे को फाड़कर प्रह्लाद को बचाते हो, गजराज की मगर से रक्षा करते हो, दुर्योधन से द्रौपदी की लाज बचाते हो, लोगों की रक्षा के लिए पर्वत को कानी अंगुली पर उठा लेते हो किन्तु हमारी नहीं सुनते हो। क्या तुम भी हमें डोम जानकर छूने से डरते हो।

"डोम जानि हमनी के छुए से डरेले ?'

यह प्रश्न दलित कवि न सिर्फ भगवान से बल्कि भगवान के उन भक्तों से भी कर रहा है जो भगवान का वर्णन धन–जन के रक्षक, उद्धारक और भक्त वत्सल के रूप में करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि मध्यकाल में कबीर, रैदास आदि संतों ने जिस दलित चेतना का सूत्रपात किया था वह चेतना बीच में नष्ट नहीं हुई थी बल्कि अनवरत

---

1. चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य – संपादक : श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे पृ. 175

जारी थीं यह अफसोस की बात है कि संत रैदास के बाद पांच शताब्दियों तक दलित आत्माभिव्यक्ति को वह मंच नहीं मिल पाया जिससे वह जन–जन तक पहुँच सकती। लेखक कंवल भारती ने हीरा डोम पर लिखे अपने एक आलेख में इसी तरह के विचार अभिव्यक्त किये हैं – "जब हम मध्यकाल में एक सशक्त निर्गुण धारा को ब्राह्मणवाद, वर्णाश्रम, जातिभेद, धार्मिकपाखंड और सामंती मूल्यों के खिलाफ एक जबरदस्त विद्रोह के रूप में पाते हैं तो यह कैसे माना जा सकता है कि उस धारा ने विकास न किया हो और हीराडोम के इतने लम्बे समय तक दलित चेतना शून्य रही हो। हीराडोम का गीत उसी दलित चेतना की धारा का रूप है। इसलिए मैं उन विद्वानों से सहमत नहीं हूं जो संत रैदास के बाद पांच शताब्दियों तक दलित काव्य क्षेत्र में शून्य मानते हैं।"[1] डॉ. धर्मवीर भी यह आशंका व्यक्त करते हैं कि – "दलित चिंतन की दृष्टि से कोई भी युग इतना ख़ाली नहीं जा सकता जितना कि इसका ख़ाली होना दिखाया जाता है।"[2]

बीसवीं सदी के आरम्भ में राहुल सांकृत्यायन तथा मुंशी प्रेमचंद जैसे ग़ैर–दलित लेखकों ने भी दलित चिंताधारा के प्रवाह को आगे बढ़ाया। इनके साथ ही भदंत आनंद कौशल्यानन, बिहारी लाल हरित, कविरत्न महात्मा बख्शीदास, अयोध्यानाथ ब्रह्मचारी, पं. मौजीलाल मौर्य, मोतीलाल संत इत्यादि प्रभृति दलित लेखक भी उल्लेखनीय हैं। विभिन्न समाज–सुधार आन्दोलनों में प्रभाव से साहित्य में दलित चेतना के स्वर मुखर होने लगे। प्रेमचंद ने 'ठाकुर का कुआँ', 'कफन', 'सद्गति' आदि कहानियों के द्वारा दलितों की स्थिति के सम्बन्ध में मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इस युग में यूं भी शिक्षा के प्रसार से शोषक–शोषित सम्बन्ध पर सवाल उठने लगे थे। स्वतन्त्रता संग्राम में क्योंकि गाँधी जी के आह्वान पर सभी जातियों ने मिलकर हिस्सा लिया था, अतः मानवीयता, समता, प्रेम, बन्धुत्व व सभ्यता के आदर्श समाज में स्थापित होने लगे थे चाहे वह साहित्य के माध्यम से हुए हों या राजनीति के माध्यम से। निराला का 'चतुरी चमार', 'कुल्लीभाट' आदि

---

1. चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य – (संपादक – श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे) पृ. 150–151
2. दलित चिन्तन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर, हंस, मार्च 1998, पृ. 52

रचनाओं में दलित चेतना का स्वरूप निर्मित होता दिखायी देता है। कविता के क्षेत्र में सभी छायावादी कवियों ने दलित जीवन की सच्चाई को व्यक्त किया है। यथा निराला की कविता 'भिक्षुक', 'वह तोड़ती पत्थर' और 'विधवा'। या पंत की 'ताजमहल', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविता 'झूठे पत्ते' बेलछी हत्याकांड पर बाबा नागार्जुन की कविता और विष्णुखरे की कविता 'मैला ढ़ोने की प्रथा' में दलितों के यातनामय जीवन की अभिव्यक्ति है।

"स्वतन्त्रता पश्चात् इन पचास वर्षों में हिन्दी दलित लेखन ने अपना अस्तित्व रचा है। लेकिन हिन्दी में दलित लेखन की विधिवत् शुरुआत आठवें दशक से ही होती है। प्रेमचंद, निराला और राहुल सांकृत्यायन के बाद भी दलित लेखन के क्षेत्र में गैर दलित लेखकों के नामों की एक लम्बी फेहरिस्त है लेकिन क्या उसे दलित साहित्य कहा जा सकता है ? या वे ग़ैर दलित लेखक अपने साहित्य को दलित साहित्य कहलाना पसंद करेंगे ? उनकी औपन्यासिक ओर काव्यात्मक कृतियों में दलितों की यातना और पीड़ा का स्वर तो प्रधान है, लेकिन उनकी मुक्ति का स्वप्न नदारद है। और मुक्ति के स्वप्न के बिना मुक्ति का विकल्प तैयार नहीं हो सकता, जो दलित लेखकों द्वारा ही सम्भव है। फिर भी इन कृतियों के माध्यम से दलितों के जीवन की यातना और पीड़ा का दस्तावेज तो तैयार हुआ ही है। ऐसी कृतियों में रांगेय राघव का "मुर्दो का टीला" 1948, 'कब तक पुकारूँ' 1958, फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल' 1954, 'परती परिकथा' 1961, आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'सोमनाथ' 1954, 'गोली' 1957, उग्र का 'बुधुवा की बेटी' 1964, गोविंद वल्लभ पंत का 'जूमिया' 1964, शिवप्रसाद सिंह का 'अलग–अलग वैतरणी' 1968, जगदीश चंद्र का 'धरती धन न अपना' 1972, डॉ. आरिगपूड़ी का 'नदी का शोर' 1975, 'सोनभद्र की राधा' 1976, नरेन्द्र कोहली का 'अवसर' 1978, दामोदर साही का 'नदी मोड़ पर' 1979, अमृतलाल नागर का 'नाच्यो बहुत गोपाल' 1979, मन्नू भंडारी का 'महाभोज' 1979, श्रीचंद अग्निहोत्री का 'नयी बिसात' 1980, बालादुबे का 'मकान दर मकान' 1981, गिरिराज किशोर का 'यथाप्रस्तावित' 1982, 'परिशिष्ठ' 1981, शैलेश मटियानी का 'गोपली गफूरन' व 'नाग वल्लरी' बाबा नागार्जुन का 'बलचनमा' 1989, हरि सुमन बिष्ट का

'आसमाँ झुक रहा है' आदि मुख्य हैं। इन कथात्मक कृतियों ने किसी न किसी रूप में दलितों के जीवन को कथावस्तु में पिरोकर दलित चेतना को विस्तार ही दिया है।"[1]

यहाँ तो उल्लेखनीय है कि यह साहित्य दलित समर्थक साहित्य तो हे और इन गैर दलित लेखकों द्वारा लिखे दलित साहित्य में दलित जीवन का चित्रण तो मिलता है परन्तु उनके यहाँ दलितों की समग्र दुनिया अनुपस्थित है।

"इस दृष्टि से हिन्दी का दलित कथा–साहित्य दलितों द्वारा लिखित बहुत समृद्ध तो नहीं है पर उनकी समृद्धि की सम्भावनाएं अनंत हैं। हिन्दी के दलित कथाकारों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, मोहनदास नैमिशराय, दयानंद बटोही, रघुनाथ प्यासा, शिवचन्द्र उमेश, काली चरण 'सनेही', बी.एल. नैय्यर, जयप्रकाश कर्दम, डॉ. कुसुम त्यागी, बद्धशरण हंस, प्रेम कपाड़िया, कावेरी, सुशीला टांकभौरे, भागीरथ मेघवाल, लालचंद राही, पारसनाथ और सी.वी. भारती मुख्य हैं। ये दलित कथाकार दलित चेतना से सम्पन्न कथाकार हैं जो जीवन और समाज के भोक्ता व सृष्टा दोनो हैं।"[2]

आत्माभिव्यक्ति के सन्दर्भ में दलित आत्मकथाएँ सर्वाधिक प्रत्यक्ष व प्रमाणप्रभूत साहित्य हैं। दलितों के शोषण, दमन और रुदन की ये आत्मकथाएं जीवंत दस्तावेज हैं। दलित आत्माभिव्यक्ति की परम्परा के जो बीज मध्यकालीन कवियों ने कविता के माध्यम से बोए थे, वे बीसवीं सदी के नवें दशक में दलित आत्मकथाओं के लेखन के रूप में भलीभांति पुष्पित व पल्लवित होते दिखायी देते हैं।

इनकी प्रेरणा मराठी आत्मकथाएं ही हैं। दया पंवार की 'बलूत', शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी', शंकरराव खरात की 'तराल अन्तराल', लक्ष्मण गायकवाड़ की 'उठाईगीर', बेबी कांबले की 'जीवन हमारा' आदि आत्मकथाएं एक ओर मानव जीवन की सामाजिक विडम्बनाओं एवं विषमताओं तथा दूसरी ओर व्यक्तिगत जीवन असीम परिवर्तनशीलता एवं उपलब्धि का आलेख हैं। हिन्दी में सर्वप्रथम 1995 में मोहनदास

---

1. चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य – (सं. श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे) पृ. 117
2. – वही – पृ. 117

नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' तथा 1996 में ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' प्रकाशित हुई। ये दलित आत्मकथाएं इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योकि ये पाठक को मात्र एक व्यक्तिगत जीवन का आलेख ही प्रस्तुत नहीं कराती बल्कि सामाजिक सांस्कृतिक परिवेशगत विषमता एवं पीड़ा का यथार्थ दस्तावेज बनकर चिंतन के लिए बाध्य भी करती हैं। इन्हीं आत्मकथाओं के क्रम में एक अन्य आत्मकथा कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' भी है। डॉ. श्योराजसिंह बेचैन की आत्मकथा के अंश 'हंस' पत्रिका में 'अस्थियों के अक्षर' तथा युद्धरत आम आदमी में 'चमारका' शीर्षक से छप चुके हैं। सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' प्रकाशित हो चुकी है तथा जयप्रकाश कर्दम की आत्मकथा 'मेरी ज़ात' एवं एन.आर. सागर की आत्मकथा 'जब मुझे चोर कहा' शीघ्र ही छपने वाली है।

इस प्रकार भक्तिकाल में जो सामाजिक आन्दोलन ईश्वर को केन्द्र में रखकर चलाया गया था। उसी प्रकार का आन्दोलन आधुनिक युग में दलित लेखक समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व या कहिए कि मानवाधिकारों को केन्द्र में रखकर चला रहे हैं।

आज साहित्य से लेकर राजनीति तक जहाँ कहीं भी उन्हें अवसर मिला है वे अपने दु:ख, पीड़ा व शोषण को तो व्यक्त कर ही रहे हैं साथ ही इनके कारणों को पहचान कर उनसे मुक्ति के लिए भी कार्यक्रम तैयार कर रहे हैं एवं प्रचार–प्रसार भी कर रहे हैं जो कि सामूहिक चेतना के लिए जरूरी है। यह दलित आत्माभिव्यक्ति केवल अरण्यरोदन नहीं हैं दलित संघर्ष की ऐतिहासिक प्रक्रिया का प्रमाण है।

दलित आत्माभिव्यक्ति की आवश्यकता

दलित साहित्य के सन्दर्भ में यह प्रश्न बरबस ही उठकर आता है कि साहित्य को समग्रता न देते हुए अलग से दलित साहित्य के विभाजन की क्या आवश्यकता है। यह प्रश्न साहित्य को गोरा–काला, स्त्री–पुरुष या अवर्ण–सवर्ण जैसे खाके में बाँटने का औचित्य ढूंढता हैं। चूंकि साहित्य तो समाज का दर्पण है, तब उस दर्पण में समाज को जातिवादी, धर्मवादी, लिंगवादी या क्षेत्रवादी कोण से देखना क्या उचित है, या दलित साहित्य में ऐसा क्या वैशिष्ट्य है जो उन्हें समग्र साहित्य में एक अलग अध्याय के रूप में रखा जाए। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम 'दलित साहित्य' को परिभाषित करना आवश्यक है :–

दलित साहित्य की अब तक दो परिभाषाएं ही दी गई हैं पहली परिभाषा के अनुसार तो 'दलितों के द्वारा दलितों के लिए, दलितों पर लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है।' अन्य परिभाषा के अनुसार 'दलित जीवन से सम्बन्धित साहित्य दलित साहित्य है चाहे लेखक दलित हो अथवा ग़ैर दलित।'

यहाँ सवाल यह उठता है कि दलित साहित्य की परिभाषा तय करने में मुख्य बिन्दु दलितों से सम्बन्धी समस्याएँ हैं या लेखक के दलित होने का। इस सम्बन्ध में अलग–अलग विचारकों ने अलग–अलग मत दिए हैं। चूंकि दलित चेतना से सम्बन्धी साहित्य ग़ैर दलितों द्वारा भी लिखा जाता रहा है इसलिए दलितों को अलग से आत्माभिव्यक्ति की क्यों आवश्यकता पड़ी ?

मार्क्स ने अपने भारत सम्बन्धी एक लेख में लिखा है कि "भारतीय समाज का कोई इतिहास नहीं है। कम से कम कोई जाति इतिहास तो नहीं ही है। जिसे हम इतिहास कहते हैं वह एक के बाद एक विदेशी आक्रमणकारियों के हमलों के विवरण हैं।

जिन्होंने प्रतिरोध न करने वाले और अपरिवर्तनशील समाज के निष्क्रिय आधार पर अपने साम्राज्य स्थापित किये।"[1]

मार्क्स के इस कथन से भारतीय समाज की दो प्रमुख प्रवृत्तियों का संकेत मिलता है एक तो 'प्रतिरोध न करने वाला समाज' और दूसरा 'समाज की अपरिवर्तनशीलता'। इन दोनों प्रवृत्तियों को हम क्रमशः 'अवर्ण' तथा 'सवर्ण' समाज की प्रवृत्तियाँ मान सकते हैं। अवर्ण समाज 'सदियों से 'प्रतिरोध न करता रहा' तथा सवर्ण समाज सदियों तक 'अपरिवर्तनशील' रहा।

अब अगर दलित साहित्य अपने लिए आवाज़ उठाता है, प्रतिरोध करता है तो इसके परिणाम समग्र समाज के अपरिवर्तनशील चरित्र पर भी प्रभाव डालेंगे। इस सम्बन्ध में इस प्रतिरोध के साहित्य के 'दलित साहित्य' नामकरण के औचित्य पर दिनेशराम का यह उद्धरण महत्त्वपूर्ण है "हिन्दू समाज की आन्तरिक संरचना विशिष्ट है। इसलिए इसकी मूल ईकाई व्यक्ति न होकर जाति है। इसकी यही विशेषता इसे अन्य समाज से विशिष्ट बनाती है। जिस समाज में भारत जैसी जातियां नहीं हैं वहाँ समाज की ईकाई व्यक्ति है, इसलिए समाज के वर्गीय विभाजन की ईकाई भी मनुष्य ही है। परिणामतः वहां का साहित्य भी वर्ग या समूह में विभाजित है और उसका नामकरण भी उसी तरह हुआ है अर्थात् प्रवृत्तिगत विशेषताओं के आधार पर जैसे बुर्जुआ साहित्य, सर्वहारा साहित्य आदि। ... पर हमारे यहां वर्ग का वैसा स्वरूप नहीं है जैसा अन्य समाजों का है। हिन्दू समाज व्यवस्था में समाज की ईकाई व्यक्ति नहीं जाति है इसलिए यहां जातियों का वर्ग बनता है व्यक्तियों का नहीं। यहां धर्म तो बदल सकता है जाति नहीं, अर्थात् व्यक्ति जाति से स्वतन्त्र नहीं है। ... ऐसी स्थिति में इसका नामकरण भी जाति के आधार पर हो तो अनुचित नहीं, क्योंकि यही जातीय नामकरण उस सृजन की विशिष्टताओं को भलीभांति इंगित करता है और यही उचित व तर्कपूर्ण भी हैं आज दलित शब्द एक विशेष प्रकार की जातियों के समूह का द्योतक है इसलिए उसका साहित्य दलित साहित्य है।"[2]

---

1. 'कार्ल मार्क्स : भारत सम्बन्धी लेख' (अनुवाद ओमप्रकाश संगल), पृ. 83,
2. दलित मुक्ति का प्रश्न और दलित साहित्य – दिनेश राम, पृ. 36

इसलिये दलित चेतना पर दलितों तथा गैर दलित लेखकों को लेकर सदा ही स्वानुभूति एवं सहानुभूति की बात कही जाती है। ग़ैर दलित लेखक उतनी ही धारदार व दलित चेतस रचना कर सकता है जितनी कि जन्मना दलित और उस सारे साहित्य को 'प्रगतिशील' या 'सुधारवादी' साहित्य की संज्ञा पहले से ही प्राप्त भी है तब भला क्यों दलित आत्माभिव्यक्ति मात्र को दलित साहित्य माना जाए ? प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन, अमृतलाल नागर या गिरिराज किशोर जैसे लेखक जो दलित समर्थन में लिखते रहे हैं वे क्यों दलित लेखक नहीं हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रोफेसर तुलसीराम एक उदाहरण देते हुए कहते हैं – "अक्सर यह कहा जाता है कि दलित साहित्य लिखने के लिए दलित परिवार में जन्म लेना ज़रूरी है क्या ? अर्थात् बिल्कुल ज़रूरी नहीं है। कई लोग मंच पर आकर शेर की आवाज़ निकालकर दर्शकों में यह भ्रम पैदा करने में सफल हो जाते हैं कि वहां साक्षात् शेर बोल रहा है किन्तु इस अभिनय कला की कलई तुरन्त खुल जाती है जब अभिनेता मंच से उतर आता है। ठीक यही यथार्थ दलित साहित्य पर लागू होता है। गैर–दलितों द्वारा लिखा गया दलित साहित्य किसी अभिनेता द्वारा शेर की सफलतापूर्वक आवाज़ निकालने जैसा है जबकि दलित साहित्यकार स्वयं शेर भी है और उसकी आवाज़ भी।"[1]

इसी सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव ग़ैर दलित लेखक के दलित लेखन को सहानुभूति का भी नहीं बल्कि परानुभूति का साहित्य मानते हुए उदाहरण देते हैं कि – "लेकिन कभी भी सहानुभूति का साहित्य स्वानुभूति के साहित्य का स्थान नहीं ले सकता। जैसा कि विश्व साहित्य में नारी के एक से एक रूप का चित्रण हुआ है अपने यहाँ हिन्दी, बंगला में विविध रूपा नायिका का वर्णन चित्रण हुआ है। बल्कि एक समय तो यह होड़ थी कि कौन कितनी विचित्र और तेजस्विनी नायिका का चित्रण करता है। जब महिलाएं ख़ुद आने लगीं तो वे सारी नारियां ग़ायब हो गयीं। नारी जब अपनी बात ख़ुद कहने लगी हो वे सारी बातें फीकी पड़ गयीं। क्योंकि वह सब सहानुभूति का या कहना चाहिए परानुभूति का साहित्य है। इसे एक उदाहरण से और स्पष्ट समझ सकते हैं। अभी सौ–पचास साल

---

1. चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य – (सं. श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे) पृ. 61

पहले तक नाटकों में स्त्रियों की भूमिका पुरुष करते थे। इनमें बालगंधर्व एवं मास्टर फिदा हुसैन प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अद्‌भुत चरित्र निभाया है परन्तु यह स्वाभाविक नहीं है वह या तो वल्गर हो गए हैं या इतने शालीन हैं कि देवी बन गए। यह इसलिए कि वह अभिनय था जब नाटकों या फिल्मों में स्त्रियां आने लगीं तब अच्छे से अच्छा अभिनय करने वाले भी विदूषक बन गए। यही होता है जब स्वानुभूति से लिखा जाता हे तो उसकी 'जनुइननैस' सहानुभूति के साहित्य से भारी तथा प्रमाणिक होती है। हमारा अभ्यास वकीलों के माध्यम से लड़ने का रहा है लेकिन जब आदमी स्वयं कह सकता है उसके पास अपनी भाषा है तब उसकी नुमाइन्दगी अच्छे से अच्छा वकील भी नहीं कर सकता। यह सहानुभूति का साहित्य है मूल वक्तव्य नहीं।"[1]

दलित आत्माभिव्यक्ति की आवश्यकता इसलिए भी है कि यह अमूर्त प्रश्नों के बजाए मूर्त प्रश्नों पर बहस करती है। इससे पहले हम इस अध्याय में दलित आत्माभिव्यक्ति की परम्परा में यह देख चुके हैं कि मध्यकाल में भी जहाँ तुलसी, सूर व अन्य सवर्ण कवियों ने भगवान के मोहक, शोभायमान, दिव्य व परममनोहर रूप का चित्रण किया है वहीं कबीर, रैदास इत्यादि निम्न वर्ग के संत कवियों ने भगवान का साधारण व लौकिक रूप ही प्रस्तुत किया। हम सब जानते हैं कि भारतीय चिंताधारा में बजाय जीवन की भौतिक समस्याओं के हल ढूंढने के, अमूर्त प्रश्नों पर विचार–विमर्श की एक लम्बी परम्परा रही है कि ब्रह्म क्या है ? माया क्या है ? आत्मा क्या है ? परमात्मा क्या है ? इन दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध द्वैत का है या अद्वैत का ? इत्यादि प्रश्नों पर प्रबुद्ध वर्ग सदियों से शास्त्रार्थ करता रहा और किसी नतीजे पर नहीं पहुँचा और इस सारे क्लासिकल साहित्य से किसी का पेट नहीं भर सका। जबकि दलित साहित्य इन सब हवाई विषयों से मुक्त दलित जीवन और दलित समाज से जुड़ी समस्याओं पर ही बहस करता है। इसकी सम्वेदना के मूल में मनुष्य है। कोई काल्पनिक, आध्यात्मिक पारलौकिक ब्रह्मांड नहीं। गैर दलित लेखकों ने निश्चय ही दलित जीवन की अभिशप्तता को उस ईमानदारी से वर्णित नहीं किया है जितना आवश्यक था।

---

1. कल के लिए (दलित साहित्य विशेषांक), दिसम्बर 1998, पृ. 61

नागार्जुन अपनी 'हरिजन गाथा' नामक कविता में संस्कारवश ही दलितों को मनु पुत्र की संज्ञा दे डालते हैं –

एक नहीं दो नहीं तीन नहीं
तेरह के तेरह अभागे
अकिंचन मनुपुत्र
ज़िंदा झोंक दिये गए हो
प्रचण्ड अग्नि की विकराल लपटों में
साधन सम्पन्न ऊँची जातियों वाले
सौ–सौ मनुपुत्रों द्वारा।[1]

जबकि कोई दलित लेखक स्वयं को मनुपुत्र कहलाना पसंद नहीं करेगा। श्यौराज सिंह बेचैन 'मनु का नाती' कविता में मनुपुत्रों का उपहास करते हैं –

मैंने अपना नाम बताया
उसने पूछी जाति
रे ! यह कौन
मनु का नाती ?[2]

इसलिए राजेन्द्र यादव कहते हैं कि "अगर दलित लेखक कहते हैं कि ग़ैर दलित लेखक दलित के 'मिथ' को जीते हैं और इस तरह उसमें वास्तविकता नहीं है तो इसमे ग़लत क्या है ? चाहे वह अमृतलाल नागर का लेखन हो या गिरिराज किशोर का। इन सबने गम्भीरता के साथ दलित साहित्य में योगदान किया है परन्तु प्रस्तुति में कहीं न कहीं फर्क तो है ही।"[3]

मोहनदास नैमिशराय भी स्वानुभूति व सहानुभूति के साहित्य में फ़र्क मानते हैं। "दलित जीवन के चित्रण मे जब–जब साहित्य सृजन हुआ तब–तब सहानुभूति का दबाव विशेष तौर पर रहा। इसे हम ग़ैर दलितों के द्वारा दलित साहित्य सृजन का प्रथमचरण भी मान सकते हैं। वह इसलिए कि कुछ संवेदनशील ग़ैर दलित लेखकों ने इस तरह की

---

1. नागार्जुन की श्रेष्ठ कविताएं · [illegible] ., पृ. 23
2. कल के लिये – दिसम्बर 1998, श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 37
3. चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य – राजेन्द्र यादव, पृ. 123

रचनाएं समाज को दी। इस आशा के साथ कि समाज में कुछ परिवर्तन हो और दलितों की स्थिति में थोड़ा बहुत सुधार हो। लेकिन अकेले सहानुभूति से काम नहीं चलता क्योंकि सहानुभूति के पात्र विद्रोह नहीं करते। वे लाचारी व मजबूरी में जीते हैं तब ऐसे साहित्य की आज के संदर्भ में क्या उपयोगिता है।"[1]

दिनेश राम ग़ैर दलितों के दलित साहित्य को समर्थन का साहित्य मानते हैं। "दलित साहित्य की रचना केवल दलित ही कर सकता है ग़ैर दलित नहीं। ये दलित साहित्य का सहयोगी साहित्य लिख सकते हैं पर दलित साहित्य नहीं। कहने का आशय यह कि चूंकि दलित साहित्य दलित अस्मिता, आंदोलन की एक कड़ी है इसलिए ग़ैर दलितों द्वारा दलितों के सम्बन्ध में लिखा गया साहित्य अगर दलित अस्मिता को मज़बूत करने में सहायक होता है तो वह दलित साहित्य का सहयोगी साहित्य है वरना नहीं। दलित साहित्य तो कतई नहीं।"[2]

दलित आत्माभिव्यक्ति में भी दलित आत्मकथाएं उद्‌देश्य की पूर्ति अधिक करती हैं। क्योंकि साहित्य की अन्य विधाएं तो उतनी प्रमाणिकता से लेखक की अनुभूति को व्यक्त नहीं कर सकती, लेकिन आत्मकथा के साथ ऐसा नहीं है क्योंकि लेखक जब महसूस करता है, कि उसने जो जिया है, व्यक्तिगत जीवन संघर्षों से जो सीखा है, जो अनुभव प्राप्त किया है उसे दूसरों को जानना चाहिए। उससे समाज का हित हो सकता है तभी वह आत्मकथा लिखता है तथा दलित आत्मकथाएं दलित जीवन की पीड़ा, सन्त्रास, दुःख, अपमान, वेदना को पूरी जीवन्तता के साथ प्रस्तुत करती हैं। ये आत्मकथाएं ग़ैरदलित समाज के लिए अनुभव के नये, आयाम खोलती हैं क्योंकि अस्पृश्यता की वजह से ग़ैर दलितों को दलित समाज के उन अनुभवों की जानकारी कभी नहीं मिल सकती जोकि उन्होंने अपने जीवन में अनुभूत किए हुए होते हैं। यद्यपि कविता कहानी या गद्य की अन्य विधाओं में भी दलित आत्माभिव्यक्ति बख़ूबी हो रही है किन्तु दलितों के जीवन, उनके रहन–सहन, तीज–त्यौहार, मान्यताएँ, विश्वास–अंधविश्वास आदि की सम्पूर्ण

---

1. कल के लिए : (दलित साहित्य विशेषांक) दिसम्बर 1998, मोहनदास नैमिशराय, पृ. 62
2. दलित मुक्ति का प्रश्न और दलित साहित्य : दिनेश राम, पृ. 39

जानकारी सिर्फ आत्मकथा से ही मिल सकती है। ये आत्मकथाएँ गैर दलितों के लिए दलितों के सम्वेदनाओं व अनुभवों के भंडार खोलती हैं। किन्तु आत्मकथा व्यक्ति जीवन में एक ही लिख सकता है इसलिए दलित आत्माभिव्यक्ति का हर रूप महत्वपूर्ण है। चाहे वह कविता हो, कहानी हो अथवा उपन्यास हो या इतिहास हो। महत्व इस बात का है कि 'आदमी अपनी बात स्वयं कहे।'[1] या फुले के शब्दों में कहें तो, "राख ही बता सकती है जलने की पीड़ा।"

इन अर्थों में दलित आत्माभिव्यक्ति की आवश्यकता अवश्य सिद्ध होती है क्योंकि व्यक्ति अपने अनुभव स्वयं लिखेगा तो उसमें अधिक गहराई तथा सच्चाई होगी बनिस्बत उसके किसी पैरोकार अथवा शुभचिंतक सहयोगी के द्वारा लिखे गए साहित्य के।

दलित आत्मकथाएँ दलित संघर्ष के प्रामाणिक दस्तावेज़ के रूप में साहित्य की निधि हैं।

---

1. चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य – (सं. श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे) पृ. 122

दलित आत्मकथाएँ : संवेदना के विभिन्न धरातल

आधुनिक युग से आत्मकथा लेखन के क्षेत्र में मानो बाढ़ सी आ गई एवं शताधिक आत्मकथाएँ हिन्दी में लिखी गईं, इनमें नेता–अभिनेता से लेकर साहित्यकार प्रशासक, पत्रकार, खिलाड़ी सभी की आत्मकथाएँ आईं एवं सभी आत्मकथाकारों ने अपने क्षेत्र–विशेष के अनुभव या जीवन संघर्ष को अभिव्यक्त किया है। किंतु दलित आत्मकथाओं के सम्बन्ध में अगर हम चर्चा करें तो गिनती की तीन–चार आत्मकथाएँ हमारे सम्मुख आती हैं जबकि दलित आबादी, दलित लेखकों अथवा दलित अनुभवों की कमी नहीं है फिर भी दलित आत्मकथाएं कम हैं। इसका सीधा–सादा कारण यही है कि – हिन्दी में दलित चेतना अस्सी के दशक में ही विकसित हुई है एवं नब्बे के दशक में आत्मकथाएं आनी आरंभ हुईं। हिन्दी में दलित आत्मकथा लिखने की शुरुआत नवें दशक में पत्रकार राजकिशोर द्वारा संपादित 'हरिजन से दलित' में दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि के आत्मकथांश से मानी जा सकती है। प्रथम पुस्तकाकार आत्मकथा 1995 में मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' आई। यह हिन्दी की पहली दलित आत्मकथा है। 1996 में दूसरी दलित आत्मकथा ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' शीर्षक से आई।

1999 मे कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा में दलित जीवन व स्त्री जीवन दोनों से जुड़े संघर्षों का वर्णन है। इधर हाल ही में सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' भी प्रकाशित हुई है। साथ ही श्यौराज सिंह बेचैन (अस्थियों के अक्षर) जय प्रकाश कर्दम (मेरी जात) तथा एन.आर. सागर (जब मुझे चोर कहा) की आत्मकथाएं आने वाली हैं।

मराठी में आत्मकथा साहित्य काफी समृद्ध हैं। मराठी में दलित आत्मकथाओं की शुरुआत बी.आर. अम्बेडकर की आत्मकथा 'मी कसा झाला' (मैं कैसे बना) से मानी जाती है। उसके बाद दया पंवार की बलूत, शरणकुमार लिम्बाले की अक्करमाशी, लक्ष्मण

गायकवाड़ की उठाईगीर, शंकर राव खरात की तराल–अंतराल, प्रा.ई. सोनकांवले की यादों के पंछी, बेबी काम्बले की जीवन हमारा इत्यादि आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं। ये सभी आत्मकथाएं बहुत ही गंभीर लेखन हैं एवं दलित साहित्य की परम्परा में अपना अहम स्थान रखती हैं।

आत्मकथा लेखन की विकसित होती प्रवृत्ति इस बात का स्पष्ट संकेत है कि दलित लेखक अपनी आत्माभिव्यक्ति के लिए कितने व्यग्र हैं। यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में यह प्रश्न भी बराबर उठ रहा कि, जब कि कविता–कहानी–उपन्यास के माध्यम से दलित आत्माभिव्यक्ति को साहित्य मंच में बराबर स्थान मिलता रहा है फिर भला अलग से आत्मकथा रूपी माईक की क्या आवश्यकता है ? समूचा दलित साहित्य चूंकि दलित चेतना आंदोलन का हिस्सा है फिर दलित आत्मकथा की अलग से ज़रूरत क्यों महसूस हुई। यह विचारणीय है। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि आत्मकथा सत्यावलंबित विधा है कल्पना का इसमें समावेश वर्जित है। अतः कविता, कहानी या साहित्य की अन्य विधाओं में दलित–आत्माभिव्यक्ति कितनी भी सशक्त क्यों न हो उसे 'प्रमाणिक अनुभव' का प्रमाण–पत्र नहीं मिल सकता एवं कल्पनाश्रित समझे जाने की संभावना भी है जबकि आत्मकथा भोगे गए जीवन का प्रमाणिक दस्तावेज़ होती है। दलित आत्मकथाओं को पढ़ कर ही दलित जीवन के पीड़ा, संत्रास व अपमान की जानकारी मिल सकती है। इस तरह दलित आत्मकथाएं शेष दलित साहित्य को सत्यापित भी करती हैं, उन पर प्रमाणिकता की मोहर लगाती हैं।

वस्तुतः शेष समाज दलित समाज की समस्याओं व शोषण से अनभिज्ञ है एवं बदलते समय में आने वाली दलित पीढ़ियाँ भी इनसे अनभिज्ञ रहेंगी तब ये दलित आत्मकथाएं दलित इतिहास का भी काम करेंगी। क्योंकि "दलितों" का कोई लिखित इतिहास नहीं है अशिक्षित वर्ग जो कुछ याद रखता है वह केवल लोककथाओं या सुनी–सुनाई कहानियों द्वारा जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को देती रहती है वही उसका इतिहास है।"[1] इसलिए भी दलित आत्मकथाओं की अलग से आवश्यकता है।

---

1. अंगुत्तर : भगवानदास (अप्रैल–मई–जून) 1996, पृ. 9

साथ ही एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि आत्मकथा चूंकि जीवन की कथा होती है इसलिए साहित्यिक से ज्यादा वह सामाजिक उद्देश्य लिए होती है। कम से कम दलित आत्मकथाओं के बारे में तो यह सच है। हर आत्मकथा लेखक किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही आत्मकथा लिखने बैठता है। सभी दलित आत्मकथा लेखकों का उद्देश्य कमोबेश एक समान रहता है – दलित जीवन के संघर्षों से अपने पाठकों को अवगत कराना। इन अर्थों में प्रत्येक दलित आत्मकथा व्यक्ति की आत्मकथा न होकर पूरे समुदाय की आत्मकथा हो जाती है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था की विषमतापूर्ण संरचना में दलित समाज का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह अमीर हो या ग़रीब, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, स्त्री हो अथवा पुरुष जातिगत अभिशाप को झेलने के लिए मजबूर है। साथ ही ग़रीबी, अशिक्षा, शोषण, बेरोजगारी भूमिहीनता आदि से बहुसंख्य दलित समाज पीड़ित है तथा अपनी स्थिति से निकलने का रास्ता भी वे नहीं जानते हैं। उनमें से अधिकांश व्यक्ति परिस्थितियों से समझौता कर लेते हैं। यह सोचकर की दलित होने के नाते यह सब तो हमारे भाग्य में ही बदा है। इसलिए ऐसे लोगों के लिए दलित लेखकों की आत्मकथाएं जिनमें उनका जीवन संघर्ष प्रमाणिक रूप से अभिव्यक्त होता है तथा जिन्होंने उसी दलित समाज में रहकर परिस्थितियों से समझौता नहीं किया एवं आज समाज में अपनी जगह बना ली है उनकी जीवन कथा निश्चय ही संघर्षरत दलितों के लिए अंधेरे में एक दीपस्तम्भ का कार्य करती है। उनमें आशा का संचार करती है। शोषित, पीड़ित व निराश दलित जनता के लिए ये आत्मकथाएं साहित्यिक व ऐतिहासिक ज़रूरतों से कहीं ज़्यादा सामाजिक ज़रूरत की पूर्ति करती हैं। इन आत्मकथाओं में व्यक्त व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन संघर्ष न केवल दलितों को बल्कि गैर दलितों को भी विषम व प्रतिकूल परिस्थितियों में संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। चाहे मराठी की हो या हिन्दी की, प्रत्येक दलित आत्मकथा में हमें सम्वेदना के व संघर्ष के विभिन्न धरातल मिलते हैं।

यहाँ डॉ. धर्मवीर की इस टिप्पणी पर भी विचार कर लेना उचित होगा जिसमें वे न केवल दलित आत्मकथाओं को ग़ैर ज़रूरी बताते हैं बल्कि इससे बचने की सलाह भी देते हैं। "दलित साहित्य में साहित्यिक क्षेत्र में विधा के रूप में आत्मकथा, आत्महत्या है। एक लेखक के लिए आत्मकथा लिखना आत्महत्या करना है। दलित लेखकों को इस

विधा से बचना चाहिए। ... दलित साहित्यकार, आत्मकथा लिखने के बजाय उन मामलों को लेकर न्यायालयों में मुक़दमें दायर करने जाए तो हिन्दू समाज पर क़ानूनी दबाव सही ढंग से पड़ेगा। बिना मुक़दमा दायर किए आत्मकथा लिखने का मतलब अपना फजीता आप करना है।"[1]

अगर डॉ. धर्मवीर की टिप्पणी में 'फजीता' शब्द का विश्लेषण किया जाए तो इसका सीधा–सादा अर्थ दलित बस्तियों की गंदगी, दलित जीवन के अपमान भरी ज़िन्दगी से पाठकों को अनावश्यक रूबरू करवाना ही फजीता है। क्योंकि पाठक इन मुददों पर लेखक का कुछ भला नहीं कर सकते लेकिन इन्हें डर है कि उपहास का पात्र बना सकते हैं। इसीलिए डॉ. धर्मवीर इन मुद्दों को कोर्ट में ले जाने की अव्यवहारिक सलाह भी दे देते हैं किन्तु वे लेखनी की शक्ति से शायद परिचति नहीं हैं। वे नहीं जानते कि न्यायपालिका के आदेश अपराधी में वह अपराध–बोध नहीं पैदा कर सकते जो एक सशक्त लेखनी कर सकती है। वैसे भी न्यायालय तक जाना सभी दलितों के बस की बात नहीं है। इसलिए ये आत्मकथाएं जहाँ एक ओर दलित पाठक को संघर्षशील एवं प्रबुद्ध बनाती हैं वहीं ग़ैर दलित पाठकों में भी अपराध–बोध पैदा कर उसे एक बेहतर नागरिक बना सकती हैं। इन आत्मकथाओं का सम्वेदनात्मक धरातल इतना विशाल है कि ये मात्र लेखक का व्यक्तिगत जीवन संघर्ष नहीं है बल्कि समूचे दलित समुदाय के संघर्ष की गाथा है।

इस अध्याय में हम तीन प्रमुख दलित आत्मकथाओं की सम्वेदना एवं संघर्ष पर चर्चा करेंगे – 'अपने–अपने पिंजरे', 'जूठन' और 'दोहरा अभिशाप'। वस्तुतः इन आत्मकथाओं का संवेदनात्मक संसार इतना व्यापक है कि वह एक अध्याय में नहीं समेटा जा सकता है। अतः यहां हम इन आत्मकथाओं के सन्दर्भ में उन्हीं प्रयोजनों, प्रवृत्तियों व उपलब्धियों पर चर्चा करेंगे। जो सभी दलित आत्मकथाओं का केन्द्रीय तत्व है। क्योंकि दलित चाहे महाराष्ट्र का हो अथवा मध्यप्रदेश का या दिल्ली का, चाहे वह वाल्मीकि हो, जाटव हो या महार हो सभी को एक जैसी सामाजिक उपेक्षा का सामना करना पड़ता है इसलिये इनकी आत्मकथाओं की मूल संवेदना भी समान है।

---

1. धर्मवीर : दलित साहित्य 1999, सम्पादन – जयप्रकाश कर्दम, पृ. 47

"अपने–अपने पिंजरे" : मोहनदास नेमिशराय दलित चेतना की उर्द्धवमुखी यात्रा

दलित चेतना को 'नकार' का साहित्य माना जाता है। जो न सिर्फ वर्ण व्यवस्था को नकारता है बल्कि साहित्य के परम्परागत सौन्दर्यशास्त्र को भी नकारता है। वस्तुतः दलित आत्मकथा लेखन का प्रयोजन ही नकार से शुरू होता है। सर्वप्रथम ये मम्मट के उस काव्य प्रयोजन सम्बन्धी पंचसूत्रीय श्लोक को सिरे से नकारती चलती है –

"यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षयते।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयौपदेशयुजे।।"[1]

दलित लेखक को आत्मकथालिख कर अप्रतिष्ठा की प्रप्ति भले हो जाए यश तो हासिल नहीं ही होता है। व्यवहारविदता या शिवं की रक्षा का भी उसके लिये कोई मोल नहीं। परनिवृत्ति या कान्ता सम्मत उपदेश देना उसका कोई प्रयोजन नहीं है। प्रयोजन है तो सिर्फ़ इतना कि दलित पाठक को उसकी संघर्षगाथा से आत्मगौरव का बोध हो। इस उद्देश्य से मोहनदास नेमिशराय की आत्मकथा दलित चेतना की विकासयात्रा में आत्मकथा नाम का पहला मील का पत्थर स्थापित करती है। यह पहला प्रयास निश्चय ही वंदनीय–अभिनंदनीय है, क्योंकि इस आत्मकथा से दलित आत्मकथा लेखन की एक ऐसी उर्ध्वमुखी यात्रा शुरू हुई जो मंजिल से पहले रुकने वाली नहीं है। यह एक ऐसे व्यक्ति की जीवन कहानी है जिसके पास चालीस के दशक में ही तीन मंज़िल की हवेली थीं, पिता सरकारी नौकरी में थे, ताऊ नगरपालिका के मेम्बर। घर में विलायती लैम्प, आदमक़द शीशा, मेज़, कुर्सी, पेंचदार हुक्का था तथा एक ऐसा पंखा भी था जिसे दूसरा व्यक्ति हिलाता था। इन्हें प्रतिदिन उन दिनों 10 पैसे जेब खर्च मिलता था जो आज के 10 रूपये से कम नहीं था। अर्थात् जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं रोटी–कपड़ा–मकान से कहीं अधिक उपलब्ध ही था। फिर भी हम यह देखते हैं कि साधन संपन्न होने के

---

1. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र – डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, पृ. 132

बावजूद जाति का दंश इन्हें भी भोगना पड़ा। अपमान का दंश, गुलामी का दंश। जिसे स्मरण कर लेखक क्षोभ से भर उठता है – "पीढ़ी दर पीढ़ी हम गुलाम थे। इधर माँ बच्चा जनती और उधर पैदा होने वाले बच्चे के माथे पर उसकी जात लिख दी जाती।"[1]

समीक्षकों ने इसे किसी आम अभाव ग्रस्त दलित की कथा न होने के कारण दलितों के निचले जीवन स्तर की प्रतिनिधि आत्मकथा नहीं माना है। पर सिर्फ़ लेखक के निम्न आम वर्ग के बजाय मध्यवर्ग से सम्बद्ध होने मात्र से तो दलित व्यक्ति की वर्गगत समस्याएं हल नहीं हो जाती। व्यक्तिगत स्तर पर, भले ही उसे जीवन संघर्ष नहीं करना पड़ा किन्तु सामाजिक स्तर पर दलित चाहे अमीर हो या ग़रीब उसे बराबरी का दर्ज़ा तो नहीं ही मिलता। यहाँ विडम्बना यह है कि हिन्दू समाज में तो इनके लिये 'नो एण्ट्री' का बोर्ड है ही मुस्लिम समुदाय भी अपने बराबर नहीं समझता।

आज दलित समाज में दलित एक व्यक्ति नहीं है जाति है। हर दलित के माथे पर उसकी जाति का लेबल चस्पां है। हिन्दू समाज व्यवस्था की इकाई व्यक्ति नहीं जाति है यहाँ व्यक्ति धर्म बदलने पर भी अपनी जाति नहीं बदल सकता। ऐसी स्थिति में धर्मान्तरण भी दलितों को दलित्व के अभिशाप से मुक्ति नहीं दिला सकता। लेखक इस विडम्बना का मार्मिक वर्णन करता है – "बाबा साहेब अम्बेडकर ने 6 दिसम्बर, 1956 में बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। पर हम बौद्ध कहाँ थे ? केवल बुद्धं धरणं गच्छामि कहने से तो बौद्ध नहीं हो जाते। फिर हम कौन हैं ? दंगे भड़कने पर मुसलमान हमें हिंदू समझकर मारते हैं और जब कर्फ्यू नहीं होता तो हिंदू चमार समझ कर अपमानित करते हैं।"[2] लेखक चिरंतन प्रश्न उठा रहा है – हम कौन हैं ? कबीर ने स्वयं को ना हिंदू ना मुसलमान कहा था। पर जातियों–धर्मों के अलावा भी इस देश में व्यक्ति की कोई महत्वपूर्ण पहचान है ?

दलित व्यक्ति तीन मंज़िल की हवेली में रहने से ऊपर के तीन वर्णों में तो शामिल नहीं हो जाता। पूरी आत्मकथा में यही जाति का दंश लेखक को सालता रहता है।

---

1. अपने–अपने पिंजरे – मोहनदास नेमिषराय, पृ. 17
2. अपने–अपने पिंजरे – मोहनदास नेमिषराय, पृ. 84

इसीलिये वह बम्बई जाकर प्रसन्न होता है। जहाँ कोई उससे उसकी जाति नहीं पूछता है। यद्यपि "बम्बई में भूख थी ग़रीबी थी, बेरोज़गारी थी, लेकिन आदमी–आदमी के बीच जातियों की दीवारें न थी। मुझसे कभी किसी ने मेरी जात न पूछी थी।"[1] इस देश में भूख, ग़रीबी, बेरोज़गारी तो सभी की समस्याएं हैं लेकिन जाति की समस्या सिर्फ़ दलितों की ही है। इसलिये अलग–अलग धरातलों पर जीने वाले दलित आत्मकथाकारों की आत्मकथाओं की मूल संवेदना समान मिलती है। क्योंकि वह हर दलित की संवेदना है। वे इन्सान बाद में है पहले दलित हैं। नेमिशराय जी की यह आत्मकथा समूचे दलित समाज का वृत्तांत है। इसीलिये रजत रानी 'मीनू' अपने आलेख 'आत्मकथा की परम्परा और दलित आत्मकथाएं में लिखती हैं – "यहाँ नेमिशराय जी इस आत्मकथा को दलित समाज का वृत्तांत नाम देते तो ज़्यादा उपयुक्त रहता क्योंकि उनकी इस कथा में वे स्वयं बहुत कम दिखते हैं।"[2] इण्डिया टुडे में दिलीप मण्डल ने अपने–अपने पिंजरे की समीक्षा लिखी थी उनका मानना है कि "यह रचना मराठी लेखक दया पंवार की अछूत और शरण कुमार लिंबाले की 'अक्करमाशी' के जोड़ की नहीं बन पाई है।"[3] यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि यह आत्मकथा है उपन्यास नहीं। हर जीवन के अनुभव अलग–अलग होते हैं तथा इसीलिये अलग–अलग आत्मकथाओं में भी ऐसी प्रतिस्पर्धा नहीं हो सकती कि 'उसकी कमीज़ मेरी कमीज़ से सफेद कैसे' ? यह आवश्यक नहीं है कि अगर 'अक्करमाशी' के शरणकुमार लिम्बाले गोबर में से निकला अनाज खाने को मजबूर हैं एवं 'अपने–अपने पिंजरे' के मोहनदास नेमिशराय तीन मंज़िल की हवेली में रहते हैं तो 'अक्करमाशी', 'अपने–अपने पिंजरे' से अधिक रोचक या पठनीय हो जाती है। दोनों ही आत्मकथाएं समाजशास्त्रीय अध्ययन में मददगार हैं एवं उन्हीं मापदण्डों की दृष्टि से उनका अध्ययन किया जाना चाहिये।

'अपने–अपने पिंजरे' में कुछ घटनाओं को अनावश्यक रूप से डाला गया है जिससे फिजूल का वर्णन तो बढ़ा ही है कृति का मूल उद्देश्य भी भंग होता है। समाज

---

1. अपने–अपने पिंजरे – मोहनदास नेमिषराय, पृ. 136
2. चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य – पृ. 155
3. दिलीप मण्डल – इण्डिया टुडे, 15 अप्रैल, 1996

में बहुत कुछ ऐसा घटित होता है जो हम रोज़ाना देखते हैं किंतु जीवन की कथा में क्या उस नित्यकर्म का कोई महत्व भी है ? अप्रासंगिक रूप से महिलाओं के विषय में वर्णन करना उचित नहीं है। अपने नपुंसक भाई, बम्बई की तवायफों, रसवंती, सूजी, रूबी इत्यादि का दैहिक वर्णन करना लेखक की स्त्री को देखने की बीमार मानसिकता ही कहलाएगी सन्दर्भहीन घटनाओं को आत्मकथा में देने का आशय ही यह है कि लेखक उन घटनाओं को महत्व देता है। जैसे 'मेरे जीवन में अनेक काली महिलाएं आईं।'[1] अगर लेखक को अपने व्यक्तित्व की पहचान जाति से करना नापसंद है तो किसी व्यक्ति की पहचान वह रंग से क्यों कर रहा है ? स्त्री के प्रति क्या यह दृष्टिकोण उचित है ? मोटी औरत, काली औरत जैसे शब्द लिखना या जिस भी स्त्री का वे वर्णन करते हैं उसका शारीरिक वर्णन ही करना किस दृष्टि का परिचायक है ? आत्मकथा के अंतिम दस पृष्ठों में लेखक ने उन महिलाओं का जिनके संपर्क में वह बम्बई में आया, चाहे वह उसकी चाची हो या सूजी–रूबी अथवा उनकी माँ या कोई अजनबी महिला उनकी सिर्फ सुन्दरता या असुन्दरता का ही वर्णन किया है। यहाँ आश्चर्यजनक यह है कि यही लेखक अपने अन्य लेख में महिलाओं का पैरोकार बन के खड़ा होता हैं। 'अम्बेडकर इन इण्डिया' नामक पत्रिका में छपे अपने लेख 'हिंदू समाज में स्त्री की कोई पहचान नहीं होती' में मोहनदास नेमिशराय जी स्त्रियों की सामाजिक–सांस्कृतिक पहचान की बात करते हैं तथा इस पर क्षोभ व्यक्त करते हैं कि "हिन्दू समाज व्यवस्था में स्त्री की कोई स्वतंत्र पहचान नहीं होती, न उसका कोई स्वतंत्र व्यक्ति होता है।"[2]

लेख में लिखे विचार एवं स्वयं के जीवन में स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में यह अंतर लेखक की विचारधारात्मक ईमानदारी पर प्रश्नचिन्ह लगा जाता है।

लेकिन फिर भी जहाँ तक हम मूल संवेदना की बात करते हैं तो दलित चेतना के उत्थान में यह रचना निस्संदेह ही महत्त्वपूर्ण है। लेखक अपने प्रति गौरव का भाव रखते हुए आत्मकथा लिखता है। एक दलित के रूप में उसने भी उन्हीं सामाजिक

---

1. अपने–अपने पिंजरे – मोहनदास नेमिषराय, पृ. 125
2. अम्बेडकर इन इण्डिया : जुलाई 2002, मोहनदास नेमिशराय

विषमता के अपमानो को झेला किंतु इससे वह अपने व्यक्तित्व को नष्ट नहीं होने देता, उसे न केवल बचाता है बल्कि और विकसित करता है तथा आत्मकथा के रूप में समाज को भेंट करता है जिससे दलित वर्ग प्रेरणा पा सके व ग़ैर दलित सीख !

दलित आत्मकथाओं के विकास के क्रम में प्रथम आत्मकथा होने से इसका ऐतिहासिक महत्त्व किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास परीक्षागुरू की भांति ही है जो भले ही भाषा–शिल्प या विचारधारात्मक स्तर पर कुछ कमियाँ लिये हों लेकिन आने वाले लेखकों को एक मार्ग तो सुझाती ही है जिस पर भविष्य का बेहतर प्रासाद खड़ा हो सकता है।

'जूठन' : छड़ी से पीठ पर लिखा गया महाकाव्य (ओमप्रकाश वाल्मीकि)

ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम हिन्दी साहित्य में जाना–पहचाना है। वाल्मीकि जी के दो काव्य संग्रह 'सदियों का संताप' तथा 'बस्स ... बहुत हो चुका' प्रकाशित हो चुके हैं। एक कहानी संग्रह भी 'सलाम' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। विवेच्य आत्मकथा 'जूठन' भी दलित आत्मकथाओं में समीक्षकों – विचारकों द्वारा सराही गई है।

इसके अलावा लेखक देहरादून में भारत सरकार के रक्षा मंत्रालय में उत्पादन विभाग में अधिकारी के पद पर कार्यरत है। पर इस गंभीर, ज़हीन लेखक एवं सरकारी अधिकारी के सारे जीवन की कहानी में जो कुछ भी घटा उन सब प्रसंगों के मूल में उसका 'चूहड़ा' होना ही है। वह लेखक है, विचारक है, ज़िम्मेदार सरकारी अधिकारी है लेकिन सबसे ऊपर वह दलित है। यही इस आत्मकथा की बल्कि समूचे दलित साहित्य की मूल संवेदना है। व्यक्ति की पहचान उसके विचार अथवा कार्यों अथवा समाज में उसके योगदान से नहीं जाति से होती है। लेखक इस जाति की समस्या से निपटने के लिये –संघर्ष और संवाद' का रास्ता सुझाता है। "बदलाव पलायन से नहीं, संघर्ष और संवाद से आएगा।"[1]

'जूठन' आत्मकथा में जूठन एक रिवाज़, एक व्यवस्था के रूप में मौजूद है। उच्च वर्णों के लोगों के घर से शादी–ब्याह के मौक़े पर दलित जातियाँ जूठन बटोर कर ले आती थी एवं बड़े चाव से उसे खाती थीं क्योंकि कभी–कभी ही अच्छा अन्न खाने को मिलता था चाहे वह जूठन के रूप में ही क्यों न हो। यह जूठन उन्हें मुफ़्त में नहीं मिलती थी इसके लिये उन्हें उस शादी से पहले साफ–सफाई इत्यादि की ढेरों बेगार करनी पड़ती थी। "अगर किसी शादी में जूठन कम उतरती थी लोग कहते थे कि बड़े भुक्खड़

---

1. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 152

बाराती हैं जूठन तक नहीं छोड़ी अक्सर ऐसे मौक़ों पर बड़े–बूढ़े ऐसी बारातों का ज़िक्र बहुत ही रोमांचक लहजे में सुनाया करते थे कि उस बारात में इतनी जूठन आई थी कि लोग महीनों तक खाते रहे थे।"[1] जूठन इस आत्मकथा में इस प्रकार पेट भरने का साधन बन कर तो आती ही है, लेखक की माँ द्वारा 'जूठन' का टोकरा सुखदेव त्यागी के दरवाजे पर फेंक आने से 'जूठन' एक दुस्साहसी विद्रोह का प्रतीक भी बन कर सामने आती है। "बारात खाना खा रही थीं माँ टोकरा लिये दरवाज़े के पास बैठी थी मैं और मेरी छोटी बहन माया माँ से सिमटे बैठे थे इस उम्मीद से कि भीतर से जो मिठाई और पकवानों की महक आ रही है, वह हमें भी खाने को मिलेगी। जब सब लोग खाना खाकर चले गए तो मेरी माँ ने सुखदेव सिंह त्यागी को दालान से बाहर आते देखकर कहा – "चौधरी जी, इब तो सब खाणा खाकर चले गए ... म्हारे जाकतों (बच्चों) कू भी एक पत्तल पर धरके कुछ दे दो, वो भी तो इस दिन का इंतजार कर रहे थे।

सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा – 'टोकरा भर तो जूठन ले जा रही है ऊपर से जाकतों के लिये खाणा मांग रही है अपनी औकात में रह, चूहड़ी, उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।'[2]

जूठन की वजह से हुआ यह अपमान लेखक पर गहरा प्रभाव छोड़ गया "सुखदेव त्यागी के वे शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उतर गए, जो आज भी अपनी जलन से मुझे झुलसा रहे हैं।"[3]

इस प्रकार जूठन लेखक के बालमन पर अपमान का एक दंश छोड़ जाती है साथ ही जूठन के नकार के रूप में उसकी माँ का विद्रोह भी उसे संस्कार प्रदान करता है। जब सुखदेव त्यागी लेखक की माँ का अपमान करता है तो उसकी उस श्रद्धा पर आघात पड़ता है जो उसकी अपने सवर्ण आका पर थी, जिससे उसे भोजन मिलने की आशा थी जब वह आशा बदतमीज़ी भरे शब्दों से कुचली गई तो वह ग़रीब, दलित स्त्री स्वाभिमान की पुतली बन उठी एवं उस जूठन रूपी कृपा, जोकि उसके जीवनयापन का एक बड़ा सहारा थी, उसे वहीं मालिक के दरवाज़े पर फेंक कर आ गई और कहा "इसे ठाके अपने

---

1. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 19
2. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 21
3. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 21

घर में धर ले, कल तड़के बरातियों को नाश्ते में खिला देणा।"[1] लेखक इस घटना का साक्षी था, माँ के प्रतिरोध के रूप में जूठन उसके लिये व्यवस्था के प्रति प्रतिरोध का प्रतीक बन गई। 'जूठन' के रूप में सवर्ण जातियों से कृपा के टुकड़े लेना उसने तभी से छोड़ दिया। इसलिये इस आत्मकथाका 'जूटन' नामकरण कितना सटीक है। श्रम के बदले में जो अन्न कृपा से, दमन से, बल्कि हिकारत से दिया जाता है वह स्वीकार्य नहीं है। सम्मान पर लगी चोट लेखक के मन में संघर्ष के बीज बो जाती है जो फिर सारी ज़िंदगी जारी रहता है।

आत्मकथा के आरम्भ में ही बालक ओमप्रकाश को स्कूल में जातिगत अपमान झेलना पड़ता है। जब वह आज़ाद भारत के स्कूल में किसी तरह भर्ती होकर पढ़ने जाता है तो मास्टर कलीराम उससे पूछता है ... "क्या नाम है बे तेरा – 'ओमप्रकाश', मैंने डरते–डरते धीमे स्वर में अपना नाम बताया। हेडमास्टर को देखते ही बच्चे सहम जाते थे, पूरे स्कूल में उनकी दहशत थी चूहड़े का है ? हेडमास्टर ने दूसरा सवाल उछाला –

'जी' ! ठीक है ... वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़ के झाड़ू बणा ले। पत्तों वाली झाड़ू बणाना और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। (दो दिन झाड़ू लगाने के बाद) तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाइ पड़ी 'अबे चूहड़े के ... कहाँ घुस गया। उनकी दहाड़ सुन कर मैं थर–थर काँपने लगा था। एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, मास्साब वो बैठा है कोने में। हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली। उनकी उंगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोच कर उठा लेता है कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीख कर बोले – जा, लगा पूरे मैदान में झाड़ू।"[2] 'गुरू' जिसे इस देश में ईश्वर से भी पहले वंदना प्राप्त हुई हो, अगर वह भी ऐसा अमानवीय व्यवहार शिष्य से करता है तो निश्चय ही यह दलित बालक को न पढ़ने देने की साजिश ही कही जाएगी। बालपन में अपने साथ हुए ऐसे दुर्व्यवहार से लेखक के मन पर जो नफरत की लकीर बैठ गई थी उससे

---

1. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 21
2. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 14–15

शिक्षक की आदर्श छवि तो उसके लिये खण्डित हुई ही, क्रूर सामाजिक विषमता से मस्तिष्क में बचपन में ही अलगाव की भावना भी भर गई। बचपन में झेली गई अनावश्यक दुर्मम पिटाई का ऐसा ही उल्लेख आत्मकथाकार आगे भी करता है जो आज भी उसके मस्तिष्क के रेशे–रेशे पर अंकित है। जब शिक्षक द्रोणाचार्य की निर्धनता का वर्णन करते हुए रुआंसा होकर विद्यार्थियों को पढ़ा रहा होता कि घोर ग़रीबी के कारण द्रोणाचार्य ने अश्वत्थामा को दूध की जगह पानी में आटा घोलकर पिलाया था। "तब मैंने खड़ा होकर – मास्टर साहब से एक सवाल पूछ लेने की धृष्टता की थी, अश्वत्थामा को तो दूध की जगह आटे का घोल पिलाया गया था और हमें चावल का माण्ड ? फिर किसी भी महाकाव्य में हमारा ज़िक्र क्यों नहीं आया ? ... समूची कक्षा मेरा मुँह देखने लगी थी जैसे मैंने कोई निरर्थक प्रश्न उठा दिया हो। मास्टर साहब चीख उठे थे, घोर कलियुग आ गया है ... जो एक अछूत जबान जोरी कर रहा है। ... चूहड़े के, तू द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी करै है, ले मैं तेरे ऊपर महाकाव्य लिखूंगा ... उसने मेरी पीठ पर सटाक–सटाक छड़ी से महाकाव्य रच दिया था। वह महाकाव्य आज भी मेरी पीठ पर अंकित है। भूख और असहाय जीवन के घृणित क्षणों में सामंती सोच का यह महाकाव्य मेरी पीठ पर ही नहीं मेरे मस्तिष्क के रेशे–रेशे पर अंकित है।"[1] पत्रकार कंवल भारती कहते हैं कि "यह आत्मकथा वास्तव में पीठ पर अंकित महाकाव्य ही है जो मास्टर ने ही नहीं व्यवस्था ने अंकित किया है।"[2]

छड़ी से पीठ पर लिखा गया यह महाकाव्य आज भी किसी न किसी रूप में लिखा जाता है। 'पीठ' है दलित समाज, 'शिक्षक' है – सवर्ण समाज। 'छड़ी' है हमारी सामाजिक संरचना उसके नियम, कायदे–क़ानून जिन्हें किसी न्यायपालिका के आदेश नहीं बदल पा रहे हैं। इसी लिये लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "बदलाव पलायन से नहीं संघर्ष और संवाद से आएगा।"[3]

---

1. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 34–35
2. चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य – (सं. श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे) पृ. 162
3. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 152

"बहुत धीरे–धीरे ही सही बदलाव आ तो रहा ही है, लेकिन दलित समाज की आने वाली नस्लें इन आत्मकथाओं को पढ़कर ही जान पाएंगी कि इस स्थिति को पाने के लिये उनके पुरखों ने किस–किस प्रकार के कष्ट सहे थे। ... इस समाज के सम्मान को बनाए रखने के लिये हमें क्या करना चाहिये।"[1]

दलित–सवर्ण के मध्य जारी इस चिरंतन अंतर्विरोध के चित्रण के साथ ही लेखक दलित समाज के भीतरी अंतर्विरोध पर भी चिंता प्रकट करता है दलित समाज सवर्ण समाज के विरूद्ध एक है किंतु उनके संघर्ष में उनके भीतरी अलगाव उन्हें आगे नहीं बढ़ने देते हैं। महार स्वयं को मेहतरों से श्रेष्ठ समझते हैं" मेहतर बस्तियों में बाबा साहेब का संदेश पहुँचा ही नहीं था (जो पहुँचा था वह भी जाति के साथ। जब भी किसी मेहतर से बात होती तो वह चौंक कर मेरी ओर देखता। बाबा साहेब के लिये उनके मन में आदर था लेकिन आंदोलन के कार्यकर्ता और नेता उनके मन में विश्वास पैदा नहीं कर पाए थे। वे मेहतर थे समाज में सबसे नीचें यह भावना उन्हें समाज से जुड़ने से रोकती थी। वे दलित नेतृत्व को संदेह की दृष्टि से देखते थे। दलित आंदोलन के इस अंतर्विरोध ने उसे कमज़ोर किया है। जिसका प्रभाव राजनीतिक स्तर पर भी दिखाई पड़ता है।[2]

दलित समाज के ये पारस्परिक अंतर्विरोध अवश्य ही दलित आंदोलन को भीतर से कमज़ोर करते हैं। वाल्मीकि जी ने पहली बार इस मुद्दे को उठाया है। संवेदना के इस धरातल पर 'नीच जातियों में भी नीच जाति' की धारणा दिखाई देती है। यह अंतर्विरोध डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी की इस टिप्पणी की पुष्टि भी करते हैं कि – "हिन्दुस्तान में नीची से नीची समझे जाने वाली जाति भी अपने से नीची कोई अन्य जाति अवश्य ढूंढ लेती है।"[3]

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि चूंकि दलित आत्मकथा एक निश्चित उद्देश्य के तहत लिखी जाती है एवं दलित चेतना का विकास तथा परिवर्तनकामी समाज का निर्माण

---

1. डॉ. अम्बेडकर इन इण्डिया – एन. सिंह, जुलाई, 2002
2. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 132
3. हिन्दी साहित्य की भूमिका : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 122

किसी भी दलित आत्मकथा का अनिवार्य उद्देश्य रहता ही है, इसलिये दलित आत्मकथाकार से यह उम्मीद की जाती है कि वह अपनी आत्मकथा में अप्रासंगिक रोचक तथ्यों को भरने की बजाय उन जीवन प्रसंगों का ही आत्मकथा में वर्णन करे जो इन उद्देश्यों में सहायक हो। 'अपने–अपने पिंजरे' में कुछेक ऐसे भी प्रसंगों का वर्णन है जिनका दलित चेतना से कोई लेना देना नहीं है भले ही वे प्रमाणप्रभूत सत्य हों वहीं 'जूठन' में ऐसे अनावश्यक प्रसंग नहीं दिखाई देते हैं। यह इस आत्मकथा की एक विशेषता है। इस आत्मकथा में एक अन्य विशेषता जो लेखक के सहिष्णु चरित्र को भी उजागर करती हे वह यह कि लेखक सामाजिक छुआछूत के विष को पीकर आत्मकथा में विषवमन नहीं कर रहा, वह स्थिति के कारणों की पड़ताल कर उसे सुधारने की बात कर रहा है। वह संघर्ष और संवाद की बात कर रहा है। उसकी दृष्टि सकारात्मक है। वह अगर सवर्ण समाज से मिले निरादर का उल्लेख करता है तो प्यार व आदर का भी बिना भूले उल्लेख करता है उसकी सोच एकायामी एवं सतही नहीं है, संतुलित है। ये ही विशेषताएं 'जूठन' को एक विशिष्ट आत्मकथा बनाती है। दलित आंदोलन में इस आत्मकथा की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

दोहरा अभिशाप : 'औरत होने की सज़ा'
(कौशल्या बैसंत्री)

इस आत्मकथा का शीर्षक ही लेखिका की समस्त जीवन संवेदना को अभिव्यंजित कर सकने में समर्थ है। 'अभिशाप' वो भी 'दोहरा' यानी एक तो स्त्री और फिर दलित। या यों कह लीजिये एक तो दलित और ऊपर से स्त्री। कोई भी रूप पहले रख लें उससे कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। लेखिका ने पूरा जीवन इन्हीं दो रूपों में जिया, झेला है। घर में स्त्री होने का अभिशाप है तो घर की चहारदीवारी से बाहर क़दम रखते ही दलित्व का अभिशाप घेर लेता है।

यह आत्मकथा जीवन के लंबे संघर्षपूर्ण कड़वे–मीठे अनुभवों की दास्तान है। इसके आरम्भ में लेखिका के विवाहपूर्ण जीवन, पारिवारिक प्रेम विशेषतः बच्चों के लिये माँ का संघर्ष दिखाया गया है। लेखिका के पूरे जीवन में उसकी माँ एक दृढ़ संकल्प, आत्मविश्वासी महिला के रूप में सामने आती है एक सामान्य निम्नवर्गीय मजदूर होते हुए भी उसकी सोच, उसके सपने बहुत ऊँचे हैं। उसमें एक आंदोलनकारी महिला के पूरे गुण नज़र आते हैं। लेखिका ने अपनी आत्मकथा अपनी माँ एवं पिताजी को ही समर्पित की है।

लेखिका का विवाहपूर्व जीवन पारिवारिक स्तर पर बहुत सुखमय रहा लेकिन सामाजिक स्तर पर उन्हें क़दम–क़दम पर 'महार' होने का बोध हो ही जाता था, जिसकी वजह से बचपन में स्कूल के दिनों से ही उसके भीतर एक कुण्ठा बैठ गई थी तथा वह बहुत हीनता महसूस करती थी। अपने स्कूली दिनों का वर्णन करते हुए लेखिका बताती है कि "मैं अस्पृश्य हूँ, इसका मुझे बहुत दुख होता था मैं हीनता महसूस करती थी। कोई मुझसे मेरी जाति न पूछ बैठे, इसका मुझे सदैव डर रहता था इसलिये मैं अकेली चुपचाप खाने की छुट्टी में या स्कूल शुरू होने के पहले एक ओर बैठी रहती थी।"[1]

---

1. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 91

"मेरे पास अच्छा डिब्बा भी नहीं था मैं अल्युमिनियम के डिब्बे में रोटी लाती थी, मैं लड़कियों के सामने अपना डिब्बा नहीं खोलती थी। मुझे अपने घटिया डिब्बे और घटिया रोटी को उनके सामने खोलने में शर्म आती थी। मैं दीवार की ओर मुँह करके खाना खाती थी ताकि कोई देख न ले। उनके खाने की खुशबू और खाना देखकर मैं ललचा जाती थी। सोचती थी, ऐसा खाना मुझे कब नसीब होगा।"[1]

ऐसी बहुत सी घटनाएं इस आत्मकथा में दर्ज़ हैं जोकि लेखिका के दिलो–दिमाग़ पर भी दर्ज़ हैं। उन घटनाओं के लेखिका के संवेदनशील मस्तिष्क पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा था कि वे बार–बार अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोजती रही जो बाद में आत्मकथा की शक्ल में ढल कर सामने आए। लेखिका अपने दलित रूप या स्त्री रूप दोनों को समान मानती है एवं दोनों में से किसी भी रूप को प्राथमिकता दी जा सकती है।

लेखिका ने अपने दोनों अभिशप्त जीवनों को खोल कर सामने रखा है। कहीं महिला होने का अपमान तो कहीं अछूत होने का दंश।

इनके अनुभव एक संवेदनशील स्त्री के जीवन के सीधे–सादे बयान हैं। इस पुस्तक के फ्लैप ही समीक्षक मस्तराम कपूर की इस के सम्बन्ध में टिप्पणी है कि "यह एक सीधी सादी जीवन कथा है जो हर प्रकार के साहित्यिक छलों से मुक्त है।"

लेखिका अपने बारे में लिखती है कि "मैं लेखिका नहीं हूँ ना साहित्यिक लेकिन अस्पृश्य समाज में पैदा होने से जातीयता के नाम पर जो मानसिक यातनाएं सहन करनी पड़ीं इसका मेरे संवेदनशील मन पर असर हुआ। मैंने अपने अनुभव खुले मन से लिखे हैं। पुरुष प्रधान समाज औरतों का खुलापन बर्दाश्त नहीं कर पाता, पति तो इस ताक मे रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिये चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे।"[2]

---

1. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 41
2. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 8

लेखिका के विवाहोपरांत जीवन में जातिगत वेदना के साथ–साथ औरत होने की व्यथा के प्रसंग भी जगह–जगह पर उपस्थित हैं।

लेखिका का पति यद्यपि प्रथम श्रेणी का सरकारी अधिकारी था किंतु 'अपने मुँह से कहता था कि मैं बहुत शैतान आदमी हूँ।'[1]

लेखिका का वैवाहिक जीवन बहुत ही असंतुष्ट रहा क्योंकि लेखिका के भी पढ़े लिखे होने के बावजूद भी उसके पति ने उसे सदा स्वयं अधोवर्ती समझा। लेखिका उसका वर्णन करते हुए कहती है कि "उसने मेरी भावना इच्छा, खुशी की कभी कद्र नहीं की। बात–बात पर गाली वह भी गंदी–गंदी और हाथ उठाना। मारता भी था बहुत क्रूर तरीके से।"[2]

विडम्बना यह कि लेखिका का पति देवेन्द्र कुमार एक ज़िम्मेदार, वरिष्ठ सरकारी अधिकारी था उसे स्वतंत्रता सेनानी का ताम्रपत्र भी मिला किंतु "यही व्यक्ति अपने घर में लड़ाई करता था, अपनी पत्नी से। प्रशंसा तो दूर उसे पेंशन के जो पैसे मिलते उनमें से अपनी पत्नी को एक पैसा भी नहीं देता। ... पत्नी को स्वतंत्रता सेनानी भी दासी के रूप में ही देखना चाहता था।"[3]

... लेखिका के ये अनुभव सोचने पर विवश करते हैं कि क्या मनुष्य इतना असंवेदनशील हो सकता है ? स्त्री कहाँ–कहाँ संघर्ष जारी रखे ? क्या दुनिया का ऐसा कोई भी पक्ष है जहाँ वह सिर्फ मानव बन कर सम्मान से जी सके ? ऐसी आत्मकथाएं जीवन के कटु सत्य का परिचय कराती हैं। दलित रूप में लेखिका के अनुभव सार्वभौम हैं ही, स्त्री रूप में भी उसके अनुभव विशिष्ट नहीं कहे जाएंगे। ये प्रसंग एक ऐसी व्यवस्था की कलई खोलते हैं तो वर्ग और वर्ण में पुरुषों ने अपने लिये तैयार की है। वर्ण में जातिगत दंभ है जो वर्ग के स्तर पर पुरुषगत ! इस आत्मकथा को पढ़ कर भारतीय सवर्ण समाज एवं पुरुष समाज दोनों की वास्तविकता की कलई खुलती है।

---

1. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 104
2. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 104
3. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 105–106

दृष्टिकोण : –

दलित आत्मकथाओं (और आत्मकथाकारों की) के बारे में दलित ग़ैर–दलित लेखकों, विचारकों, आलोचकों के दृष्टिकोण पर चर्चा करना भी आवश्यक है।

अस्सी के दशक से हिन्दी में दलित साहित्य लेखन एवं उसकी आलोचना आनी शुरू हो गई थी पर नब्बे के दशक में दलित आत्मकथाएं प्रकाशित होने पर इन पर व्यापक बहस छिड़ गई। आलोचकों द्वारा इस विषय पर गहन शोध हुआ कि दलित साहित्य, मार्क्सवादी है, जनवादी है अथवा गांधीवादी, इसमें कौन सी विचारधारा अनुस्यूत है। यद्यपि दलित आत्मकथाएं अपने निहितार्थ में नितांत सामाजिक उद्देश्यों को लेकर चलती हैं एवं संघर्ष तथा संवाद की अपेक्षा रखती हैं फिर भी इनके साहित्यिक प्रभाव भी पड़ते ही हैं जिनसे साहित्यिक–राजनीतिक समीकरण हल किए जा सकते हैं, यही कारण है विभिन्न आलोचकों ने दलित आत्मकथाओं को विभिन्न दृष्टिकोण से देखा एवं उस पर विभिन्न टिप्पणियाँ कीं। उन टिप्पणियों की पड़ताल से वैयक्तिक, सामाजिक एवं साहित्यिक मानसिकता को जाना जा सकता है।

दलित आत्मकथाओं के सन्दर्भ में सबसे प्रमुख बात यह है कि यह सब ग़ैर दलितों को अविश्वसनीय लगता है। वे अनुभव काल्पनिक लगते हैं। विशेषकर 'अक्करमाशी' में वर्णित गोबर में से निकाले दानों की रोटी खाने जैसे अनुभव आलोचकों को काल्पनिक लगते हैं। जबकि लेखक कहता है कि – "मेरे शब्द मेरे अनुभव हैं। मेरे जीवन से मेरे अनुभवों को घटा दिया जाए तो क्या बचेगा ? केवल एक सजीव प्रेत ...।"[1]

चूंकि कमोबेश सभी दलित लेखकों को ये अनुभव झेलने पड़े ही हैं, इन्हीं के घात–प्रतिघातों, संघर्षों से उनका व्यक्तित्व विकसित हुआ है और उनकी आत्मकथा में वे बरबस ही आ गए हैं। जिसकी अभिव्यक्ति से कभी–कभी उन्हें ख़ौफ भी होता है। अनुभव इतने दर्दनाक होते हैं कि उन्हें सबसे छिपा कर रखने की इच्छा होती है। शरणकुमार लिम्बाले कहते हैं – "कोढ़ी जैसे अपने कोढ़ को छिपाकर रखता है, वैसे ही

---

1. अक्करमाशी – शरणकुमार लिम्बाले, पृ. 8

मैं भी अपने जीवन को छिपाकर रखूँ ऐसी इच्छा होती है।"[1] उनकी बहन कहती है कि – "अपने माता–पिता के जीवन का तमाशा दुनिया को क्यों बतलाया जाए ?"[2] बहन का पति भी उनसे कहता है कि – "इसमें हमारा कुछ न लिखो।"[3]

स्वयं लेखक की पत्नी यह नहीं चाहती कि उसका पति इन सब बातों को प्रकाशित करे। वह पूछती है कि – "यह सब क्यों लिखते हो इसका उपयोग क्या है ? इसे पढ़कर अपने बच्चों को कौन स्वीकारेगा ?"[4]

इसी तरह का भय 'दोहरा अभिशाप' की लेखिका कौशल्या बैसंत्री को भी है – "पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज़ हो सकते हैं परंतु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिये कि अपनी बात समाज के सामने रख सकूं।"[5]

'अक्करमाशी' के लेखक शरणकुमार लिम्बाले अपने एक अन्य आलेख 'अक्करमाशी की जन्मपत्री' में अपनी वेदना व्यक्त करते हुए कहते हैं कि – "मुझे लगता रहा कि मैंने बेकार में ही आत्मकथा लिख डाली। अपने किसी निकटस्थ मित्र को 'अक्करमाशी' पढ़ाने की ही मेरी इच्छा नहीं होती छटपटाहट होती है। मैं किसी रंडी का बेटा हूँ इसे वह जान गया तो ? भोगी हुई दरिद्रता, सुअर का मांस, यह सब अगर वह जान गया तो ? ऐसे प्रश्न मुझे सताने लगते हैं।"[6]

इसी प्रकार के ख़तरे की आशंका 'जूठन' के लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि को भी सताती है – "इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के ख़तरे थे, एक लम्बी जद्दोजहद के बाद, मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरू किया। तमाम कष्टों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना था। उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएं मैंने भोगी।

---

1. अक्करमाशी – शरणकुमार लिम्बाले, पृ. 7
2. अक्करमाशी – शरणकुमार लिम्बाले, पृ. 9
3. अक्करमाशी – शरणकुमार लिम्बाले, पृ. 9
4. अक्करमाशी – शरणकुमार लिम्बाले, पृ. 8
5. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 8
6. हंस, मार्च 1994, अक्करमाशी की जन्मपत्री – शरणकुमार लिम्बाले, पृ. 36

स्वयं को परत–दर–परत उधेड़ते हुए कई बार लगा कितना दुखदायी है यह सब। कुछ लोगों को यह सब अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है ... कई मित्र हैरान थे अभी से आत्मकथा लिख रहे हो ... एक मित्र की यह भी सलाह थी कि मैं अपनी आत्मकथा लिख कर अपने अनुभवों का मूलधन खा रहा हूं। कुछ का यह भी कहना था कि ख़ुद को नंगा करके आप अपने समाज की हीनता को ही बढ़ाएंगे। एक बेहद आत्मीय मित्र को भय सता रहा है – उन्होंने कहा आत्मकथा लिख कर आप अपनी प्रतिष्ठा ही न खो दें।"[1]

वहीं 'युद्धरत आम आदमी' की संपादिका रमणिका गुप्ता कहती हैं कि – "जब मैंने डॉ. शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी' पढ़ी तो लगा कि किसी ने बंद दरवाज़े का तहखाना खोल कर सदियों से दबे रहने को मजबूर यथार्थ के कंकाल निकाल कर बाहर रख दिये हों ... सत्य कहने का जोखिम बिरले ही उठा पाते हैं और अपना सत्य कहने का जोखिम तो बहुत ही दुष्कर कार्य है। पर डॉ. लिम्बाले ने यह किया इसलिये 'अक्करमाशी' अपने सत्य के साथ–साथ पूरे समाज के सत्य का दस्तावेज़ बन कर सामने आई और उन्हें ज़रूर शर्मिन्दा कर गई जो मनुष्य हैं।"[2]

दलित लेखक एन. सिंह दलित कथाओं को उत्पीड़न का दस्तावेज़ मानते हुए लिखते हैं कि "मेरी दृष्टि में ये आत्मकथाएं भावी दलित पीढ़ियों के लिये प्रेरणा का स्रोत प्रमाणित होंगी। ... दलित समाज में तीन सौ से अधिक दस्तावेज़ शामिल हैं। जब प्रत्येक दलित जाति से आने वाला लेखक अपनी आत्मकथा लिखेगा तब कहीं जाकर भारत में उत्पीड़न का सम्पूर्ण दस्तावेज़ तैयार होगा।"[3]

यद्यपि समय–समय पर दलित साहित्य पर विवाद उठते रहे हैं, दलित आत्मकथाओं की आवश्यकता पर भी सवाल खड़े होते रहे हैं, इस विवाद में ग़ैर दलित साहित्यकार ही नहीं कुछ दलित साहित्यकार भी शामिल हैं। डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर भी हिन्दी दलित आत्मकथाओं की मराठी दलित आत्मकथाओं से तुलना कर उन्हें कमज़ोर पाते हैं। राष्ट्रीय

---

1. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, भूमिका
2. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र – रमणिका गुप्ता, पृ. 9
3. अंबेडकर इन इण्डिया – जुलाई, 2002, एन. सिंह, पृ. 34

सहारा के 18 जनवरी, 1997 के हस्तक्षेप में वे लिखते हैं कि – "दया पंवार कृत बलूंत की तर्ज़ पर बहुत से लोग आत्मकथा लिखने की कोशिश कर रहे हैं, परंतु उनमें वह वास्तविकता कहाँ है ? ... हिन्दी में जिस तरह से दलित लेखक आत्मकथा लिखने की होड़ मचा रहे हैं वह नकल मात्र है, अपने आपको उपहास बनाने की बात है, क्यों लोग हिंदी में मराठी की नकल पर दलित साहित्य का विकास करना चाह रहे हैं।"[1]

इस सम्बन्ध में डॉ. नामवर सिंह की दलित साहित्य पर की गई विवादास्पद टिप्पणी का भी उल्लेख करना आवश्यक है जो उन्होंने परमानंद श्रीवास्तव से 'नयापथ' के लिये बातचीत के दौरान की थी। परमानंद श्रीवास्तव का प्रश्न था – "इधर मराठी के चलन पर हिंदी दलित लेखकों द्वारा कुछ आत्मकथाएं लिखी जा रही हैं। यहाँ भी विचार करना चाहिये कि क्या ये सचमुच आत्मकथाएं हैं या कि इनके भी कुछ 'टोटेम्स' बन गए हैं जैसे कि जानवर के गोबर को धो–छानकर मिला हुआ अन्न खाना, जैसे कि वर्ण संकरता, रखैलपन निजी परिस्थितियाँ कुछ नहीं हैं। लगता है एक ही तरह की घटनाएं सारे लेखकों के जीवन में घट रही हैं।"[2]

जवाब में नामवर जी कहते हैं – "जिस यथार्थ को पढ़ने पर रूढ़ि प्रतीत होने लगे उसकी साहित्यिकता, रचनात्मकता संदिग्ध हो जाती है और इस प्रकार संदिग्ध हो जाने के बाद रूढ़ियों के सहारे आप चाहे आत्मकथा लिखें या दलित साहित्य रचें कुछ नहीं होगा। सब लोग मल्लिका, दयाशंकर या लिम्बाले या नारायण सुर्वे नहीं हो सकते। जैसे 'नई कविता' के ज़माने में बहुत दर्द–दर्द चीखते थे। समझ में नहीं आता था कि कौन–सा दर्द आपको हो रहा है, काहे का दर्द है ? ये रूढ़ियाँ उसी तरह की हैं जैसे एक ज़माने में अंधायुग – अंधीगली, अंधा ये, अंधा वो पूरी की पूरी पीढ़ी ही अंधी ... ।[3]

सर्वप्रथम यहाँ पर यह स्पष्ट करना होगा कि प्रश्नकर्ता जिन उदाहरणों के 'टोटेम्स' की संज्ञा देकर अभी आत्मकथाओं का सामान्य तत्व मान रहा है वह सरासर

---

1. राष्ट्रीय सहारा हस्तक्षेप – सोहनपाल सुमनाक्षर, 18 जन. 1997
2. दलित चेतना और दलित साहित्य (परिसंवाद) 'नयापथ' जनवरी, 1998, पृ. 21
3. दलित चेतना और दलित साहित्य (परिसंवाद) 'नयापथ' जनवरी, 1998, पृ. 21

ग़लत है – गोबर से निकले अन्न को पानी से धोकर, सुखाकर खाने का जिक्र सिर्फ अक्करमाशी में है। वर्ण संकरता 'अक्करमाशी' और 'छोरा कोल्हाठी का' (बेबी काम्बले) में है तथा रखैलपन 'अछूत' में है। इनके अलावा ऐसा नहीं है कि हरेक दलित आत्मकथा में ये अनिवार्य तत्वों के रूप में रखे गए हों। इसलिये घटनाओं की पुनरावृत्ति का आरोप ग़लत है। किंतु जातिगत अपमान, शिक्षा हेतु संघर्ष, ग़रीबी इत्यादि ऐसे विषय हैं जो बार–बार हर आत्मकथा में आए हैं। लेकिन ये सब दलित समाज की कड़वी सच्चाई हैं 'टोटेम्स' नहीं। यह पीड़ा ही तो दलित आत्मकथाओं का मूल हेतु है। दलित चाहे महाराष्ट्र का हो अथवा मध्यप्रदेश का उसका जीवन बहुत कुछ समान है, इसलिये अपमान वंशानुगत होकर उनके जीवन में रूढ़ि बन गया हे जिसे 'साहित्यिक रूढ़ि' कह कर नामवर सिंह जी संदिग्ध बताते हैं।

इस तरह के नकार दलित साहित्य की धार को कुण्ठित नहीं करते बल्कि उसके संघर्ष को और भी तीव्रतर बनाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दलित आत्माभिव्यक्ति की परम्परा आज की नहीं है बल्कि सदियों पुरानी है, वस्तुतः उतनी ही पुरानी है जितनी कि उत्पीड़न की परम्परा। इसलिये दलित आत्माभिव्यक्ति की आवश्यकता को महसूस किया गया एवं नब्बे के दशक में यह एक विशिष्ट आंदोलन बनकर साहित्य के क्षेत्र में उभरा।

दलित आत्मकथाएं सिर्फ निजी जीवन की कथा नहीं कहती हैं, बल्कि ये अपने उदाहरण से व्यवस्था के प्रति विद्रोह व्यक्त करती हैं।

इन्हीं अर्थों में दलित आत्मकथाएं अन्य आत्मकथाओं से न सिर्फ 'कथ्य' के स्तर पर महत्वपूर्ण हैं बल्कि 'तथ्य' के स्तर पर भी ये आत्मकथाएं समाजशास्त्रीय अध्ययन में मददगार सिद्ध हो सकती हैं। आज दलित आत्मकथाएं संवेदना के विभिन्न धरातलों पर समीक्षकों को आकर्षित कर रही हैं एवं साहित्य में एक चुनौती के रूप में आई हैं। इन्हीं आत्मकथाओं के प्रकाशन के बाद साहित्य में दलित चेतना तथा दलित संस्कृति जैसे देश व्यापी विचार–विमर्श चल रहे हैं। इन आत्मकथाओं के जरिये दलित रचनाकार समाज को यह बताना चाहते हैं कि पक्षपातपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज का एक बड़ा

वर्ग शिक्षा, भूमि, उत्पादन के साधनों से वंचित है। ये आत्मकथाएं स्वांतः सुखाय नहीं लिखी गई हैं इनके द्वारा सामाजिक बदलाव की उम्मीद की गई है। इन आत्मकथाओं के गवाक्ष से पाठकों को दलित जीवन की नारकीय स्थिति, उनकी यातना–यंत्रणा का पता चलता है। साहित्य के जरिये व्यवस्था के प्रति विद्रोह का माध्यम बन कर इन आत्मकथाओं ने दलित आंदोलन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भिन्न–भिन्न कोणों से इनका विवेचन विश्लेषण करने पर यही तथ्य सामने आता है कि दलित साहित्य अब हाशिये से निकल कर जनमानस में अपनी पैठ बना रहा है। यही दलित आत्मकथाओं की सार्थकता भी है।

अध्याय — 5

महिला आत्मकथाकार : व्यक्ति और परिवेश का द्वन्द

क) महिला आत्माभिव्यक्ति के विभिन्न रूप और आत्मकथाएं

ख) अभिव्यक्ति के ख़तरे

ग) परिवार और साहित्य : प्राथमिकता का प्रश्न

घ) दृष्टिकोण

अध्याय – 5

महिला आत्मकथाकार : व्यक्ति और परिवेश का द्वन्द

नारी संवेदनाओं की मूर्ति होती है, इसीलिए वह जीवन की पारखी भी होती है। जीवन की सूक्ष्मतम् संवेदनाओं को भी वह तीव्रतम रूप में ग्रहण करती है और अपनी भावनाओं को अनेक सुन्दर रंगों में व्यक्त करती है। वह पुरुष से सर्वथा अलग एक संसार में जीती है, परिणामतः उसके बहिरंग व्यक्तित्व पर भी अतरंग हमेशा हावी रहता है और उसके व्यक्तित्व एवं परिवेश में एक समानान्तर दूरी हमेशा बनी रहती है। भारतीय समाज में नारी को पूज्य कहा गया है – 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रमन्ते तत्र देवताः।' यानी वह सामान्य जनसाधारण नहीं है। असाधारण देवत्व से विभूषित कर नारी का सामान्य रूप निरस्त कर दिया गया है।

तुलसी ने जहाँ एक ओर कहा है कि 'बड़े भाग मानुष तन पावा।' वहीं दूसरी ओर यह कहा है कि – कत विधि सृजि नारी जग माहि। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहिं। क्या नारी मानुष नहीं है ?

कबीर ने तो सीधे–सीधे चोट की है – 'नारी की झाँई परत अन्धा होत भुजंग।' ये सभी उक्तियाँ नारी के असाधारण, असहज रूप को दर्शाती है। या तो उसे दैवीय रूप प्रदान करती हैं अथवा एकदम ही त्याज्य नारकीय स्थिति प्रदान करती हैं। हमारा परिवेश भी उसकी इन स्थितियों की सहजता से स्वीकार कर लेता है, किन्तु वर्तमान युग में जबकि वह सामान्य मानवी रूप में समाज में उपस्थित है तो उसका परिवेश से द्वन्द दिखाई पड़ने लगा है। अस्मिता का द्वन्द !

स्त्री अगर अपने पारिवारिक रूप से हटकर अपना कोई अस्तित्व तलाशती है तो उसे अलग–अलग प्रकार की प्रतिक्रिया मिलती है। "भारतीय समाज, नारी के परिवर्तन के प्रयासों को, संस्कृति का अवमूल्यन मानकर बराबर ख़ारिज करता आया है और आज

भी कर रहा है।"[1] बिना पूर्वाग्रह के समीक्षा, मूल्यांकन नहीं होता। इस प्रकार परिवेशगत असामन्जस्य के कारण बहुत बार उसका व्यक्तित्व हाशिये पर चला जाता है, अपवाद स्वरूप इक्का–दुक्का उदाहरण ही ऐसे मिलते हैं जब स्त्री के कार्य की समीक्षा वर्ग–भेद के बिना की गई हो। 'नारी मुक्ति' जिसे कहते हैं वह वस्तुतः इसी वर्गभेद से मुक्ति की आकांक्षा है। एक पक्षपात रहित मूल्यांकन की आकांक्षा, किंतु जिस समाज में सभी संस्कार सामंती संस्कृति के अवशेषों के रूप में ही मिले हों वहाँ नारी मुक्ति की कल्पना दिवा–स्वप्न है। विशेषतः जब कि उसकी स्थिति को नैतिक मूल्यों से बांध दिया गया हो। हिन्दू लड़की का आज भी वस्तु के रूप में कन्यादान किया जाता है। महिला होते हुए भी सास पितृसत्ता की ही प्रतिनिधि है। पुनरुत्थानवादी कहते हैं कि महिलाऐं काम करने को सड़कों पर निकलेंगी तो परिवार बिखर जाएगा। जबकि महिलाऐं बाहर आकर उत्पादन में भागीदारी ही कर रही हैं। अतः महिला मुक्ति का सवाल कोई शेष समाज से कटा हुआ सवाल नहीं है बल्कि एक विशाल सामाजिक सवाल है, इससे सिर्फ़ महिलाओं की स्थिति में ही नहीं समूचे ढांचे में क्रांतिकारी परिवर्तन आएगा। पितृसत्तात्मक समाज चूंकि सामंती सोच का पोषक रहा है अतः वह ऐसी किसी भी क्रांतिपूर्ण स्थिति से घबराता है जिससे उसके अधिकारों का बल्कि एकाधिकार का हनन होता हो। इसलिये संस्कृति की रक्षा के नाम पर महिलाओं को आगे न बढ़ने देने का एक सांस्कृतिक फरेब वे फैला देते हैं जो भी स्त्री अपने 'स्त्रैण' रूप से अलग 'मानवी' रूप अपनाना चाहती है वहीं इन्हें संस्कृति का अतिक्रमण करती नज़र आती है तथा व्यक्ति और संस्कृति का द्वन्द शुरू हो जाता है। वैसे भी हमेशा उसका देवी रूप ही पूजा जाता है, मानवी रूप नहीं। स्त्री के प्रति यह रवैया पितृसत्तात्मक समाज की बुनावट में ही अंतर्निहित है। इस रवैये के कारण ही उसकी स्थिति दलितों से भी बदतर ही है। दलितों के मसीहा अम्बेडकर की मूर्तियाँ भले ही हर चौराहे पर स्थापित हो जाएं किंतु मध्ययुगीन विद्रोही स्त्री मीरा की नहीं। जबकि मीरा के पद गाए जाते हैं क्योंकि वे कृष्ण के प्रति भक्ति में हैं किंतु मीरा के मन्दिर नहीं मिलेंगे, जबकि मध्ययुगीन विद्रोही चेतना की वे प्रतिनिधि स्त्री हैं ! क्यों कि व्यवस्था के प्रति विद्रोह हमेशा असुविधा जनक ही होता है। व्यवस्था के विभिन्न तत्वों की संरचना

---

1. आजकल – जुलाई 2001, मृदुला गर्ग

को तोड़ना और उसके भीतर छिपी हुई उपसंरचनाओं को तथा उनके आपसी प्रभाव को विश्लेषित करना, कठिन कार्य है। विशेषतः उच्च वर्ग के लिये और हमारी सामाजिक संरचना में उच्च वर्गीय स्थिति पुरुष को प्राप्त है तब भला वह कैसे सही मूल्यांकन कर सकता है। क्या वह वर्गीय द्वेष भावना से ग्रस्त नहीं होगा। गुरू द्रोणाचार्य ने एकलव्य को अर्जुन के समकक्ष नहीं समझा क्योंकि वे अर्जुन के वर्ग के थे, एकलव्य के नहीं। इसी द्वेषपूर्ण मूल्यांकन से मुक्ति पाने के लिये महिलाओं ने अपने मूल्यांकन के मापदण्ड स्वयं गढ़ने चाहे हैं। वे तुलसी की सीता, सूर की राधा या प्रसाद की श्रद्धा से अलग भी कुछ है। उन्होंने अपने स्वयं के अस्तित्व को जगाने की कोशिश की है। तुलसी की परित्यक्त सीता ने राम को त्याग दिया है। राधा ने कृष्ण को विस्तृत कर दिया है एवं जीवन के 'सुन्दर समतल में पीयूष स्रोत' के समान बहने वाली श्रद्धा ने मनु से पूछना चाहा कि यदि जीवन सुन्दर समतल नहीं है तब भी क्या मैं पीयूष स्रोत सी बह पाऊंगी ? स्त्री का यह अपने ऊपर आरोपित स्थिति से इंकार करना ही व्यक्ति और परिवेश का द्वन्द शुरू कर देता है। महिलाओं ने इस आंतरिक द्वन्द की अनुभूति को बहुत बार फलक पर उतारा है। महिला आत्माभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों में यह अनुभूति दिखाई पड़ती है। ग्रामीण निरक्षर साधन विहीन स्त्री अपनी अनुभूति को लोकगीतों – लोककथाओं में या फिर घर–आंगन के कैनवस पर अभिव्यक्त करती है तो शिक्षित एवं लेखनी समर्थ कवियित्री या कथार अपनी रचनाओं में अपनी भावनाओं को विस्तार देती है। वर्तमान समय में यह जीवनानुभूति आत्मकथाओं के माध्यम से और सशक्त एवं प्रमाणिक रूप से उभर कर आई है। कमोबेश सभी महिला आत्मकथाकारों ने जीवन के 'दोहराव' का वर्णन किया है जिसमें उन्हें 'स्त्री' रूप और 'लेखिका रूप' दो अलग–अलग भूमिकाओं में अपना संतुलन बनाए रखने के लिये जद्दोज़हद करनी पड़ी है। चाहे वह दलित लेखिका कौशल्या बैसंत्री हों अथवा अतिसम्पन्न लेखिका कुसुम अंसल सभी की जीवन कहानी में व्यक्तित्व एवं परिवेश की टकराहट मिलती है।

महिला आत्माभिव्यक्ति के विभिन्न रूप और आत्मकथाएं

सृष्टि के आरम्भ से ही नारी अपनी मनोभावनाएं अनेक रूपों में अभिव्यक्त करती रही है। चाहे वह लोकगीतों के रूप में हों अथवा हस्तकलाओं, ललितकलाओं के रूप में । गायन–वादन–नृत्य–साहित्य– तूलिका–विभिन्न माध्यमों से नारी ने अपने आप को अभिव्यक्त किया है। भारतीय आर्ष मनीषा ने कलाओं की देवी सरस्वती की परिकल्पना इसीलिये नारी रूप में की है क्योंकि सृजन और स्त्री का अटूट संबंध रहा है। उसी ने मानव को जन्म दिया है और उसी ने जीवन। न केवल जन्मदात्री के रूप में नारी ने सृष्टि के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई बल्कि सृष्टि के प्रतिपल विकास की सहभागी होकर उसने अपने सृजनशील मन से बहुत सी कलाओं का भी पोषण किया। कभी वह घर–गृहस्थी–आंगन की चहारदीवारी में कर्मठता से कुछ निर्मित करती, कुछ उकेरती, जीवन को सहेजती नज़र आती हैं तो कभी मीरा की भाँति उन्मुक्त विद्रोहिणी बन कर भटकती अतृप्त रचनाकार के रूप में मिलती है।

विश्व की हर सभ्यता, हर संस्कृति नारी की सृजनकारी प्रवृत्ति से ही संचालित हुई है। भारतीय संस्कृति की हर रीति, हर मान्यता, लोकशिल्प, लोक साहित्य सभी पर भारतीय स्त्री के अस्तित्व की गहरी छाप लगी हुई है। कहीं भारतीय स्त्री लोक–चित्रों के रूप में घर आंगन में रंगोली डालती है, कभी दीवार पर मांडने उकेरती है, तो कभी लोकगीतों में वह विरह–प्रेम–वेदना अथवा धर्म–कर्म को वाणी देती है। धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से वह मंगल की कामना करती है।

"पुरुष प्रधान समाज में समय की कलात्मक अनुगूंजों को पहचानने वाली प्रथम स्त्रियाँ ही हैं।"[1]

---

1. मड़ई – नवं. 2001, संपा. कालीचरण, आलेख – 'समय, समाज और लोककलाएं' वसंत निरगुणे, पृ. 118

लोककला के माध्यम से

श्रम की संतुष्टि से उपजे आनंदोत्सव के क्षण में लोककला का उद्‌भव हुआ। समुदाय की उर्जा के स्रोत के रूप में कलाएं – लोककलाएं बनीं। लोककला श्रमशीला नारी की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है। "कितने ही पर्व–उत्सव दीवाली, होली, दशहरा, श्रावणी, नागपंचमी, शादी–ब्याह, पुत्र जन्म, उपनयन संस्कार, उपवासों पर किवंदन्तियों, आख्यानों, वार्ताओं, तिथि कथाओं से संबंधित नाटकीय दृश्यों को भावपूर्ण सार्थक चित्रों के रूप में दीवारों पर आंकने की प्रथा रही है।"[1]

ये भावपूर्ण सार्थक चित्र वस्तुतः नारी की सार्थक आत्माभिव्यक्ति है। लोककला त्यौहारों और संस्कारों आदि तक ही सीमित नहीं है। पराश्रित स्त्री प्रतिपल घर की सुख–समृद्धि एवं मंगल की कामना करती है, इससे उसका स्वयं का भविष्य जुड़ा रहता है। भविष्य के प्रति किसी भी आशंका को महसूस कर वह सुख–समृद्धि के निमित्त विभिन्न आकृति–आलेखन, अल्पना, मेंहदी, महावर, चौक एवं स्वास्तिक रचती रही हैं। उसकी रचनात्मकता विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति पाती है। "जैसे जैसे रीति–रिवाज हैं उन्हीं के अनुरूप लोक चित्र बनाए जाते हैं। सुख–दुःख की अगणित स्मृतियाँ, चिरंतन प्रेम की कथाएं, धार्मिक अनुष्ठान, जीवन के विविध स्रोतों से फूटते विश्वास और परम्पराएं इनसे जुड़े हैं। साड़ी, लंहगे, चुनरी, दुपट्टे, मेज़पोश, तकिये के गिलाफ़, क़शीदाकारी, छापे का काम, गोटे–ज़री, सलमा–सितारे, ऊनी और रेशमी वस्त्रों की सज्जा, बच्चों की गुड़ियाँ और मिट्‌टी के खिलौनें, डलिया, टोकरी, बेंत का काम, काष्ठ, धातु, प्रस्तर की मूर्तियों और रोजमर्रा की उपयोगी वस्तुओं में लोककला की उर्वरता के दर्शन किये जा सकते हैं।"[2]

लोककला नारी की तथ्यात्मक अनुभूतियों से उपजी है वह उसके हृदय का प्रसार है। घर–आंगन की चहारदीवारी में बंद स्त्री को लोककला में प्रतिभा, कला भावना,

---

1. मड़ई – नवं–2001, संपादक कालीचरण – आलेख लोककला की सामाजिक भूमिका, डॉ. मृदुला शुक्ल, पृ. 114
2. – वही – पृ. 114

कल्पना, सर्जक दृष्टि और रंगों को खुलकर आत्माभिव्यक्ति का मौका मिला। उसके सुख–दुःख, महत्त्वकांक्षा, सफलता–असफलता और प्रेम–विरह की असंख्य स्मृतियाँ लोककला के चित्रों, आकृतियों में उलझी हुई हैं। यह उसकी उर्जा का एक स्रोत है। श्रद्धा और धार्मिक आस्था से जुड़ी होने के कारण किसी ने इन्हें नष्ट भी नहीं किया और कलाऐं संरक्षित भी रहीं। स्त्री जीवन का यह रचनात्मक पक्ष है, नीरस जीवन में भी आत्मसुख ढूंढने का स्त्री का यह नायाब तरीक़ा है। इससे स्त्री की उपयोगिता, उसकी सार्थकता भी समाज में प्रमाणित हुई एवं धार्मिक अनुष्ठानों, यज्ञों, पर्वों इत्यादि में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता भी। देश के हर अंचल में स्त्रियाँ घरों में माण्डने माण्डती हैं। देवी देवताओं की तस्वीरें उकेरती हैं तथा इस रूप में अपनी आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा पूरी करती हैं। लोकतांत्रिक आधारों की महत्ता पर बल डालते हुए 'स्त्रीत्व का मानचित्र' में अनामिका यह सटीक टिप्पणी करती हैं कि – "स्त्री संबंधी विमर्श के शास्त्रीय आधार जितने सम्पुष्ट हैं उससे कम सम्पुष्ट उसके लोकतात्त्विक आधार नहीं।"[1]

वस्तुतः स्त्री मुक्ति संबंधी आंदोलनों ने स्त्री जागरण को भले ही एक बड़ा फलक प्रदान किया हो, किंतु लोक तत्व ही वह ऐसा तत्व है जिससे नारी का पारस्परिक संवाद एवं संबंध मज़बूत हुआ है। अतः लोक तात्त्विक आधार की स्त्री की आवाज़ को उठाने में सबसे अहम भूमिका रही है। भौतिक, आर्थिक रूप से भले ही स्त्री पिता–भाईयों या पति पर अवलम्बित रहती हो किंतु भावनात्मक अवलम्बन में सदा ही उसके साथ स्त्री तथा स्त्रियों की कलाऐं ही रही हैं। घर में बुनने उधेड़ने से लेकर भोजन, साज–सज्जा इत्यादि सभी में स्त्री अपनी मनोभावनाऐं बुनती–उधेड़ती रही हैं।इस संबंध में 'शृंखला की कड़ियाँ' में महादेवी वर्मा ने नारी मन का तत्व खोज निकाला है –

"पुरुष चाहे उसे युद्ध में जीतकर लाया, चाहे अपहरण करके, चाहे उसकी इच्छा से उसे प्राप्त कर सका, चाहे अनिच्छा से, परंतु प्रत्येक दशा में उसने नारी को अपनी भावुकता का अर्घ्य देकर ही पूजा। नारी भी नारियल के कड़े छिलके के भीतर छिपे जल

---

1. स्त्रीत्व का मानचित्र : अनामिका, पृ. 35

के समान पुरुष की बाह्य कठोरता के भीतर स्निग्ध प्रवृत्ति का पता पा गई थी। अतः उसने सारी शक्ति केवल उसकी कोमल भावना को जगाने में लगा दी।"[1]

लोक कलाओं के माध्यम से स्त्री अपने भीतर की कोमलतम भावना का प्रत्यक्षीकरण मूर्तकरण करती है तथा इस माध्यम से वह मनुष्यमात्र की जीवनानुभूति को उत्प्रेरित करती है।

लोक साहित्य

लोकसाहित्य किसी भी भाषा के विपुल साहित्य से होड़ लेने की क्षमता रखता है। "लोक साहित्य के मुख्यतः तीन प्रकार माने गए हैं कथा, गीत और वार्ताएं। लोक कथाओं के अन्तर्गत कल्पित कथाएँ, परियों की कथाऐं, दन्त कथा, पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथाऐं तथा धार्मिक कथाओं की गणना की जाती है। इसी प्रकार से लोकगीतों के भी अनेक भेद माने गए हैं। जिनमें संस्कार गीत, ऋतु गीत, त्यौहार व्रतगीत, रसगीत, श्रमगीत, जातियों के गीत तथा धार्मिक गीत प्रमुख है। लोक साहित्य में प्राप्त लघु वार्ताओं में लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ, मुहावरे ओर सूक्तियाँ आदि भेद माने गए हैं।"[2]

हमारे ग्राम्य प्रदेशों में बिखरी पड़ी इस अकूत वाचिक सम्पदा को यद्यपि कोई संकलन कर्ता नहीं मिला किंतु स्त्री समुदाय की धरोहर के रूप में यह परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त होती रही है। इस तथ्य से सभी परिचित हैं कि, लोक साहित्य स्त्री–साहित्य का एक बड़ा हिस्सा है। गाँवों–क़स्बों की स्त्रियों का आज भी यह एक बड़ा अस्त्र है। लोकगीतों को नारी ने अपने मनोरंजन के अतिरिक्त प्रतिशोध निकालने का भी एक माध्यम बनाया। पराश्रित स्त्री जो कि अपनी बात प्रत्यक्षतः कहने में स्वतंत्र नहीं थी उसने लोक साहित्य के अप्रत्यक्ष माध्यम से अपनी पीड़ा, अपना प्रतिकार व्यक्त किया। बेटी की विदाई के कितने ही गीत है जिनमें नारी, समाज की इस दुखद रीति पर क्रन्दन करती

---

1. शृंखला की कड़ियाँ – महादेवी वर्मा, पृ. 87
2. मड़ई – नवं–2001, संपादक कालीचरण – आलेख लोककला की सामाजिक भूमिका, डॉ. मृदुला शुक्ल, पृ. 114

है तथा अपना विरोध गीत में प्रकट करती है। लोकगीत स्त्री जीवन का संगीतमय इतिहास है। वह जीवन की स्वतः स्फूर्त व्यंजना है। लोककथाओं के माध्यम से दादी–नानी की कहानियाँ भी बच्चों में संस्कार भरती हैं।

लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ, मुहावरे मनुष्य को समाज के नियमों से जोड़ते हैं। एक मुहावरे से जो जीवन सत्य समझ में आता है, वह कभी–कभी एक पूरी पुस्तक से भी नहीं आ पाता। बच्चे को लोरी गाकर सुलाने की परम्परा सदियों पुरानी है।

आज से नहीं बल्कि सृष्टि के आरंभ से संगीत प्रकृति से और प्रकृति के माध्यम से मानव से जुड़ा रहा है। शास्त्रों से वंचित स्त्री मन ने शास्त्रीयता की परिपाटी से मुक्त लोक संगीत का निर्माण कर लिया। लोकसंगीत में स्त्री समुदाय की परम्पराएँ, भावनाएँ, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं। अपनी अभिव्यक्ति को आतुर स्त्री–अंतर ने शादी–ब्याह की सांगीतिक ध्वनियाँ शौर्यगाथाएँ, विरह गीत, देवी देवता की गुहार, मान–मनौतियाँ, कृषि गीतों को माध्यम बनाया। "लगभग भक्ति आंदोलन के काल में ही लौकिक संस्कृत में अनेक कवियित्रियों की स्फुट रचनाएं उपलब्ध होती हैं, जिनमें प्रमुख हैं विकट नितम्बा, शीलभद्रारिका सुभद्रा, प्रभुदेवी, बिज्जा, मरूला, पद्मावती, गौरी, अवंति सुन्दरी, फाल्गुहस्तिनी, मोरिका आदि ? बारहवीं शताब्दी से ही लोकजिव्हा पर चढ़ा यह गीत भी एक लोककवियित्री की ही रचना है, जिसमें बेटी अपने लखिया बाबुल से शिकायत करती है कि भाई को तो महले–दुमहले मिले और उसके हिस्से में परदेश आया –

'काहे को ब्याही विदेस रे लखिया बाबुल मोरे।'[1]

विवाह में कन्या का दान करके उसे दूसरे के हाथों सौंप देने पर स्त्रीमन की पीड़ा की अभिव्यक्ति इसी प्रकार गीतों में मिल जाती है। पश्चिम के मुक्ति आंदोलनों से जुड़ना जिनकी सामर्थ्य से बाहर है वे गली–मुहल्ले की स्त्रियाँ भी अपनी आत्माभिव्यक्ति पूरी सफलता से इस प्रकार कर पाती हैं।

---

1. स्त्रीत्व का मानचित्र : अनामिका, पृ. 39

सूरदास रचित 'उद्धव शतक' में स्त्री वाक्शक्ति का प्रदर्शन देखने योग्य है। परिहास के माध्यम से भी स्त्री अपनी मनोकामनाएँ व्यक्त कर देती है। उद्धव शतक लोकसाहित्य की परम्परा का ही साक्ष्य है –

आये जोग सिखावन पांडे
परमारथी पुराननि लादे ज्यो बनजारे टांडे[1]

मीरा की चर्चा किये वगैर महिला आत्माभिव्यक्ति की परम्परा का पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता। राजस्थान के राजघराने की कुलवधू मीरा ने न केवल अपने घराने की परम्परा को तोड़ा बल्कि तत्कालीन समाज की भी अवहेलना का स्वच्छंद जीवन अपनाया। उनके गीतों में आत्माभिव्यक्ति के विभिन्न रूप मिलते हैं। "पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे' कहकर एक ओर तो विवाहित स्त्री की मर्यादा खिजियाती, दूसरी ओर 'राणा रूसै राज लेसी' में राज्य सत्ता तक को ललकारती मीराँ ने धर्म की सत्ता में पुरुष की प्रधानता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाए थे। आत्मसंधान के पथ पर अनावश्यक लोकलाज भय–संकोच आदि के ख़िलाफ कॉस्मिक नाच मीरा 'पग घुंघरू बांध' (यानी डंके की चोट पर) सदियों पहले नाची थी।"[2]

इस प्रकार लोकगीतों में हासपरिहास, व्यंग्य, कटाक्ष, छटपटाहट भी प्रासंगिक रूप से अभिव्यक्ति पा जाते हैं। पुरुष सत्ता पर अपना क्षोभ व्यक्त करने का स्त्री का यह मध्यमार्ग साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है।

"यह नैसर्गिक प्रज्ञा भारत की ग्राम वधुओं में लोकगीतों/लोककथाओं के माध्यम से लगातार व्यक्त हुई है जहाँ कोमल हास–परिहास का भी वे एक रणनीति के तहत उपयोग करती रही हैं आज से नहीं बल्कि आदिकाल से।"[3]

लोक साहित्य न केवल स्त्रियों के मनोरंजन उनके पारस्परिक जीवन उसकी मार्मिक वेदना को जानने का माध्यम है बल्कि स्त्री मनोविज्ञान के अध्ययन में भी सहयोगी है।

---

1. भ्रमरगीत सार – संपादक रामचंद्र शुक्ल, पृ. 9
2. आलोचना – जन–मार्च, 2001, सं. नामवर सिंह, आलेख – पानी जो पत्थर के भीतर जाता है – अनामिका.
3. स्त्रीत्व का मानचित्र : अनामिका, पृ. 39

स्त्री कथाकारों की स्त्रियाँ

महिला आत्माभिव्यक्ति के माध्यमों में हम देखते हैं कि आत्मकथाओं के अतिरिक्त अन्य आत्माभिव्यक्तियाँ अप्रत्यक्ष हैं। आदिकाल से मध्यकाल तक स्त्री चूंकि सामाजिक रूप से इतनी सचेतनावस्था में नहीं थीं कि वह अपनी लड़ाई प्रत्यक्ष रूप से लड़ सकतीं, अतः उसने लोक कलाओं का आश्रय लेकर आत्मानुभूति व्यक्त की। किंतु आधुनिक काल में भी स्त्री लेखन में प्रत्यक्ष विरोध उभर कर सामने नहीं आया। आत्माभिव्यक्ति के लिये महिलाओं ने अपने साहित्य में स्त्री पात्रों की रचना की तथा अपना मत उनके माध्यम से ही अभिव्यक्त किया। स्त्री कथाकारों के स्त्री पात्र इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वस्तुतः उनमें कथाकार स्वयं बोल रही होती है। कला के प्रत्येक शाहकार पर कलाकार के व्यक्तित्व की छाप अवश्य होती है। जहाँ आत्मकथा व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व का आईना होती है वहीं साहित्य के अन्य माध्यमों में भी लेखक के व्यक्तित्व का प्रभाव रचना पर पड़ता है। महिला कथाकारों की स्त्री पात्रों का अवलोकन इस दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हो जाता है, यद्यपि आत्माभिव्यक्ति की परम्परा के विश्लेषण में साहित्य के आत्मेतर रूप उतने प्रमाणिक नहीं कहे जाते हैं जितनी आत्मकथा, किंतु जिस प्रकार लोकगीतों में स्त्री जाति का इतिहास निहित है, उसी प्रकार, स्त्री कथाकारों की स्त्री पात्रों का विश्लेषण भी आवश्यक है। महिला आत्माभिव्यक्ति की परम्परा के अध्ययन में।

पुरानी कथाओं की स्त्री पात्रों से आधुनिक युगीन लेखिकाओं की स्त्री पात्रों की तुलना करते हुए अनामिका लिखती हैं –

"हमारी सभी लेखिकाओं के सामने यह प्रशस्तमना दृष्टि है, जीवन के इस आधारभूत सत्य की अनुभूतिजन्य गहरी पहचान है कि जीवन वही नहीं है जो हमें दिया गया है; जीवन वह है जो हम अपने लिये गढ़ते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृणाल आंगन की नाली में शैवाल के बदलते हुए रंग से समझती है कि शायद बसंत आ गया, पर इधर की नायिकाएं खुले आकाश के नीचे खड़ी मौसम बदलने की आहट दे रही हैं तो इसमें बुरा क्या है ? ... मछलियाँ (उषा प्रियंवदा) की स्वतंत्र स्वशासित 'मुकी' एकनिष्ठ, हिस्टेरिक नायिका 'विज्जी' की तुलना में कहीं अधिक ईमानदार और साफ है। 'चकरघिन्नी'

(मृदुला गर्ग) की आज़ाद ख़्याल डॉक्टर माँ, अपनी परम्परानिष्ठ गुड़िया बेटी की तुलना में कहीं अधिक सफल और सुलझी हुई है। ... संगसार (नासिरा शर्मा) की आसिया नागर और ज़हीन है। अपने आजू–बाजू की दूसरी सिहरी–सिमटी औरतों की तुलना में कहीं जेनुइन और सच्ची।"[1]

कृष्णा सोबती की 'मित्रोमरजानी' की "मित्रो – एक 'सभ्य' परिवार की बहू है, पर बहू बने रहने के तौर–तरीक़े उसे सख़्त नापसंद हैं। उसका उन्मुक्त व्यक्तित्व उन दीवारों से कहीं अधिक ऊँचा और पारदर्शी है जिन्हें परम्परावादी मूल्यों के ईंट–गारे से खड़ा किया गया है। इसी से वह विवादास्पद है। वह न तो रवीन्द्र की अश्रुमयी है और न शरत् या जैनेन्द्र की विद्रोहिणी। ... वह नारी के सभी पुराने बिम्बों के खिलाफ एक नया आकर्षण है।"[2]

उसी प्रकार कृष्णा सोबती का ही एक अन्य उपन्यास, 'सूरजमुखी अंधेरे के' हिन्दी का ऐसा पहला उपन्यास है, जो बच्ची के साथ हुए बलात्कार पर आधारित है। ऐसी दुर्घटना घटने के बाद भारतीय समाज में बच्ची एक ऐसे अपराध की सजा सारी उम्र भुगतती है जो उसने किया ही नहीं। उपन्यास की नायिका 'रत्ती' एक लंबी लड़ाई लड़ती है, हारती है, पर हार मानती नहीं।

"ममता कालिया का उपन्यास 'बेघर' कौमार्य के मिथक की पुरुष समाज में व्याप्त रूढ़ धारणाओं पर चोट करता है। उपन्यास में नायिका 'संजीवनी' की अंतहीन व्यथा–कथा है जो मध्यवर्गीय समाज में शिक्षित पुरुषों की परम्परागत सोच की कलई खोलती है। पति–पत्नी के संबंधों को केन्द्र में रखकर लिखा गया यह उपन्यास आधुनिक समाज में पुरुष की संस्कारबद्ध जड़ता और संदेह वृत्ति को उघाड़ता है।"[3]

उषा प्रियंवदा का उपन्यास 'पचपन खंभे लाल दीवारें' इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसकी नायिका सुषमा बड़ी उम्र की अविवाहिता स्त्री है, जो

---

1. स्त्रीत्व का मानचित्र – अनामिका, पृ. 174
2. मित्रो मरजानी – कृष्णा सोबती, (पृष्ठ आवरण)
3. बेघर – ममता कालिया (पृष्ठ – आवरण)

पारिवारिक कारणों से विवाह नहीं कर पाती है। किंतु प्रेम करती है। सामाजिक परिवेश और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच बेहतर विकल्प को तलाशती स्त्री की यह संघर्ष गाथा है। यह उपन्यास सन् 1962 मे लिखा गया है, इससे बीस वर्ष पूर्व अर्थात् सन् 1942 में महादेवी वर्मा ने 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में 'हिन्दू स्त्री का पत्नीत्व' लेख में लिखा है – 'पत्नीत्व की अनिवार्यता से विद्रोह करके अनेक सुशिक्षित स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करना चाहतीं क्योंकि उन्हें भय रहता है, कि उनके पति उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को एक क्षण भी सहन न कर सकेंगे।"[1] इस उपन्यास में आधुनिक सुशिक्षित एवं आत्मनिर्भर किंतु संवेदनशील नारी का यही अंतर्द्वन्द दिखाया गया है।

प्रभाखेतान की रचना 'छिन्नमस्ता' उच्चवर्गीय संयुक्त परिवार की एक ऐसी लड़की की कहानी है जो पुरातनपंथी संयुक्त परिवार में अपने व्यक्तित्व के बौद्धिक विकास के लिये विद्रोह करती है। "यह उपन्यास प्रिया नामक एक ऐसी नारी का आख्यान है जो निरंतर शोषित है। समाज की जर्जर मान्यताओं से भी और पुरुष की आदिम भूख से भी लेकिन वह टूटती नहीं, बल्कि शोषक शक्तियों के लिये चुनौती बनकर एक नई राह पर चल पड़ती है।"[2]

मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'इदन्नमम्' (अर्थात् यह मेरा नहीं) में बुंदेलखण्ड के सामाजिक जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण है। इसमें सामंती समाज के दोहरे चरित्र की कथा है। सामंती समाज में स्त्री, परिवार के बाहर की हिंसा से बचने के लिये परिवार में माँ–बहन बेटी पत्नी या फिर रखैल के रूप में संरक्षण–सुरक्षा तलाशती है, किंतु घर में सुरक्षा न मिलने पर वह मानसिक रूप से असुरक्षित महसूस कर यही तलाश बाहर करती है। सुरक्षा की क़ीमत में उसका शरीर अथवा सम्पत्ति दाँव पर लगती है। उपन्यास में विधवा 'प्रेम' तथा पति से उपेक्षित 'कुसुमा' की कहानी है जो ऐसी ही सुरक्षा की तलाश में दूसरे पुरुषों का सहारा लेती है तथा ठगी जाती हैं।

---

1. श्रृंखला की कड़ियाँ – महादेवी वर्मा, पृ. 33
2. छिन्नमस्ता – प्रभा खेतान, फ्लैप नं.–2

विभिन्न महिला रचनाकारों द्वारा रचित स्त्री–पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करने पर सहज ही यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इनमें स्त्री के अनेक चेहरे हैं। किंतु विभिन्न भूमिकाओं में भी उसका अपना एक वैयक्तिक रूप है। उसमें आत्माविश्वास है, नैतिक साहस है वह एक जीवट वाली स्त्री है।

आत्माभिव्यक्ति के लिये विभिन्न माध्यमों को तलाशती स्त्री चेतना ने गीतों–कथाओं–कलाओं के द्वारा अपनी सृजनशीलता को मूर्त रूप दिया, आधुनिक युग में कहानी के दौर में उसने अपनी स्त्री पात्रों में उन गुणों की अभिव्यक्ति की जो रूप वह अपना देखना चाहती है।

संकोच का पर्दा धीरे–धीरे क्षीण होता रहा तथा अब वह आत्मकथाओं के रूप में प्रत्यक्षतः अपनी बात कहने में समर्थ है। सन् 1641 में बनारसीदास जैन के आत्मकथा लेखन के आरम्भ से आधुनिक काल तक महिला आत्मकथा लेखन में सामाजिक कारणों से एक शून्य दिखाई देता है। इसके बाद सन् 1956 में श्रीमती जानकी देवी बजाज की 'मेरी जीवन यात्रा' एक मात्र महिला आत्मकथा मिलती है जो कि लेखिका ने अपढ़ होने के कारण किसी से बोलकर लिखवाई थी। अतः यह आत्मकथा के बजाय संस्मरण के ज़्यादा नज़दीक है। उसके बाद सन् 1996 में कुसुम अंसल में 'जो कहा नहीं गया' लिखकर इस मौन को तोड़ा। सन् 1997 में कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' आई तथा सन् 1999 में पद्मा सचदेव की 'बूंद बावड़ी' एवं कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' प्रकाशित हुई।

पंजाबी की प्रसिद्ध लेखिका अमृता प्रीतम अपनी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' में लिखती हैं "जो कुछ घटा, मन की तहों में घटा और वह सब नज़्मों और नॉवलों के हवाले हो गया।"[1] फिर भी चूंकि नज़्म–नॉवल प्रमाणिक नहीं हैं इसलिये वे आत्मकथा लिखने को ज़रूरी समझती हैं – "ज़िंदगी के लेखे–जोखे के काग़ज़ों पर एक छोटा सा रसीदी टिकट लगा रही हूँ ... कच्ची रसीद को पक्की करने के लिये।"[2]

---

1. रसीदी टिकट – अमृता प्रीतम, भूमिका
2. रसीदी टिकट – अमृता प्रीतम, भूमिका

यद्यपि अन्य भाषाओं में साठ के दशक से ही महिलाओं की आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं। पर संख्या की दृष्टि से वहाँ भी स्थिति बहुत सुखद नहीं कही जा सकती। इनमें प्रमुख हैं सन् 1958 में नयनतारा सहगल की आत्मकथा 'प्रिज़न एण्ड चॉकलेट केक'[1] 1970 में मराठी में लक्ष्मी बाई तिलक की 'स्मृति चित्र'[2] 1972 मराठी में ही हंसा वाडेकर की 'सागत्ये एका'[3] 1977 में पंजाबी में अमृता प्रीतम की 'रसीदी टिकट'[4] 1980 में पंजाबी में दिलीप कौर टिवाणा की 'नंगे पैरों का सफर'[5] 1988 में उर्दू में इस्मत चुग़ताई की 'काग़जी है पैरहन'[6] 1999 में असमी में इन्दिरा गोस्वामी की आत्मकथा 'ज़िंदगी कोई सौदा नहीं'[7] प्रकाशित हुई।

उपरोक्त आत्मकथाओं के अतिरिक्त बंग्लादेश की लेखिका तस्लीमा नसरीन का नाम लेना भी आवश्यक है जिन्होंने दो आत्मकथात्मक पुस्तकें 'मेरे बचपन के दिन' तथा 'औरत के हक में' लिखकर पुरातनपंथी समाज में खलबली मचा दी तथा जिनके विरुद्ध इसी ऐवज़ में फतवा भी जारी किया गया। हिन्दी में इनकी दोनों पुस्तकों का अनुवाद मुनमुन सरकार ने किया तथा महिला आत्माभिव्यक्ति के क्षेत्र में हिन्दी में ये दोनों अनूदित पुस्तकें मील की पत्थर कही जा सकती हैं। हिन्दी में महिलाओं की चार मौलिक आत्मकथाएं प्रकाशित हो चुकी हैं।

विश्व प्रसिद्ध फ्रेंच लेखिका 'सीमोन द बोउवार' ने अपनी पुस्तक 'स्त्री उपेक्षिता' में लिखा है – "आधुनिक स्त्री के लिये अभिव्यक्ति का एक मात्र माध्यम केवल कला ही नहीं है। अब वह अन्य सर्जनात्मक क्रियाशीलताओं में भी अभिनियोजित है, किंतु यह भी सच है कि, आधुनिक स्त्री आज भी साहित्य और कला में ही मुक्ति खोजती है।"[8]

---

1. हिन्दी अनुवाद – मेरे बचपन की कहानी, मुकुंदीलाल श्रीवास्तव
2. हिन्दी अनुवाद – स्मृति चित्र, रामचंद्र रघुनाथ
3. हिन्दी अनुवाद – अभिनेत्री की आपबीती, विजय बापट
4. हिन्दी अनुवाद – रसीदी टिकट, बटुक शंकर नागर
5. हिन्दी अनुवाद – नंगे पैरों का सफर, सुदर्शन चोपड़ा
6. लिप्यांतरण – काग़जी है पैरहन, इफ़्तेख़र अंजुम
7. हिन्दी अनुवाद – ज़िंदगी कोई सौदा नहीं, नीता बनर्जी
8. स्त्री अपेक्षिता – सीमोन द बोउवार, पृ. 31

महिला आत्मकथाओं का अनुशीलन इन मायनों में और अधिक महत्त्व रखता कि इनके जरिये आज जारी साहित्य में छद्म मुक्ति ढूंढने की वंचना से बाहर निकली है। आत्मकथाओं में उसने अपने–आपको पूर्णतः अभिव्यक्त किया है। इन आत्मकथाओं को पढ़ कर जाना जा सकता है कि, क्यों वह साहित्य और कला में अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करती है। एक स्त्री का रचना संसार, उसके भय, उसके संस्कार, उसके विचार तथा उसकी संवेदना को आत्मकथा के माध्यम से बेहतर रूप में समझा जा सकता है। हम इस अध्याय में इस तथ्य पर भी विमर्श करेंगे कि 'अभिव्यक्ति के ख़तरे' कौन–कौन से हैं। किस आत्मकथाकार ने उन्हें किस रूप में महसूस किया है। एक स्त्री के मानसिक अंतर्जगत एवं बाहरी परिवेश के मध्य में द्वन्द को समझने की कोशिश भी 'परिवार और साहित्य : प्राथमिकता का प्रश्न' शीर्षक से इस अध्याय में की जाएगी तथा अंत में इसमें स्त्री लेखिकाओं एवं समीक्षकों–आलोचकों को स्त्री लेखन के प्रति क्या दृष्टिकोण है इस पर विमर्श होगा।

अभिव्यक्ति के ख़तरे

अब अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने ही होंगे, मठ और गढ़ सब ।[1]

महिला आत्मकथाकारों के लिये 'मुक्तिबोध' के ये शब्द प्रेरक सिद्ध हो सकते हैं –

उसकी तू खोज कर
उसका तू शोध कर
वह तेरी पूर्णतम परम् अभिव्यक्ति ![2]

हिन्दी महिला लेखन क्षेत्र में गीत–ग़ज़ल, कहानी, नॉवल की विपुल मात्रा तथा आत्मकथा लेखन में कृपणता देखकर इस अध्याय मे हमने अध्ययन के एक बिंदु का शीर्षक 'अभिव्यक्ति के खतरे' रखा है। 'हंस' के आत्मकथा अंक में जयशंकर प्रसाद

---

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है – मुक्तिबोध, पृ. 289
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है – मुक्तिबोध, पृ. 260

अपनी 'मौन' रहने की इच्छा अभिव्यक्त कर ही चुके हैं। क्या यह 'मौन' धारण करने की इच्छा 'अभिव्यक्ति के ख़तरे' के सनातन भय से आई है। बहुत सी लेखिकाओं के वक्तव्यों या आत्मकथन पढ़ने से यह आभास होता है कि अपने भीतर की अनुभूति को जस का तस अभिव्यक्त कर देना ख़तरे से ख़ाली नहीं होता। तस्लीमा नसरीन के लेखन के विरुद्ध फतवे जारी हो जाना इस बात के प्रमाण हैं। यह एक इकलौती घटना नहीं है, 'लिहाफ़' कहानी लिखने पर इस्मत चुग़ताई के लेखन पर मुक़दमा चल गया था। मुक़दमा 'मंटो और सलमान रश्दी' के ख़िलाफ़ भी चला। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से पुरुष लेखक भी वंचित है किंतु उन्हें परिवार के बाहर ही नाराज़गी झेलनी पड़ती है उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी धूमिल नहीं पड़ती जबकि महिला के साथ पहला विरोध परिवार से ही शुरू हो जाता है। इस्मत चुग़ताई की आत्मकथा में एक प्रसंग है – "आप एक शरीफ़ मुसलमान ख़ानदान की तालीमयाफ़्ता लड़की हैं।" ... और अगर आप पलट कर वही सवाल मर्दों से कर लें, कि आप भी तालीमयाफ़्ता हैं और शरीफ़ मुसलमान ख़ानदान से हैं, तो –

"मेरी और बात है मैं मर्द हूँ"[1]

कहानी लेखिका नासिरा शर्मा अपनी बात कहानी के माध्यम से कहती हुई डर और उलझन में फंस जाती हैं – "कहानी 'ख़ुदा की वापसी' लिखते हुए मुझे कई तरह के ख़ौफ़ ने घेर रखा था, जब हर तरफ धर्म का प्रचार किया जा रहा हो, उस समय मेरी यह कहानी कहीं उसी का गान न समझ ली जाए। ... दूसरा ख़तरा मुझे उन कठमुल्ला सियासतदानों से था जो, सच की पर्दाकुशाई से भड़ककर कोई फतवा न दे बैठें।"[2]

"ख़ौफ जो मेरे अंदर परत–दर–परत जमता जा रहा था।"[3]

प्रसिद्ध फ्रेंच लेखिका 'सीमोन द बोउवार' ने इस संबंध में काफी विस्तार से लिखा है साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि – "मैं एक बार फिर कहना चाहूंगी कि स्त्री

---

1. काग़ज़ी है पैरहन : इस्मत चुग़ताई, पृ. 27
2. ख़ुदा की वापसी : नासिरा शर्मा, पृ. 7
3. ख़ुदा की वापसी : नासिरा शर्मा, पृ. 7

की सीमा की अभिव्यक्ति के लिये हमें उसकी परिस्थिति का ही विवेचन करना चाहिये। किसी रहस्यमय सारतत्व की खोज सिर्फ़ स्त्री व्यक्तित्व में करना हमारा अन्याय होगा।"[1]

सीमोन का नाम विश्व अत्यंत 'बोल्ड' लेखिकाओं में आता है तथा उनकी पुस्तक प्रकाशित होते ही विश्व का पुरुष समाज हतप्रभ रह गया थां बिना किसी भय के लिखी गई इस पुस्तक पर 'सण्डे मेल' की टिप्पणी दृष्टव्य है – "सीमोन की पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' जब प्रकाशित हुई तो जैसे पुरुष समाज में खलबली मच गई और सभी को अहसास हुआ – 'क्या हमारी यही नियति है ? ...'"[2]

निडर एवं बेबाक लेखिका सीमोन समाज के भय की धज्जियाँ उड़ाते हुए लिखती हैं – "आधुनिक स्त्री के लिये अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम केवल कला ही नहीं है। अब वह अन्य सर्जनात्मक क्रियाशीलताओं में भी अभिनियोजित है। किंतु, यह भी सच है कि आधुनिक स्त्री आज भी साहित्य ओर कला में ही मुक्ति खोजती है। एक साहित्यकार स्त्री पुरुष की दुनिया की परिसीमा पर अवस्थित जगत् को एक वैश्विक सन्दर्भ में नहीं देखती बल्कि जगत् के प्रति अपना एक विशेष दृष्टिकोण रखती है। ... वह यथार्थ को आत्मसात् नहीं करती बल्कि अपने शब्दों से वास्तव का विरोध करती है। ... अपने आप को वह आपसी बातचीत पत्रों या अंतरंग डायरी में ही खोजती है। थोड़ी महत्त्वकांक्षा के साथ वह अपनी स्मृतियाँ लिखती है ओर अपनी आत्मकथा को उपन्यास का रूप दे देती है।"[3]

आत्मकथा को उपन्यास का रूप दे देने से सीमोन का तात्पर्य अपने द्वारा रचित पात्रों में लेखिकाओं की आत्माभिव्यक्ति से है किंतु हम देखते हैं कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' को वह स्वयं अक्षरशः घटित हुआ बताते हुए भी उसे 'आत्मकथात्मक उपन्यास नाम दे देती हैं। यह सावधानी अवश्य ही अभिव्यक्ति के संभावी खतरे भांप कर ही बरती गई होगी।

---

1. स्त्री उपेक्षिता – सीमोन द बोउवार (अनु. प्रभा खेतान), पृ. 336
2. स्त्री उपेक्षिता : सीमोन (अनु. प्रभा खेतान) पृ. आवरण से
3. स्त्री उपेक्षिता : सीमोन (अनु. प्रभा खेतान) पृ. 331

पुस्तक की भूमिका में बैसंत्री लिखती है – "मैंने अपने अनुभव खुले मन से लिखे हैं, पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज़ हो सकते हैं, परंतु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिये कि मैं अपनी बातें समाज के सामने रख सकूं। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को आए होंगे परंतु समाज और परिवार के भय से वे अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती हैं और जीवन भर घुटन में जीती हैं।"[1]

जीवन भर घुटन में न जी कर अपने अनुभव आत्मकथा में व्यक्त कर अपने भीतर के द्वन्द से निजात पा लेने की छोटी सी ईमानदार कोशिश के परिणाम महिलाओं को घातक सिद्ध हो सकते हैं।

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' ऐसे अनुभवों से भरी हुई पुस्तक है, जिसमें नितांत वैयक्तिक प्रसंगों को लेखिका ने निर्भीकता से व्यक्त किया है। वे सदा सामंतवादी दृष्टिकोण की शिकार रहीं समाज में भी और साहित्यिक समाज में भी। अपनी आत्मकथा में उन्होंने अपने अनुभव खुल कर व्यक्त किये हैं किंतु पुस्तक की भूमिका में ही उन्होंने इस अंदेशे को भांप लिया है – "प्रगति के नगाड़े बजाकर इक्कीसवीं सदी तक पहुँच आने वाला पुरुष समाज अब भी बुद्धिजीवी कलाकार प्रतिभाशील महिला और साहित्यकार को वास्तविक सम्माननीय दृष्टि से नहीं देखता ... समाज की दृष्टि में हमें चरित्रहीन करार करने का हर अंदेशा छिपा रहता है।"[2]

लेखिका के गृह नगर इन्दौर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'मनस्वी' (मार्च 2002) में छपी इस आत्मकथा की समीक्षा में यह बात स्पष्ट रूप से दर्शाई गई है कि – "कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा एक ऐसा दस्तावेज़ है जिसे अधिक से अधिक लोग पढ़ना चाह रहे हैं। ... इस उत्सुकता का एक कारण यह है कि यह एक चर्चित लेखिका की आत्मकथा है जिसकी भूमिका में ही साफ तौर पर लिखा है – "सिर्फ सच और सच के सिवा झूठ या बनावट यहाँ नहीं है।"[3]

---

1. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, भूमिका
2. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री।
3. मनस्वी – मार्च 2002, नारी उत्पीड़न की दारुण गाथा : डॉ. पार्वती राव, पृ. 37

पुस्तक के चर्चित होने का कारण समीक्षक के अनुसार 'आत्मकथा में अनेक साहित्यकारों को बेनकाब किया गया है और वे तलाश में हैं कि उनके पक्ष या विपक्ष में क्या लिखा गया है।"[1]

लेखिका ने निर्भीकता से अपने समकालीनों पर जो टिप्पणियाँ लिखी हैं उस पर समीक्षक की राय है – "जो भी हो, आत्मकथाकार के साहस की दाद देनी होगी कि उसने अपनी ज़िंदगी के स्याह उजले पन्नों को उलटने की हिम्मत जुटाई। यह कोई मामूली बात नहीं है। इसमें अनेक ख़तरे निहित हैं। लेकिन कृष्णा जी ने ये ख़तरे उठाए शायद एक सच्चा व्यक्ति ही ऐसा जोखिम उठा सकता है।"[2]

भूमिका में लेखिका लिखती है – "मैंने सच्चाई को स्पष्ट करने के लिये बड़ा साहस जुटाया है।"[3] इसी साहस का प्रतिफल था कि लेखिका अपने लक्ष्य में सफल हो सकी। जीवन में मिलने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों ने उनमें और शक्ति का प्रसार किया।

'मेरे जीवन में जितनी अधिक भाग–दौड़, हार–शिक़स्त थी उतना ही मेरा साहित्यिक लेखन सशक्त बुलंद हो आगे बढ़ रहा था। मेरे पांच कहानी संग्रह और चार उपन्यास पूरे हो गए थे और मैं हर पत्रिका में छप रही थी।'[4]

कुसुम अंसल अपनी आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' के समर्पण में स्वयं को अंसल परिवार की आंशिक अभिव्यक्ति बताती हैं। एक आंशिक अभिव्यक्ति द्वारा अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की चाह में यह आत्मकथा लिखी गई है। तथा वे यह भी लिखती है कि – "मेरी यह जीवनी हमारे परिवार का कोई ऐतिहासिक दस्तावेज़ नहीं हैं"[5]

लेखिका 'अपने को परिचित कराने का संकोच' भी महसूस करती है साथ ही उन्हें यह भी मलाल है कि साहित्य की दुनिया उन्हें लेखिका से ज़्यादा 'सेठानी' ही मानती रहीं।

---

1. मनस्वी – मार्च 2002, नारी उत्पीड़न की दारुण गाथा : डॉ. पार्वती राव, पृ. 37
2. मनस्वी – मार्च 2002, नारी उत्पीड़न की दारुण गाथा : डॉ. पार्वती राव, पृ. 37
3. लगता नहीं है दिल मेरा : कृष्णा अग्निहोत्री, भूमिका
4. – वही – पृ. 255
5. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, भूमिका

लेखिका की सम्पन्नता के कारण ही हुई उनके लेखन पर विपरीत प्रतिक्रियाएँ भी अगर धनी लेखिका ने धनी पात्रों की रचना कर दी तो उसकी समीक्षा ऐसे की जाती थी – "कुसुम जी की नायिका या अन्य पात्र एयरकण्डीशण्ड कमरों में रहते हैं हवाई जहाज़ों की यात्राएँ करते हैं, उन्होंने पॉवर्टी को देखा ही नहीं, उन्हें दुख दर्द से क्या लेना–देना ... उन्हें दुख के बारे में भला क्या ज्ञान होगा ?"[1]

किंतु लेखिका इन प्रतिक्रियाओं से हताश नहीं है।

"मेरे लेखन पर अनेक प्रतिक्रियाएं होती थीं ... उन जाने कैसी–कैसी टिप्पणियाँ छपती, इल्ज़ाम थोपे जाते, परंतु मैं हतोत्साहित नहीं हुई थी, अपने बढ़ते क़दमों को मैंने दुर्बल नहीं होने दिया।"[2]

वे लेखन क्षेत्र को कबड्डी का मैदान मानती हैं – "लेखन का क्षेत्र अगर ध्यान से देखें तो कबड्डी के मैदान जैसा हो गया है जहाँ एक लेखक दूसरे लेखक की लेखकीय मौत के लिये भागता है, दबोचता है, झपट्टे मारता है, प्रतीक्षा करता है उसकी सांसे कमज़ोर पड़ जाएं और वह मर जाए।"[3]

'हिन्दुस्तान टाइम्स' के एक संपादक महोदय के बारे में कुसुम अंसल लिखती हैं कि 'अंसल भवन' पर दृष्टिपात करके उसने कहा – "इस सेठानी को भला क्या आवश्यकता पड़ी थी लेखिका बनने की। इन्हें शायद पता नहीं ये शौक़ की चीज़ नहीं जोखिम का काम है ...।"[4]

जोखिम की तरफ संपादक महोदय का क्या इशारा था ये तो उन्होंने व्यक्त नहीं किया किंतु इस प्रसंग से इतना अवश्य व्यक्त होता है कि उच्च वर्ग से सम्बन्धित होकर मध्य वर्गीय साहित्य संसार से जुड़ना वस्तुतः वर्गोपसरण है, अतः वर्गभेद की वजह से

---

1. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 84
2. – वही – पृ. 86
3. – वही – पृ. 212
4. – वही – पृ. 84

कुसुम अंसल को अभिव्यक्ति के भिन्न–भिन्न प्रकार के ख़तरों से रू–ब–रू होना पड़ा। पर साहस के कारण इन खतरों को वे लांघने में सक्षम हैं और निरन्तर लिख रही हैं।

'बूंद बावड़ी' में यद्यपि लेखिका बहुत मुखर है तथा आवरण या संकेतों का सहारा नहीं लेती हैं किंतु अभिव्यक्ति के ख़तरों से वह अनजान नहीं है। बचपन में जब वह स्कूल में पढ़ रही थी तभी उसकी एक कविता उर्दू के अख़बार में छपी, प्रथम कविता प्रकाशित होने पर लेखिका को घर में पिटाई का भय था। इसका वर्णन वे अपने मज़ाहिया अंदाज़ में इस प्रकार करती हैं – "घर में मेरे भाई आशुतोष की बगल में तीन–चार वही अख़बारें थी, वो स्कूल में उर्दू भी पढ़ता था उसने कहा इसमें तुम्हारा नाम आया है, अठन्नी दो नहीं तो माँ को दिखा दूंगा। उन दिनों घूस का बयार इतना ही था। मैंने एक अठन्नी देकर सब अख़बारें चूल्हे में झोंक दी, माँ को पता चलता तो कपड़ा धोने वाले डण्डे से मुझे भी धो डालती।"[1]

आज यह वर्णन लिखते हुए लेखिका के, एवं पढ़ते हुए पाठक के चेहरे पर भले ही मुस्कान आ जाए किंतु एक गाँव की नवोदित कवियित्री ही इस दुविधा को समझ सकती है। इसी प्रकार 'राजा के महल' कविता जो कि लेखिका की प्रसिद्ध कविताओं में से एक है उसकी रचना प्रक्रिया के वर्णन में भी लेखिका ने ऐसे ही संकोच का ज़िक्र किया है – "कविता पूरी करके मैं उठी तो पसीने से पूरी भीग चुकी थी, मुझे डर था कविता लिखते–लिखते कोई आ न जाए, क्योकि किसी और को देखकर मैं कविता नहीं लिख पाती।"[2]

कविता लिखने पर अपराध–बोध क्यों होता है इसका कारण मनोवैज्ञानिक नहीं नितांत सामाजिक है। मैं लिखती हूँ ऐसा जान कर लोग क्या सोचेंगे, वो हंसेंगे, उपहास करेंगे, मेरी खिल्ली उड़ायेंगे, यह भय और संकोच स्त्री में समाज की व्यवस्था से आया है जो स्त्री को सिर्फ़ चौके–चूल्हे तक ही देख पाता है उसके बाहर के क्षेत्रों में नहीं। ऐसे कई प्रसंग इनकी आत्मकथा में मिल जाते हैं जब उनका कवियित्री होना मुश्किल का

---

1. हंस – जनवरी, 1998, बेखुदी में हमने ..., संस्मरण, पद्मा सचदेव, पृ. 37
2. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 108

कारण बन गया – जैसे गाँव के एक कवि सम्मेलन के प्रसंग में वे लिखती हैं कि – "मुझे ये बताने में संकोच हुआ कि मैं कवियित्री हूँ।"[1]

शादी से पंद्रह दिन पहले कवि सम्मेलन मे कविता पढ़ने पर, जिसमें उसके भावी पति ने भी कविता पढ़ी थी लेखिका को घर में ऐसी प्रतिक्रिया मिलती है – "जब रेडियो पर मैंने कविता पढ़ी तो गुस्से के बुलबुले फटने लगे। माँ के मामाजी घर आ गए उन्होंने गुस्से में कांपते हुए मुझे एक थप्पड़ मारा और कहा – तुम अपने स्वर्गीय बाप का नाम इस तरह से उछाल रही हो, दफ़ा हो जाओ मेरी नज़रों के सामने से।"[2]

वे लिखती हैं कि – "कविता थी या विस्फोट था, घर में रहना अज़ाब हो गया।"[3]

इन छोटे–छोटे प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि छोटे शहर में या मध्यवर्ग परिवार में कविता लिखने का काम कोई बहुत शोभनीय नहीं माना जाता विशेषतः जब ये काम कोई स्त्री करती हो तो। लेखिका ने इन ख़तरों की परवाह न की, उन्हें महसूस किया और झेला भी किंतु उनसे डरी नहीं। अभिव्यक्ति पर समाज की पैनी निगाहों का उसने अनदेखा कर दिया और बेफ़िक्री से कविता की। आज पद्मा सचदेव 'पद्मश्री' हैं, वे साहित्य अकादमी पुरस्कार, सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार, हिन्दी अकादमी पुरस्कार, राजा राममोहन राय पुरस्कार इत्यादि से सम्मानित हो चुकी हैं तथा अपनी लेखनी से हिन्दी तथा डोगरी साहित्य को समृद्ध कर रही हैं।

---

1. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 121
2. – वही – पृ. 124
3. – वही – पृ. 125

परिवार और साहित्य : प्राथमिकता का प्रश्न

पुरुष लेखन और स्त्री लेखन में प्रायः तत्वों की भिन्नता को लेकर प्रश्न उठते रहे हैं जैसे कथ्य के चुनाव, कुछ वस्तुओं–विषयों के प्रति भिन्न प्रकार की एकाग्रता या उदासीनता, कतिपय पूर्वाग्रह, भिन्न चिंताएं या पारिवारिक उत्तरदायित्व। इसका कारण भिन्न–भिन्न अनुभव संसारों का होना है। चूंकि स्त्री का परिवेश, अधिकार, कर्तव्य, उसके संस्कार अलग होते हैं। इसलिये स्त्री का संघर्ष भी जुदा है और प्राथमिकताएं भी।

भारतीय परिवेश में स्त्री परिवार की धुरी है, वह बहुत से ऐसे चाहे–अनचाहे उत्तरदायित्वों से लदी हुई है जो उसके व्यक्तित्व का अंग बन गए हैं। यह उसके अस्तित्व की सामाजिक सांस्कृतिक सच्चाई है, किंतु यह भी सच्चाई है कि वह अब सीमित चारदीवारियों में ही बंद नहीं है, वह अब निषिद्ध समझे जाने वाले क्षेत्रों में भी प्रवेश पा चुकी है। उसकी संवेदना का संसार तो पहले ही पुरुष से कई गुना विस्तृत था, अब अनुभव का फलक भी विराट हो चुका है।

फिर भी स्त्री लेखन पर यह आपत्ति उठाई जाती है कि वह समाजोन्मुखी नहीं है घर–द्वार में क़ैद है ! "पिछले बीस–पच्चीस वर्षों में इस स्थिति में कुछ अंतर अवश्य आया है फिर भी अभी एक स्वतन्त्र, जिज्ञासु आत्मविश्वास से भरी पूर्ण स्त्री की तस्वीर न उभरकी ऐसी संघर्षशील नारी की तस्वीर ही उभरती है जिसके घरेलू दायित्व वहीं के वहीं हैं (उसकी शक्ति का अधिकतम उपयोग करने वाले) और स्वतंत्रता चाहने के लिए जिसने एक 'बड़ा बाहर' अपने सर पर ओढ़ लिया है। इस दोहरे श्रम की थकान और टूटन को साथ लिए वह अपने इतिहास और अपने भविष्य के बीच एक आशातीत वर्तमान रचने के लिए उत्सुक सतत् जूझ रही है। यह सच है कि उसका मुँह प्रकाश आने वाली खिड़की की तरफ है, परन्तु उसके पैर अभी भी दलदल से लड़ रहे हैं।"[1]

यहाँ 'प्रकाश' से तात्पर्य शिक्षा, जागरूकता, अस्तित्वबोध से है एवं 'दलदल' का अर्थ है वे उत्तरदायित्व जो उसे ऊपर उठने से रोकते हैं। वे उत्तरदायित्व जो मात्र उसके

---

1. हंस – अंक – मार्च, 2000, आलेख स्त्री : सृजन और अस्मिताबोध – राजी सेठ, पृ. 31

ही नहीं हैं पर मात्र उसे ही निभाने होते हैं और उसके अस्तित्व के सामने बार–बार चुनौती बन कर खड़े हो जाते हैं। उसका अस्तित्व उससे एक बड़े दायरे की मांग करता है जैसे – राजनैतिक चेतना, आर्थिक मुद्दे, नैतिक–अनैतिक की नवीन व्याख्याएं और बहुत से क्रांतिधर्मी स्वप्न किंतु उसकी सामाजिक–पारिवारिक वे प्राथमिकताएं जो कुछ तो उसके अवचेतन में समाई हैं और कुछ उस पर आरोपित की गई हैं उसे दोराहे पर खड़ा कर देती हैं। इसलिये – "लेखन में सक्रिय स्त्री चाहे सामाजिक स्तर पर पूरे स्त्रीत्व का प्रतिनिधित्व करती है परंतु उपलब्धि के स्तर पर वह सामान्य नारी की अपेक्षा अपनी अस्मिता के अहसास के ज़्यादा निकट है। इस अहसास का समर्थन पाने की भूमिका तैयार करना उसके जीवन–संघर्ष का ही भाग नहीं उसके लेखन संघर्ष का भी भाग है।"[1] द्वन्द यह है कि लेखिकाओं के लिये न तो परिवार उपेक्षणीय है, न ही अपना अस्तित्व। अतः बार–बार दोनों भूमिकाओ में टकराव की स्थिति बनती है, आत्मकथाओं में उनके जीवन का यह सत्य भलीभांति प्रकट होता है।

पद्मा सचदेव की आत्मकथा 'बूंद बावड़ी' का शीर्षक ही 'बावड़ी' रूपी समष्टि में 'बूंद' रूपी व्यष्टि की इयत्ता की ओर इंगित करता है। बावड़ी में बूंद का अस्तित्व क्या है ? नगण्य ! उसी प्रकार समाज में एक सूक्ष्मतम इकाई 'मनुष्य' की स्थिति है। किंतु जैसे बूंदों से ही बावड़ी बनती है उसी प्रकार क्या व्यक्ति विहीन समाज का कुछ रूप हो सकता है ? यह अस्मिताबोध इस आत्मकथा की विशेषता है। लेखिका दुस्साहसी है वह अपने काम पर जाने के लिये कोयले के ट्रक में भी 'लिफ्ट' मांग कर आराम से चली जाती है। किंतु हर क्षण सर पर पल्लू ढांक कर अखण्ड सुहाग की निशानी बड़ी सी बिंदी माथे पर लगा कर बाहर निकलती है। आत्मकथा में उपलब्ध चित्रों में इस बात का साक्ष्य देख सकते हैं। राष्ट्रपति के हाथों पुरस्कार ग्रहण करते हुए सर पर ढंका आंचल एवं झुकी हुई आँखें इस बात की साक्षी हैं कि परिवार और साहित्य दोनों साथ–साथ जुड़े चलते हैं।

---

1. हंस – अंक–मार्च, 2000, आलेख – स्त्री सृजन और अस्मिता बोध (राजी सेठ) पृ. 31

बचपन में जब प्रथम प्रकाशित कविता उर्दू भाषा की अनभिज्ञता के कारण उसने किसी दुकानदार से पढ़वाई थी तब 'उसने ऐसे अख़बार को ऐसे पढ़ा था जैसे आटे–दाल का कोई बिल पढ़ रहा हो।'[1] लेखिका के लिये कविता, आटे दाल से अधिक महत्त्वपूर्ण है किंतु दुकानदार जो कि सामाजिक प्रतिनिधि के रूप में हमारे सम्मुख आता हे उसके लिये आटे दाल के बिल से कविता बहुत महत्त्वहीन है। बड़े होकर जब 'आटा–दाल' और 'कविता' दोनों बराबर महत्त्व रखने लगते हैं, तब प्राथमिकता का प्रश्न उठने लगता है। यद्यपि पद्मा सचदेव की आत्मकथा में हमें उनका बहुत ही व्यवहारकुशल, घरेलू संस्कारशील नारी का ही रूप अधिक दिखाई देता है किंतु कविता भी साथ–साथ चलती हुई मिलती है। "एक दिन में नल के नीचे कपड़े धो रही थी। डंडे की थाप पर गीत उभर रहा था –

निक्कड़े फंगडू उच्ची उड़ान
जाईये थम्मना कीयां शमान

मेरे पंख छोटे हैं उड़ान ऊंची है, मैं आसमान को कैसे पकड़ पाऊंगी।"[2]

'छोटे पंख' पारिवारिक भूमिका है तथा 'ऊँची उड़ान' साहित्यिक भूमिका। घरेलू काम करते हुए कविता का सृजन होना लेखिका की द्वन्दात्मक स्थिति को दर्शाता है।

उनका फिल्मों में गीतकार के रूप में कैरियर भी इसी कारण समाप्त हुआ – "सात दिन मुखड़े के बारे में सोचते–सोचते कविता रूपी चिड़िया कहीं मुण्डेर पर कौवों के डर से बैठना ही न बंद कर दें, ये ख़तरा भी था, फिल्मों में पहली महिला गीतकार का यूँ सुन्दर अंत हुआ।"[3]

लेखिका ने परिवार को भी प्राथमिकता दी और साहित्य को भी ! बच्ची को सुलाते हुए वह लोरियाँ बना लेती है तो कभी अपनी पुस्तक छपवाने के लिये पैसे देने को अपनी सास को राजी कर लेती है।

---

1. हंस – जनवरी, 1998, संस्मरण – पद्मा सचदेव, पृ. 37
2. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 119
3. हंस – जनवरी, 1998, संस्मरण – पद्मा सचदेव, पृ. 40

अत्यधिक बीमारी की स्थिति में मरणासन्न अवस्था में पड़ी लेखिका को दो चिंताएं सताती हैं एक तो यह कि कहीं उसकी हीरे की लौंग उसके पति, चिता के साथ ही न जला दें, और दूसरी कि 'बूंद बावड़ी' पूरी नहीं हुई है, और वह कहती हैं कि 'मैंने मरने का इरादा तर्क कर दिया (छोड़ दिया)। मैं एक बूंद में बावड़ी भरना चाहती हूँ।"[1] यानी परिवार की चिंता में और लेखन की पूर्णता की कामना लिये वे मौत के मुँह से भी लौट आईं।

राजकमल प्रकाशन की शीला संधू से पद्मा जी के बहुत अच्छे अनुभव रहे जबकि कुसुम अंसल की आत्मकथा से पता चलता है कि कुसुम जी को शीला संधू से अनुभव अच्छा नहीं मिला इसका कारण दोनों के अनुभवों को पढ़कर स्पष्ट होता है कि शीला संधू के लिये दोनों लेखिकाओं की साहित्यिक दुनिया भले ही समान हो किंतु उनकी पारिवारिक स्थितियों की भिन्नता से दोनों के प्रति उनका रवैया अलग–अलग प्रकार का रहा ! स्पष्ट है कि लेखिकाओं के साथ में जुड़ा हुआ उनके परिवार का नाम भी उनकी साहित्यिक भूमिका में अपना प्रभाव छोड़ता है।

कुसुम अंसल की आत्मकथा से इस तथ्य की और पुष्टि होती है कि जहाँ बाहर की दुनिया में भी उन्हें अंसल परिवार की सदस्य होने के नाते दोहरा व्यवहार मिला वहीं परिवार में भी साहित्य को प्राथमिकता देने पर दुविधा का सामना करना पड़ा। आत्मकथा के एक अध्याय 'अभिनय का सच' में लेखिका ने उस प्रसंग का वर्णन किया है जब घर–परिवार में एक रस जीवन जीते–जीते वे 'डिप्रेस' हो गईं एवं उन्होंने 'इप्टा' के एक नाटक में भाग लिया – "मैं विकृतियों के एक जंगल में भटक गई थी। अपनी मानसिक विक्षिप्तता के साथ एक ऐसे किनारे पर खड़ी थी जहाँ मात्र उलझनें थीं और कुछ नहीं, सुशील (पति) का व्यवसाय व्यवस्थित और निर्मित हो रहा था, उन्हें उनकी उपलब्धियाँ पारितोष दे रही थीं ... मेरे बच्चे बड़े हो रहे थे परंतु घर–परिवार के प्रति उदासीनता तटस्थ थी। मेरे इस मानसिक डिप्रेशन के मध्य रेनू आ कर मुझे उठा ले गई, वह मुझे

---

1. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 367

जैसे घसीटती हुई 'इप्टा' के परिसर में ले आई। ... रंगमंच का यह वातावरण मुझे बहुत अपना लगता, अजीब–सा विरोधाभास था, जो जीवन मेरी वास्तविकता था, वो मुझे नाटक जैसा लग रहा था, और ये नाटक जो जीवन नहीं था, मुझे अपना लगता था।"[1]

नाटक में भाग लेकर अपनी साहित्यिक अभिरुचि को भले ही लेखिका तुष्ट कर पाईं किंतु इससे परिवार वाले रुष्ट हो गए – "नाटक की बहुत सी आलोचनाएं सामने आई थीं – "किसी ने सुशील से कहा, तुम्हें क्या ज़रूरत थी बीवी से ड्रामे करवाने की।"[2]

लेखिका के सास–ससुर ने उनसे बातचीत करनी बंद कर दी तथा पंजाबी में डांटा कि तुम्हें इतनी जनता के सामने पराए मर्द का हाथ पकड़ने में शर्म नहीं आई ! सास ससुर का यह व्यवहारिक दृष्टिकोण लेखिका को अनुचित तो नहीं प्रतीत हुआ किंतु उसके भीतर का रचनाकार भी अपनी अभिव्यक्ति के लिये आकुल था ... "मुझे भी तो एक आधार चाहिये था, कोई एक आधार जो मेरा संबल बन जाए, मेरे भीतर की रचनात्मकता की अभिव्यक्ति बन जाए, मुझे संभाल ले, मेरे व्यक्तित्व में एक ठहराव ले आए।"[3]

प्रथम उपन्यास प्रकाशित होने पर लेखिका अतिउत्साहित थी – "मैं ख़ुश थी उपन्यास को हाथों में लेकर रोमांचित हो रही थी। मेरा रोम–रोम उन्माद से लहरा रहा था। अजीब अनुभूति थी। पुस्तक की पहली प्रति मैंने पापा को समर्पित की, मैंने सोचा था वे अपनी इस बेकार, नेगलेक्टेड सी बेटी की क्रियात्मकता पर प्रसन्न होंगे परंतु समर्पित करना मात्र 'देने' में बदल गया और उनके उसे लेने की क्रिया बिना किसी मधुरता के समाप्त हो गई।"[4]

पहली रचना का प्रकाशन लेखिका के लिये जितना उल्लेखनीय, जितना उत्साहवर्धक था उतने ही महत्त्व की वे परिवार से भी अपेक्षा रखती हैं, किंतु परिवार की प्राथमिकता 'साहित्य' कदापि नहीं थी – पति की प्रतिक्रिया लेखिका के शब्दों में

---

1. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 75
2. – वही – पृ. 77
3. – वही – पृ. 78
4. – वही – पृ. 80

'ल्यूकवार्म' थी माता–पिता, भाई या सास–ससुर किसी के लिये यह गर्व की बात नहीं थी किंतु लेखिका के लिये वह पल 'एवरेस्ट' से कम ऊँचा नहीं था।

तीन बच्चे, पति, सास–ससुर, देवर–देवरानी सभी के भरे–पूरे परिवार में लेखन कार्य के लिये न तो स्थान था न अवकाश।

द्वन्दात्मक स्थिति की गहनशीलता का अंदाजा इस एक उद्धरण से ही लगाया जा सकता है कि – "लिखना एक बेचैनी की तरह मेरे स्नायुओं में तैरता रहता था, उठते–बैठते, खाते–पीते, टहलते एक सरसराहट मेरे शरीर में समाई रहती थी। अपने साधना संसार में जब मैं गले तक डूबी होती तो कोई नौकर सा खड़ा होता – "भाभीजी के लिये पपीता नहीं है; या नीचे मामीजी या कोई और अतिथि आ जाते या कभी मेरी सास की तबियत इतनी ख़राब हो जाती कि बोरिया बिस्तर उठाए मुझे नीचे उनके कमरे में ही शिफ़्ट होना पड़ता। कभी शाम के खाने–पीने, रसोईये की छुट्टियाँ, बीमारी आदि व्यवधान महीनों मुझे कागज़–कलम से दूर रखते। उनके स्थान पर छुरी, झाड़न, मैदा, बेसन हाथों में आ सनता।"[1]

इस प्रकार जीवन की दो सर्वथा भिन्न रुचियों, भिन्न भूमिकाओं को निबाहते हुए भी लेखिका ने पी–एच.डी. की, अनेक उपन्यास लिखे, वह आज एक सफल साहित्यिक ही नहीं सफल माँ, पत्नी, बहू भी है। दोनों पक्षों के कर्तव्य बखूबी निभा कर लेखिका ने अपनी तरफ से किसी पक्ष को कमजोर नहीं किया। 'मेरी जीवन यात्रा में अनेक पाव आए अक्सर, सुअवसर सभी की नीरवता से गुजरे हुए मैं प्रयासरत रही कि अपने अपनेपन को माँ के अस्तित्व की तरह Non being होने से बचा लूं।"[2]

किंतु परिवार वालों की तरफ से थोड़ी स्वतंत्रता मिलने की आकांक्षा है। लेखन कार्य की तरफ प्रवृत्त होना पारिवारिक उत्तरदायित्वों से पलायन नहीं है यह लेखिका समझाना चाहती है – "परिवार के अन्य सदस्य भी तो 'स्पेस' की आकांक्षा करते थे, मैं

---

1. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 102
2. – वही – पृ. 102

किसी भी मूल्य पर उनकी स्वतंत्रता में बाधा नहीं थी।"[1] जब स्त्री परिवार को प्राथमिकता देती है तो परिवार क्यों नहीं उसके अस्तित्व के विस्तार में सहयोग दे, यह शाश्वत प्रश्न कुसुम अंसल की आत्मकथा उठाती है।

'लगता नहीं है दिल मेरा' की लेखिका कृष्णा अग्निहोत्री का लेखकीय जीवन यद्यपि तब आरंभ हुआ जब पारिवारिक जीवन का लगभग अंत हो चुका था किंतु पति एवं ससुराल से संबंध विच्छेद हो जाने पर भी छोटी बच्ची तथा मायके के संबंधियों एवं नाते–रिश्तेदारों एवं सबसे बढ़कर स्वयं की रोज़ी–रोटी, रोज़गार, मकान एवं जीवन में स्थायित्व की चाह उनके साहित्य लेखन में अनेक बाधाओं के साथ उपस्थित होती रही।

लेखिका तलाक़शुदा थी, जीवनयापन के लिए नौकरी करती थी व अकेली रहती थी। छोटी बच्ची के पालन पोषण की ज़िम्मेदारी भी उन्हीं पर थी। साथ ही उन्हें पी–एच.डी. भी करना था एवं व्याख्याता पद पर बने रहने के लिए लोकसेवा आयोग की परीक्षा भी पास करनी थीं। लेखन के सिलसिले में बहुत बार उन्हें ऐसे व्यक्तियों का भी सामना करना पड़ा जो उनकी इस एकाकी स्थिति का फ़ायदा उठाना चाहते थें। साहित्य में स्थापित होने की उनकी महत्वाकांक्षा पारिवारिक ज़िम्मेदारियों से सदैव टकराती रही। डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने उनका गाइड बनना स्वीकार कर लिया किन्तु पारिवारिक विरोधियों ने सुमनजी को लेखिका के विरोध में भड़काना शुरू कर दिया। बहुत से प्रकाशकों, साहित्यकारों ने भी कृष्णा जी से फ़ायदा उठाना चाहा। इससे उन्हें "यह अनुभव हुआ कि महिलाओं का प्रकाशन क्षेत्र में भी शोषण है।"[2] लेखिका के दूसरे पति श्रीकांत जोग इनकी लिखी कहानियों को अपने नाम से छपवाने पर मजबूर करते थे। "मैंने ढ़ेरों फ़ाइलें पढ़ीं, कई क़िस्सों को कहानी का रूप दिया वह श्रीकांत जोग के नाम से धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कादम्बिनी में भेजा। वे छपे और प्रशंसा के ढ़ेरों पत्र श्रीकांत जी के पास आ गए। श्रीकांत जी गर्व से अपने आपको लेखक घोषित करने लगे। ... अब तो श्रीकांत मुझ पर ज़ोर डालने लगे कि "मैं बस उन्हीं के लिए लिखूँ।"[3]

---

1. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 102
2. लगता नहीं दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 219
3. – वही – पृ. 228

लेखिका अपने इस साहित्यिक शोषण से परिचित थी किन्तु वह 'परिवार' बसाना चाहती थी। "मैं समाज व अपने दूसरे विवाह को लेकर इतनी सजग थी कि जहाँ तक हो सके मैं उसका निर्वाह आगे होकर कर रही थी। ... अब वे भूल ही गए थे कि पत्नी कितने संघर्ष से लिखती है और स्वयं ही लेखक बनने के ग़लत तरीक़े अपनाने लगे।"[1]

किसी भी लेखक के लिये यह अपमानजनक है कि वह मजबूरीवश अपनी रचना दूसरे के नाम से प्रकाशित होने दे, किंतु परिवार का बंधन कृष्णा अग्निहोत्री को अपना साहित्यिक रूप पर्दे के पीछे रखने को विवश कर रहा था। साहित्य के क्षेत्र में रहने के कारण बहुत से परिचितों का उनके घर में आना जाना भी रहता था जिसके कारण खण्डवा शहर की सामाजिक दुनिया में उनकी बदनामी भी हुई। साहित्यकारों का विद्वान, बुद्धिजीवी वर्ग भी उन्हें सुन्दर स्त्री के रूप में ही अधिक महत्त्व देता रहा, विदुषी के रूप में नहीं। बहुत खेद के साथ वे लिखती हैं कि – "लेखिका होना इतना दुर्भाग्यपूर्ण कार्य नहीं है कि कोई छापने के लिये आपसे ग़लत रिश्तों की मांग करे।"[2]

लेखिका हर स्त्री की तरह एक सामाजिक सुरक्षा चाहती थी, अपने व अपनी बेटी के लिये – एक सफल लेखिका एवं आत्मनिर्भर स्त्री होने पर भी एक माँ की विवशता से वे लिखती हैं कि – "नीहार मेरे जीवन की प्रेरणा रही है, मैं उसे एक पल भी चिंतित या दुखी नहीं देखना चाहती हूँ ... श्रीकांत से विवाह का प्रमुख कारण प्यार के साथ सामाजिक सुरक्षा प्रतिष्ठा व नीहार का ब्याह था।"[3]

लेखिका की लेखकीय महत्वकांक्षा भी बहुत अधिक थी इसलिये अपना कहानी संग्रह छापने के लिये वे अपनी बैंक की कुल जमापूंजी एक हज़ार रूपये राजेन्द्र यादव को दे देती हैं, वे स्पष्ट कहती हैं कि साहित्य सृजन केवल दराज़ या फाईलों में बंद करने हेतु नहीं होता जो यह कहते हैं कि हम तो स्वान्तः सुखाय हेतु लिखते हैं, हमें छपाने की आवश्यकता नहीं, वे नाटकीय अधिक हैं।[4]

---

1. लगता नहीं दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 229
2. – वही – पृ. 275
3. – वही – पृ. 256
4. – वही – पृ. 296

आज लेखिका साहित्यिक जीवन में तो सुस्थापित है ही पुत्री–दामाद व नातिन की जिम्मेदारियाँ भी बखूबी निभा रही हैं किंतु उम्र के इस पड़ाव पर आत्मकथा के रूप में अपने जीवन का विश्लेषण करते हुए वह लेखन को रिश्तों से ज़्यादा सार्थक मानती हैं – "मंजुल की रुखाई ... नीहार की अपनी व्यस्तता, वैदेही की नई ज़िंदगी के कारण मैं इस उम्र में बहुत अकेली पड़ आई। मैंने तो ज़िंदगी भर मित्रों, रिश्तों से जब तक बना समझौता ही किया है। एक सीमा के बाद यह समझौता पीड़ा, अभाव बनकर अंतर में दावाग्नि पैदा करता आ रहा है। ... मैं फिर भी आशाओं के जाल बुनती रहूंगी, लेखन के नए मोड़ों पर उड़ती धोखे व विश्वासघात से बहते रक्त को नई अभिव्यक्ति दे दूंगी, शायद मेरे कथानकों का अंत कभी सुखद हो जाए।"[1]

कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में लेखिका की स्पष्टोक्ति भूमिका में ही मिल जाती है कि – "मैं लेखिका नहीं हूँ, न साहित्यिक !" अतः परिवार और साहित्य में प्राथमिकता तय करने के द्वन्द या दुविधा से तो वह नहीं गुज़री है किंतु अपना अस्तित्व, अपनी अस्मिता का बोध स्थापित करने में परिवार, विशेषतः पति का असहयोग उसे अंदर तक बेंध डालता है। यह दुःख, यह खेद उनकी आत्मकथा में भलीभांति व्यक्त हुआ है। लेखिका का पति प्रथम श्रेणी का सरकारी अधिकारी था, उसे स्वतंत्रता सेनानी का ताम्रपत्र भी प्राप्त हो चुका था किंतु उसके पारिवारिक रूप का वर्णन लेखिका ने इस प्रकार किया है – "देवेन्द्र कुमार सिर्फ़ अपने ही घेरे में रहने वाला आदमी है। गर्म मिज़ाज और ज़िद्दी। अपने मुँह से कहता है कि मैं बहुत शैतान आदमी हूँ। उसने मेरी भावना, इच्छा, ख़ुशी की कभी क़द्र नहीं की।"[2]

अत्यंत वेदना से अपने दाम्पत्य जीवन का वर्णन करते हुए लेखिका पुरुष मानसिकता पर टिप्पणी करती है – "पत्नी को स्वतंत्रता सेनानी भी एक दासी के रूप में ही देखना चाहता है।"[3]

---

1. लगता नहीं दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 327
2. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 104
3. – वही – पृ. 106

कौशल्या बैसंत्री जी का साहित्य क्षेत्र से नाता नहीं था इसलिये साहित्य को प्राथमिकता देने का इनके जीवन में सवाल नहीं था, लेखिका ने सारी उम्र अपने परिवार को ही प्राथमिकता, दी किंतु यह प्रश्न उसे हमेशा कचोटता रहा कि क्यों स्त्री ही सारे उत्तरदायित्व उठाएं व परिवार की झूठी प्रतिष्ठा की ख़ातिर ख़ुद को उपेक्षित रखे। वह इस तथ्य से परिचित है कि आत्मकथा लिखने पर परिवार में पुत्र–पति, भाई सब उस पर नाराज हो सकते हैं किंतु अब अपनी प्राथमिकता को बदलते हुए वह एक सजग–सचेतक–जागरूक स्त्री की भांति वक्तव्य देती हैं कि – "हिन्दी में दलित महिलाओं के आत्मकथा साहित्य का अभाव है जिसकी शुरूआत में मैं भी हिस्सा होना चाहती हूँ।"[1]

इस प्रकार चारो महिला आत्मकथाकारों के आत्मानुभवों को पढ़ कर हम सहज ही यह अनुमान लगा सकते हैं कि चूंकि चारों लेखिकाएं विवाहित भी हैं अतएव परिवार उनके लिये कदापि उपेक्षणीय नहीं है पर एक सजग स्त्री बोध उनके भीतर है तथा अपनी अभिरुचि, अपनी पसंद–नापसंद तथा अपनी व्यक्तिगत प्राथमिकताओं के लिये थोड़ी स्वतंत्रता की वे परिवार से भी अपेक्षा रखती हैं। तथा दोनों में संतुलन बना कर चलना चाहती हैं और एक 'मध्यम मार्ग' की कल्पना करती हैं। किंतु ज़्यादातर अनुभवों से यही पता चलता है कि समाज में स्त्री लेखन इतना ज़रूरी, मूल्यवान एवं स्वागतयोग्य नहीं समझा जाता है कि माँ, बहन, पत्नी के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह करने के साथ–साथ कोई स्त्री अपना अहम् भी साहित्य सृजन के रूप में जीवित रख सके। उसकी रचनात्मकता, घर–संसार में गृहोपयोगी सृजन कार्यों तक तो प्रिय है किंतु ऐसी कोई भी रचनात्मकता जो उसकी अपनी पहचान स्थापित करती है, उसका नाम तथा उसका प्रभाव अंकित करती है वह परिवार, विशेषतः पति के लिये अर्थहीन साबित हो जाती है। बहुसंख्य लेखिकाएं या अन्य कलाक्षेत्र से जुड़ी स्त्रियाँ अपनी प्राथमिकता परिवार को ही देती हैं तथा परिणामतः उनके व्यक्तित्व का उतना विकास नहीं हो पाता जो अनुकूल परिस्थितियों में हो सकता है। इसलिये जब सीमोन द बोउवार यह कहती हैं कि – 'स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है।"[2] तब 'स्त्री' से उनका तात्पर्य उस

---

1. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, भूमिका
2. स्त्री उपेक्षिता – सीमोन द बोउवार, पृ. 1

सामाजिक प्राणी से हे जो अपने नैसर्गिक रूप में अनेक संभावनाओं, शक्तियों के साथ जन्मा है किंतु सामाजिक नियमों, रूढ़ियों, प्रथाओं की धार ने उसका विकास अवरुद्ध कर दिया है। इस धार को झेलने को अपनी नियति मानती लेखिकाएं परिवार और साहित्य दोनों को प्राथमिकता देती हैं।

दृष्टिकोण

महिलाओं द्वारा लिखी आत्मकथाओं में व्यक्ति और परिवेश के द्वन्द की अभिव्यक्ति का अध्ययन करने के उपरांत इस द्वन्द का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करना भी रोचक हो सकता है।

भारतीय समाज की संरचना ऐसी है कि उसमें नारी को अपने मनोभाव खुलकर अभिव्यक्त करने का अधिकार व्यवहारिक तौर पर प्राप्त नहीं है। यहाँ जिन आत्मकथाकारों की आत्मकथाओं का विश्लेषण किया है यद्यपि वे चारों महिलाएं अलग–अलग प्रांतों, अलग–अलग जातियों तथा अलग–अलग सामाजिक स्तरों से सम्बन्ध रखती हैं फिर भी उन सभी की आत्मकथाओं में कई दृष्टिकोणों से अद्‌भुत साम्य है। लेखिका रूप, परिवार और समाज को देखने समझने के साथ ही उनकी नारी रूप भी समानान्तर चलता है। जिसमें कई प्रकार के भय शामिल दिखाई देते हैं। वर्णगत स्थिति के साथ अपनी वर्गगत स्थिति को भी 'अभिशाप' मानते हुए कौशल्या बैसंत्री तो अपनी जीवनकहानी को सीधे–सीधे ही 'दोहरा अभिशाप' करार दे देती है। कृष्णा अग्निहोत्री भी कहती हैं कि – "समाज की संरचना में अभी तक यह संभावना नहीं है कि वह स्त्री को क्षणिक सुखों का माध्यम न मानें।" पद्‌मा सचदेव, कुसुम असंल, कृष्णा अग्निहोत्री, कौशल्या बैसंत्री, अमृता प्रीतम सभी लेखिकाओं के कथ्य में इस सामाजिक विडम्बना का दर्द अवृश्य छुपा है। कमलादास भी अपनी आत्मकथा के बारे में लिखती हैं कि 'इस पुस्तक ने मुझसे बहुत कुछ छीना है।' "समाज की मनोवृत्ति की संकीर्णता का उल्लेख प्रत्येक लेखिका अवश्य करती है।

हर स्त्री को समाज एक ही कोण से देखता है, उसके व्यक्तित्व का मापदण्ड उसका कृतित्व नहीं स्त्रीत्व मात्र रहता है। इन आत्मकथाओं में अहं और ब्रह्म, अद्वैत और

द्वैत जैसे रहस्यों या खगोलशास्त्र के सूत्रों या दर्शन, राजनीति पर चिंतन–मनन के तत्व अवश्य नहीं मिलते किंतु अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक भूमि पर स्त्री का चिंतन अवश्य मिलता है।

चारों लेखिकाओं ने अपने खंड–खंड संस्मरण नहीं लिखे हैं बल्कि सम्पूर्ण आत्मकथा लिखी है। लेखन महिला आत्मकथाकारों का जीविका का साधन नहीं है बल्कि व्यक्तित्व का एक अहम् हिस्सा है। उनकी आंतरिक ऊर्जा है। जीवन की घुटन और पीड़ा की अभिव्यक्ति के रूप में शुरू हुआ स्त्री लेखन आज अपनी अस्मिता के प्रति विश्वास से भरा हुआ है।

अगर पद्मा सचदेव यह लिखती हैं कि – 'बूंद बावड़ी' को पूरा करने की चिंता में वे मरने का इरादा तर्क करके, मौत के मुँह से वापस लौट आई, तो इससे उनकी लेखन के प्रति अनन्य आस्था पता चलती है।

कुसुम अंसल लेखन को 'मेडिटेशन' के समान मानती हैं – "जहाँ आत्मपीड़न मुझे सालता था मैं अपने को बचाकर साहित्य तक ले आती थी। जब भी मन विचलित होता, पुस्तकें हाथ बढ़ाकर मुझे थाम लेती थीं, अपनी उलझनों का निष्कर्ष मुझे उनके किसी न किसी अध्याय के पन्ने पर प्राप्त हो जाता था। यही नहीं उस समय व्यवहारिक जगत से मेरा नाता टूट जाता था, भीतर के द्वन्द अपने आप लुप्त हो जाते थे और मैं अपने पढ़ने की मेज़, अपनी पुस्तकों या लेखन के साथ जैसे ध्यानातीत हो जाती। ... पढ़ना या लिखना मेरे लिये एक मेडिटेशन जैसा हो गया था।'[1]

जाहिर है कि लेखन में इतनी गहनता बिना आस्था के नहीं आ सकतीं अपने व्यवहारिक जगत् की उलझनों का निदान लेखिका को पुस्तकों के पन्नों पर मिल जाना उनकी आस्था का ही द्योतक है।

कृष्णा अग्निहोत्री भी अपने लेखन को जीवन की आशा मानती है – "मैं भी आशाओं के जाल बुनती रहूंगी, लेखन के नए मोड़ों पर मुड़ती, धोखे व विश्वासघात से

---

1. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, भूमिका

बहते रक्त को नई अभिव्यक्ति दे दूंगी। शायद मेरे कथानकों का अंत कभी सुखद हो जाऐ।"[1] इसी प्रकार कौशल्या बैसंत्री भी अपनी पुस्तक के ज़रिये अपने जीवन की घुटन व निराशा की अभिव्यक्ति करना चाहती है। तथा अपने साहित्य से समाज की आँखें खोलने की अपेक्षा रखती है। "समाज की आँखें खोलने के लिये ऐसे अनुभव सामने आने की ज़रूरत है।"[2] वे यह भी लिखती हैं कि – "हिंदी में दलित महिलाओं के आत्मकथा साहित्य का अभाव है, जिसकी शुरुआत में मैं भी हिस्सा लेना चाहती हूँ।"[3]

स्पष्ट है कि अपने लेखन के प्रति इन आत्मकथाकारों का दृष्टिकोण बहुत ही आस्थापूर्ण आशावान है। वह इनका शौक–शग़ल नहीं बल्कि व्यक्तित्व का अहम् भाग हैं।

आत्मकथा के ज़रिये स्वयं को अभिव्यक्त करने का 'अस्तित्व बोध' भी इन लेखिकाओं में मिलता है। कुसुम अंसल की आत्मकथा में 'कुसुम अंसल' और 'मिसेज अंसल' के बीच का संघर्ष स्पष्ट ही दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार कृष्णा अग्निहोत्री अपने पूर्वपति का उपनाम अपने नाम के साथ लगाने के बावजूद कहती हैं कि – "मैं किसी की विधवा नहीं, मैं केवल हाड़–मांस की बनी, जीती कृष्णा अग्निहोत्री हूँ। नाम से क्या ? जिस सरनेम को लगाकर लिखती रही सो वही जुड़ा रहा। परंतु अग्निहोत्री परिवार ने तो कभी मेरी ओर मुड़कर नहीं देखा है। तब मेरे मरने पर भी इसी वर्तमान में रहती वेशभूषा में ही जलना चाहती हूँ, जब किसी ने सधवा नहीं बनाया तो विधवा करारने का हक़ किसी को नहीं दूंगी।"[4] यह दृष्टिकोण निश्चय ही अपने जीवन के प्रति आत्म सम्मानपूर्ण है।

कौशल्या बैसंत्री भी अपने पति के साथ चालीस वर्ष का प्रताड़ना भरा जीवन बिताने के उपरांत अंततः अलग हो गई तथा कोर्ट के द्वारा पति से जीवन–यापन ख़र्च भी प्राप्त किया।

---

1. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 327
2. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 8
3. – वही – पृ. 8
4. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 317

पद्मा सचदेव की आत्मकथा में कहीं भी अपने पहले पति दीप जी को छोड़ने का खेद नहीं झलकता। बल्कि आत्मनिर्भर लेखिका आत्मगौरव से कहती है कि – "उन्होंने सोचा था मैं दर–ब–दर हो जाऊँगी। पर जब मैं दर–ब–दर नहीं हुई तो उन्हें ख़ूब गुस्सा आता था।'[1]

शराबी पति से तलाक लेकर अपनी नौकरी शुरू करके जीवन को अपने तरीक़े से जीने वाली स्त्री में निश्चय ही आत्मगौरव की भावना होनी भी चाहिये। जीवन के प्रति सार्थक दृष्टिकोण तथा अस्तित्वबोध हमें चारों लेखिकाओ में दिखाई पड़ता है।

अगर मानवीय कमज़ोरियों पर चर्चा करें तो कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा को छोड़कर अन्य तीनों में स्त्रीगत कुछ सामान्य कमज़ोरियाँ भी दृष्टिगत होती हैं। तीनों ही लेखिकाओं ने 'देवी दुर्गा' की कृपा का विशेष उल्लेख किया है। कृष्णा अग्निहोत्री ने अनेक बार 'मां दुर्गा की कृपा' से काम बनते दिखाए हैं। कुसुम अंसल ने ऋषिकेश के स्वामी दयानंद के आश्रम में कमरा ख़रीदा है तथा मंदिर की आरती, अखण्ड जाप, गायत्री मंत्र, गंगा स्नान का वर्णन किया है। पद्मा सचदेव भी श्रद्धापूर्वक नवरात्र व्रत रखने का वर्णन करती हैं। वहीं कौशल्या बैसंत्री ईश्वर की सत्ता में अनास्था जताती हैं। "मां को जब समझ आने लगी कि भगवान वगैरह की सब बातें मनगढ़ंत है तो उन्होंने पूजा–पाठ छोड़ दिया, लेकिन भाई भगवान से चिपका है। भाभी ने तो भगवानो की फौज खड़ी कर रखी है घर में।"[2]

इसी प्रकार अन्य तीनों लेखिकाएं अपने गहनों का भी वर्णन करती है। पद्मा सचदेव तो मृत्यु शैया पर लेट कर भी 'हीरे की लौंग' की चिंता करती दिखाई देती हैं। (पृ. 367) वहीं कुसुम अंसल भी 'हाथ में दो पतली सी सोने की चूड़ीयाँ, उंगली में साधारण सी हीरे की अंगूठी, कानों में मोती के टाप्स, गले में मंगलसूत्र'[3] पहने रूबी के ड्राप्स ख़रीदने के प्रसंग का वर्णन करती है।

---

1. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 304
2. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 111
3. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 138

कृष्णा अग्निहोत्री अपने पूर्व विवाह के प्रसंग में अपनी सास की मात्र एक बार तारीफ लिखती हैं जब उसने इनके घर छोड़कर जाते वक़्त इनके गहने इन्हें साथ ले जाने की ज़िद की। "मैंने अपने दोनों सोने के सैट रख लिये।"[1]

अपने सौन्दर्य का वर्णन भी कौशल्या बैसंत्री के चर्चा तीनों लेखिकाओं में मिल जाता है। कृष्णा अग्निहोत्री में तो रूप–गुण चर्चा की बारम्बार आवृत्ति हमें मिलती ही है। पद्मा सचदेव भी लिखती हैं कि जब वे वी. शांताराम की फिल्म में गीत–लिख रही थीं तो 'भीतर से दरवाज़ा खोलकर संध्या ने देखा उसने घर में हंगामा खड़ा कर दिया। इतनी सुंदर बाई से तुम गीत नहीं लिखवाओगे।"[2] या मेरी सास मुझसे कहती – "इसने डिबिया में हुस्न छिपा रखा है, जब जी चाहे खोल लेती है।"[3]

कुसुम अंसल यद्यपि अपने सौन्दर्य की प्रत्यक्षतः अभिव्यक्ति तो नहीं करती किंतु इनकम टैक्स की रेड के प्रसंग में तथा बैंकाक में रूबी ख़रीदने के प्रसंग में यह बताना नहीं भूलती कि वे बड़ी सादा रहती हैं, ग्लैमर में उनकी रुचि नहीं है या सजने संवरने का उन्हें शौक नहीं है। यद्यपि पुस्तक के पृष्ठ आवरण पर दी गई उनकी तस्वीर में वे मेकअप भी किये हैं तथा गहने भी पहने हैं।

अपनी पुस्तक में अपनी तस्वीर छपवाने की प्रवृत्ति भी कौशल्या बैसंत्री के अतिरिक्त तीनों लेखिकाओं में मिलती है। यद्यपि गहने पहनना, अपने सौन्दर्य के प्रति सचेत रहना या अपनी पुस्तक में अपनी तस्वीर छपवाना किसी मनोविकार का सूचक नहीं है। किंतु इससे लेखिका के स्त्री सुलभ दृष्टिकोणों का पता अवश्य चलता है, यह नारी मनोविज्ञान की तरफ इंगित करता है। इन तीनों लेखिकाओं के मनोविज्ञान में इस समानता का हम सामाजिक–सांकृतिक कारण ढूंढे तो स्पष्ट ही पता चलता है कि चूंकि तीनों महिलाऐं उच्च वर्ग एवं वर्ण से संबंध रखती हैं जबकि कौशल्या बैसंत्री एक मिल मज़दूर की बेटी तथा 'महार' जाति की हैं, अतः वे साम्य जो उपरोक्त तीनों लेखिकाओं

---

4. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 149
1. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 319
2. – वही – पृ. 269

में सहज ही मिल जाते हैं वे इनमें नहीं मिलते हैं। क्योंकि उनके लेखन का उद्देश्य ही पृथक है। जातिगत श्रेष्ठता के चलते ही चूंकि उपरोक्त तीनों लेखिकाओं को जाति का दंश नहीं भोगना पड़ा। अतः वे अपने कुल की श्रेष्ठता का वर्णन करती हैं एवं भगवान की सत्ता में विश्वास करती हैं किंतु जातिगत एवं व्यवस्थागत अपमान झेल कर ही कौशल्या बैसंत्री आत्मकथा लेखन की तरफ उन्मुख हुई हैं अतः उनके दृष्टिकोण में गहने–कपड़े, रूप–चर्चा या पूजापाठ जीवन की मूलभूत आवश्यकता नहीं है। दलित व्यक्ति का संघर्ष जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का संघर्ष है। अतः शेष चर्चाएं उसके लिये जीवन की विलासिता हैं।

अतः हम देखते हैं भिन्न–भिन्न प्रदेशों – उत्तर प्रदेश (कुसुम अंसल), मध्य प्रदेश (कृष्णा अग्निहोत्री), जम्मू (पद्मा सचदेव) तथा महाराष्ट्र (कौशल्या बैसंत्री) का प्रतिनिधित्व करने पर भी इन महिला आत्मकथाकारों में दृष्टिकोण की समानता मिलती है। यद्यपि जातिगत एवं परिवेशगत भिन्नता के कारण कौशल्या बैसंत्री का लेखन इन सभी मे थोड़ी भिन्नता लिये हुए है वहीं कुछ सामान्य तत्व भी मिलते हैं। जहाँ कृष्णा अग्निहोत्री अपने आई.पी.एस. पति को अत्यंत यातनापूर्ण जीवन सहकर भी छोड़ नहीं पाई वहीं कौशल्या बैसंत्री चालीस के दशक की ग्रेजुएट होकर भी अपने पति का दुर्व्यवहार सहती रही तथा उसे छोड़कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाने की चेष्टा नहीं करती है। पति के रिटायर होने पर ही चालीस वर्षों के वैवाहिक जीवन के उपरांत भी वे पति से अलग हो जाती हैं। क्या पति का उच्च पद उन्हें दुर्व्यवहार सहने की भी शक्ति देता रहा था। लेखिका इस संबंध में आत्मविश्लेषण नहीं करती है। या एक 'घर' की चाह उनके भीतर भी थी जिसकी वजह से वे तलाक़ नहीं ले सकीं।

पद्मा सचदेव लिखती हैं कि – 'एक घर की तलाश हमेशा रही। बचपन में पिताजी के साथ जो घर था, उनके जाते ही उठ गया, गाँव का घर भी अपना न था। फिर बुआ के घर रही, वो घर भी अपना कहाँ था। दीपजी न एक घर दे सके, न पति की सुरक्षा। ... वैसे तो औरत का कोई घर नहीं होता। कहीं से भी उसे कहा जाता है जाओ निकल जाओ। पर औरत इसकी परवाह नहीं करती। ये जुमला हर स्त्री ने सुना

है वो चाहे सीता हो या गीता। इसलिये मुझे एक घर की बेहद ललक थी।"[1]

कुसुम अंसल भी कहती हैं कि – 'भवन निर्माण करने वाले अपने लिये नया घर नहीं बना सके। मुझे एक घर और बदलना था – शायद अंतिम !

'ये दीवारें मेरा घर हैं
वह घर, जिसके सपने देखती मैं
विक्षिप्तता की सुरंग में भटक गई थी।'[2]

कृष्णा अग्निहोत्री ने भी पहले ससुराल से तथा बाद में मायके से सामान बाहर फेंक कर निकालने की घटना का करुण वर्णन किया है, जिससे पता चलता है कि ससुराल से त्यक्त स्त्री को मायके में भी स्थान नहीं मिलता है। नौकरी पाने पर अन्य शहरों में स्थानान्तरण होने पर भी उन्हें मकान की तलाश में इधर–उधर भटकना पड़ा। अंत में जब वे दूसरा विवाह करती हैं तब उसका कारण भी आर्थिक से अधिक सामाजिक सुरक्षा का ही था – "श्रीकांत से विवाह का प्रमुख कारण प्यार के साथ सामाजिक सुरक्षा, प्रतिष्ठा व नीहार का ब्याह था।"[3]

स्पष्ट है कि भिन्न–भिन्न जीवन स्तरों पर जीते हुए भी नारी की एक आकांक्षा अपने लिये ठोस आधार तलाशने की अवश्य होती है। 'घर' के रूप में वस्तुतः उसे भावनात्मक एवं सामाजिक सुरक्षा की तलाश होती है। आत्मकथाओं में मूल संवेदना आत्मविस्तार की है। स्वयं को अभिव्यक्त करने की अपने –आत्म' का विस्तार करने की नारी की आकांक्षा विशिष्ट नहीं, सामान्यीकृत है अतः जीवन को विविध स्तरों पर जीते हुए, भिन्न–भिन्न प्रकार के संघर्ष करते हुए भी सभी वर्गों की लेखिकाओं का दृष्टिकोण कमोबेश समान रहता है। इन सभी में कवियित्री, कथाकार, उपन्यासकार या घरेलू स्त्री की भूमिकाऐं होते हुए भी एक सामान्य 'नारी' तत्व है जो जीवन और जगत् के विभिन्न रहस्यों के प्रति इनका समान दृष्टिकोण निर्धारित करता है।

---

1. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 252
2. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 103
3. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 256

इन आत्मकथाओं में स्त्री–चिंतन के विविध पहलू हमें मिलते हैं। ये सभी, अपने 'नारी' रूप तथा 'लेखिका' रूप का संतुलन करके चलती हुई स्त्री की यात्रा कथाएं हैं। ये सभी उन स्त्रियों की जीवन कथाएं हैं जिन्होंने घर–परिवार को प्राथमिकताएं देते हुए 'लेखिका' बनने की महत्त्वकांक्षा पाली तथा दोनो भूमिकाओं को निभाने का जोखिम उठाया है। इस जोखिम का द्वन्द इनकी अभिव्यक्ति में स्पष्ट झलकता है।

यह अवश्य है कि जीवन की कथा में इन सभी ने आत्म चित्रण, आत्म स्थापना, आत्म समर्थन तो किया है – आत्म विश्लेषण नहीं किया। जीवन के जिन प्रसंगों में इनकी भूमिका बहुत सबल होनी चाहिये थी वहां वे लड़खड़ा भी गई हैं और स्थितियों को ही अपराधी सिद्ध करती हैं। अपनी क्षमताओं का परिचय ये अवश्य देती हैं किंतु त्रुटियों और स्खलनों के लिये परिस्थितियों को दोषी मानती हैं, आत्मालोचना नहीं करतीं।

विशेषतः कृष्णा अग्निहोत्री एवं कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथाएं इसी प्रकार आत्मविश्लेषपरक दृष्टि से रहित आत्मकथाएं हैं। दोनों ने ही अपने दुखों–कष्टों का अतीव वर्णन करते हुए अपनी 'शत शैल संवरण शील' भूमिका दर्शाई है। कुसुम अंसल की आत्मकथा में भी कष्टपूर्ण अनुभवों की शुष्कता अधिक है। इन तीनों आत्मकथाओं में कहीं भी एक की हास–परिहास का प्रसंग नहीं मिलता है। क्या जीवन इतना नीरस है ? नहीं ! कहीं न कहीं कोई छोटा–मोटा सुखद प्रसंग, हंसी–खुशी, अकस्मात मिला सुख तो अवश्य ही होगा। तब भला जीवन की कथा में उस की अभिव्यक्ति क्यों अनुपलब्ध है ? यह प्रश्न इन आत्मकथाओं को पढ़ कर बरबस ही मन में कौंध जाता है। पद्मा सचदेव की आत्मकथा में ऐसा नही मिलता है। उसमे दुखों–कष्टों का वर्णन है तो खुशियों का भी ! उपरोक्त तीनों लेखिकाएं जहाँ जीवन को मात्र 'दोहरा अभिशाप' मानती हैं या ज़िंदगी से उकता कर कहती हैं कि 'लगता नहीं है दिल मेरा उज़डे दयार में', अथवा जो अब तक व्यक्त था, वह मन की भड़ास, 'जो कहा नहीं गया', वह आत्मकथा में निकालती हैं वहीं पद्मा सचदेव 'ये माना ज़िंदगी है चार दिन की, बहुत होते हैं यारों दिन भीं – से अपनी आत्मकथा की शुरूआत करती है तथा अपने 'बूंद' नुमा व्यक्तित्व में 'बावड़ी' नुमा 'सृष्टि' की अनंत गहराईयां समेट लेना चाहती हैं। कृष्णा अग्निहोत्री और कौशल्या बैसंत्री सुशिक्षित होते हुए भी अपने–अपने उच्चाधिकारी पतियों के दुर्व्यवहार

सहती रही। उनकी यह भूमिका आत्मसम्मान रहित ही कही जाएगी। कुसुम अंसल 'आमुख' में ही अपनी सफाई देती हैं कि 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया'। अपने निजी अनुभवों की शुष्कता को अनुभूति के रस से संसिक्त नहीं कर पाई हैं।

पद्मा सचदेव में विपरीत परिस्थितियों में जीते हुए भी अदम्य जीजिविषा कूट–कूट कर भरी हुई है। पर इस आत्मकथा में 'लता मंगेशकर' का वर्णन अत्यधिक विस्तार पा गया है। जबकि लेखिका के बौद्धिक, भौतिक, आर्थिक, शारीरिक किसी प्रकार के विकास अथवा ह्रास में उनकी भागीदारी नहीं दिखाई पड़ती। इन सभी लेखिकाओं के पास निरीक्षण दृष्टि अवश्य है किंतु वह मात्र घटनाओं, परिस्थितियों के सन्दर्भ में, स्वयं के व्यक्तित्व विश्लेषण में नहीं।

कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा भले ही 'स्व' को विश्लेषित नहीं करती है किंतु दलित समस्याओं के मूल को अवश्य सीधी–सादी शैली में विश्लेषित करती चलती है। घटनाओं का सपाट वर्णन करके भी यह आत्मकथा रोचकता का गुण लिये हुए है। दलित संघर्षों और स्त्री संघर्षों दोनों सन्दर्भ में यह आत्मकथा उल्लेखनीय है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महिला आत्माभिव्यक्ति की परम्परा महिला आत्मकथाओं के आगमन से नहीं आरंभ होती है, बल्कि शताब्दियों पुरानी है। सृष्टि के उद्भव से नारी सृजन से जुड़ी हुई है। सभ्यता के विकास के साथ–साथ उसकी सृजनशीलता भी विकसित होती गई और उसके अंदर की भावनाएं विभिन्न माध्यमों से अभिव्यक्ति पाती रहीं। लोकगीत – लोककलाओं, कथा–संसार, उपन्यास आदि के साथ आज हिन्दी साहित्य में महिला आत्माभिव्यक्ति आत्मकथाओ के द्वारा कहीं अधिक सुस्पष्ट एवं प्रमाणिक रूप में हमारे सामने आती है। ये आत्मकथाएं जहाँ स्त्री के रचना–संसार से उसकी सच्चाई से हमें परिचित करवाती हैं वहीं स्त्री–चिंतन में इन्होंने एक नया विमर्श भी छेड़ दिया है।

नारी के रचनाशील रूप ने जब यह तथ्य जाना कि उसके कृतित्व के विभिन्न रूप उसे पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं कर पा रहे हैं, बल्कि उसके कृतित्व से अलग उसका व्यक्तित्व भी कुछ कहने की क्षमता रखता है तब उसने आत्मकथा का माध्यम अपनाया। और यह आत्मपहचान पर्दे से बाहर आकर आत्माभिव्यक्ति करना हिम्मत का प्रतीक है।

महिला आत्मकथाएं सिर्फ़ इन लेखिकाओं के निजी जीवन का ब्यौरा मात्र नहीं हैं बल्कि ये नारी के मनोविज्ञान को समझने में भी सहायक हैं। नारी के अंतर्जगत और बाह्य परिवेश के मध्य अंतस्संबंधों पर ये प्रकाश डालती हैं। घर–द्वार–परिवेश साहित्यिक जगत और लेखकीय महत्वकांक्षाओं की कहानी कहती ये आत्मकथाएं महिला लेखन के समाजशास्त्रीय अध्ययन में भी मददगार सिद्ध हो सकती हैं।

आत्मकथा महिला लेखन को मूर्त विषय देती है। कल्पनात्मक विधाओं में यह अभिव्यक्ति अमूर्त विषयों पर मिलती है जैसे – 'मैं नीर भरी दुख की बदली' वहीं आत्मकथा में यह आवरण हट गया तथा नारी नेपथ्य से बाहर आकर स्वयं मुखर हो गई। और इसके साथ ही पुरुष वर्ग की बौद्धिक विमर्श में इज़ारदारी ख़त्म हो गई।

आत्मकथालेखन में विभिन्न पुरुष आत्मकथाकारों के वक्तव्य पढ़ते हुए हमने देखा कि आत्मकथा के रूप में प्रमाणिक रूप से, घोषणा करते हुए अपने आपको उघाड़ना, पुरुषों के लिये भी हिम्मत का काम है, नारी दो मोर्चों पर लड़ते हुए एक मोर्चा स्त्रीगत चेतना का तथा दूसरा मोर्चा सामाजिक परिवेश का, बाहर आती है और अभिव्यक्ति के मुखर मार्ग को अपनाकर आत्मकथा लिखती है। आत्मकथा साहित्य के क्षेत्र में हिंदी–भाषी प्रदेशों में अभी तक महिलाओं के द्वारा रचित आत्मकथाएं नहीं थीं। सदी के अंत में खुली आत्माभिव्यक्ति का साहस करते हुए एक साथ इतनी महिलाओं की आत्मकथाओं का उपलब्ध होना एक सुखद अनुभूति है।

इन आत्मकथाओं में यद्यपि आत्मनिरीक्षण या आत्मविश्लेषण की भावना नहीं मिलती है, नारी मुक्ति आंदोलन की अलमबरदारी या स्त्री विमर्श की पैरोकारी भी ये नहीं करती, किंतु हर महिला आत्मकथाकार अपने उदाहरण से नारी के मनोजगत की बुनावट और समाज के उसके प्रति दृष्टिकोण का भेद अवश्य खोलती है। इन आत्मकथाओं को स्त्री ने अपने विद्रोह का माध्यम नहीं बनाया है बल्कि अपने जीवन के उदाहरण से, समाज और संसार की निर्मिति में नारीवर्ग की भागीदारी तथा बदले में प्राप्त अधिकारों का असंतुलन दर्शाना चाहा है। यही इन आत्मकथाओं का मूल कथ्य है, यही इनकी केन्द्रीय संवेदना है। ये आत्मकथाएं स्त्री जीवन के गवाक्ष हैं।

अध्याय – 6

आत्मकथा में शिल्प–विधान

क) अभिव्यंजना के विविध प्रसाधन – प्रस्तुत योजना, बिम्ब, वक्र एवं वैचित्र्यपूर्ण अभिव्यक्ति

ख) भाषा – स्वरूप, शब्द भण्डार, व्याकरण

ग) शैली – विवरणात्मक शैली, वर्णनात्मक, औपन्यासिक, वार्ता शैली

अध्याय – 6

आत्मकथा में शिल्प विधान

अनुभूति को अभीष्ट रूप देने के लिए शिल्प आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु शिल्प में ही आकार ग्रहण करती है। मानव निर्मित वस्तुएं सदैव शिल्प प्रधान होती हैं। शिल्प से साहित्य विविध रूपों में बंट जाता है। प्रत्येक रचना के स्वरूप का निर्धारण शिल्प के माध्यम से ही होता है। "साहित्य एक ललित कला है। अतः साहित्यिक रचना का स्थान अन्य सभी प्रकार की रचनाओं से भिन्न होता है। किसी भी भावना, विचार या सिद्धांत को भाषाबद्ध कर देने के उपरांत ही उसे साहित्य की श्रेणी में नहीं माना जा सकता, साहित्य वह तभी बनता है जब उसमें स्थायित्व एवं रागात्मक तत्व भी आते हैं। शिल्प ही विचारों और भावनाओं को साहित्य की विविध विधाओं में बाँटता है।"[1] शिल्प विधान में शिल्पी का कौशल, शिल्प तत्वों की संरचना के माध्यम से अनुभूत विषय वस्तु को कला रूप प्रदान करता है।

शिल्प अंग्रेजी के 'टैकनीक' शब्द का अनुवाद है। आक्सफोर्ड डिक्शनरी में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है – "संगीत अथवा चित्रकला की कलात्मक रीति तथा कलात्मक कारीगरी।"[2]

वृहद् हिन्दी कोश में शिल्प की परिभाषा है – "शिल्प से अभिप्राय है हाथ से कोई वस्तु तैयार करने अथवा दस्तकारी या कारीगरी से।"[3]

हिन्दी में शिल्प को 'रचना विधि' तथा 'रूप' भी कहा जाता है, अगर कथ्य वस्तु का भावपक्ष है तो शिल्प वस्तु का कलापक्ष है। किसी भी रचना के भीतरी–बाहरी सन्तुलन

---

1. हिन्दी उर्दू उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य (प्रथम खण्ड) डॉ. प्रेम भटनागर, पृ. 9
2. आक्सफर्ड डिक्शनरी – पृ. 1258
   (Mode of artistic execution in music, Painting & technical Skill in art.)
3. वृहद् हिन्दी कोश – पृ. 1334,

के लिए शिल्पविधि की आवश्यकता होती है। अंग्रेजी में 'क्राफ्ट', 'स्ट्रक्चर' तथा 'फार्म' तीनों शब्द शिल्प (टैकनीक) के पर्याय के रूप में स्वीकृत हैं।

टैकनीक शब्द हिन्दी में 'तकनीक' के रूप में ग्रहण कर लिया गया है। इसका अर्थ है – रचना प्रणाली। 'क्राफ्ट' से तात्पर्य है – 'कौशलपूर्ण रचना, स्ट्रक्चर का अर्थ है – संरचना तथा फार्म शब्द का अर्थ है – रूपाकार। इन सभी के लिए हिन्दी में 'शिल्प' शब्द प्रचलित है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने 'टैकनीक' (शिल्प) की समीक्षा इस प्रकार की है – "टैकनीक का अर्थ है – ढंग, विधान, तरीका जिसके माध्यम से किसी लक्ष्य की पूर्ति की गई हो।"[1]

रचनाकार का लक्ष्य अपनी अनुभूति को रूपायित करना रहता है। अनुभूति के सहज एवं कुशल सम्प्रेषण के लिए ही वह शिल्प का आश्रय लेता है। "अगर कथावस्तु का स्थान रचना में वह है जो शरीर में अस्थियों का, तो शिल्प उस ढाँचे को बाह्याकृति प्रदान करता है।"[2] स्पष्ट है कि दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखने पर वस्तु का महत्व शिल्प से अधिक कहा जा सकता है। "वस्तु तत्व के अन्तर्गत कथासूत्र, मुख्य कथानक, प्रासंगिक कथा, अंतर्कथाएँ तथा विभिन्न घटनाएँ आते हैं। पर शिल्प, वस्तुतत्व से कहीं अधिक शक्तिमान एवं समृद्ध विधा है क्योंकि इसके अंतर्गत वस्तुगत योजना, चरित्रांकन विधि, संवाद परिकल्पना, वातावरण, नियोजन, विचार संचालन तथा भाषा और शैली तत्व नियोजित होते हैं। रुचि का भी शिल्प में एक महत्वपूर्ण स्थान है।"[3]

स्पष्ट है कि आधारभूत ढांचा होते हुए भी अकेला वस्तु तत्व अपने आप में रचना–निर्माण में सक्षम नहीं है उसे साहित्यिक रूप धारण करने के लिए कलात्मक शिल्प की आवश्यकता होती ही है, अतः किसी भी रचना के भीतरी बाहरी सन्तुलन के लिए शिल्प एक आवश्यक तत्व है।

---

1. हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास – डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, पृ. 2
2. हिन्दी–उर्दू उपन्यास–शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य – डॉ. प्रेम भटनागर, पृ. 8
3. – वही – पृ. 8

आत्मकथा के सन्दर्भ में शिल्प का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। आज जबकि जीवनी, संस्मरण, डायरी, पत्र संकलन जैसी ढेरों समानधर्मा विधाएँ आत्मकथा विधा के समकक्ष साहित्य में उपलब्ध हैं तब आत्मकथा में शिल्पगत विशिष्टता अति आवश्यक है। चूंकि इन सभी साहित्य रूपों में भी आत्मकथा से वस्तुगत साम्य हमें प्राप्त होता है। अतः आत्मकथाकार के लिए आत्मकथा लिखते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना होता है कि उसे जीवन को समग्रता के साथ अपने में समेट लेने वाली रचना का निर्माण करना है। अतः जीवन की गहनतम् अनुभूति को उसी सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्त कर सकें, ऐसे शिल्प का चयन करने की अपेक्षा उससे की जाती है। जीवन सत्य को कला सत्य में ढालने के लिए, पाठक की रुचि के अनुकूल बनाने के लिए उसे कथ्य के अनुरूप शिल्प की आवश्यकता पड़ती है अन्यथा उसकी आत्मकथा, डायरी, रिपोर्ताज या संस्मरणों का संकलन बनकर रह जाएगी।

प्रत्येक युग में कलात्मक अभिव्यक्ति नवीन उपादान और साधन ग्रहण करती है। वर्तमान समय में भी नवीन जीवनबोध, आधुनिक भावजगत के बीच रचनाकार को अपनी अभिव्यक्ति के लिए नवीन उपादान भी जुटाने पड़े हैं। नवीन जीवनदृष्टि जीवन की सार्थकता एवं मानव की समस्त सम्प्रेषणीयता को साहित्यिक अभिव्यक्ति देने के लिए अनुकूल अभिव्यंजना के विविध प्रसाधनों का चयन करती है। इन साधनों के माध्यम से ही अनुभूति अपने अभीष्ट स्वरूप को प्राप्त करती है।

अभिव्यंजना के विविध प्रसाधन

आत्मकथा विगत जीवन बोध की अभिव्यंजना है। इस अभिव्यंजना की आकांक्षा लेखक के जीवन में सार्थकता के बोध से आती है। एक सार्थक उद्देश्यपूर्ण, समग्र (आयु के नहीं दायित्वों के अर्थ में) जीवन जी चुकने के बाद जीवन के घात–प्रतिघातों के बीच से विशिष्ट बनकर निकले व्यक्तित्व में अपने प्रति जो आत्मगर्व उपजता है वही लेखक को आत्मकथा लेखन की प्रेरणा देता है।

अपने प्रति सम्मान, अहं का भाव लेखक को आम से खास, जनसाधारण से असाधारण बना देता है तथा वह अपने व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया का पुनरावलोकन

करना चाहता है कि उसने किस अधोबिन्दु से जीवन यात्रा आरम्भ करके किन शिखरों को छुआ है। अपनी जीवनयात्रा का, अपने उद्देश्यों की महत्वकांक्षाओं की प्राप्ति के बाद वह पुनः स्मरण करता है। यश–अपयश, विरोध–अवरोध, खोया–पाया अर्थात् एक–एक पड़ाव का वह विश्लेषण करता है तथा निष्कर्षतः आत्मकथा लिखता है।

इस प्रकार आत्मकथा विगत जीवन बोध की अभिव्यंजना बनकर हमारे सामने आती है। इस अभिव्यंजना के लिए लेखक विभिन्न विधियों, प्रसाधनों व प्रकारों का प्रयोग करता है जिससे कि वह अपने कथ्य को ठीक उसी रूप में ही संप्रेषित कर सके जैसा वह स्वयं महसूस करता है।

कुशल संप्रेषण के लिये लेखक भावों के अनुसार ही प्रसाधनों को चुनता है। वे प्रसाधन जिनसे कि भावानुभूति (यथासंभव) जस–की–तस पाठक तक पहुँच सकें, शिल्प को सुगठित बनाते हैं।

कुशल संप्रेषण के लिये ही वह सर्वप्रथम आत्मकथा विधा को चुनता है क्योंकि मात्र इसी माध्यम से वह अपने समग्र जीवन का वर्णन अपने शब्दों में कर सकता है, बिना किसी प्रकार के साहित्यिक आवरण का आश्रय लिये।

विधा के चयन के साथ ही प्रसाधन चयन की भी ज़िम्मेदारी शुरू हो जाती है अभिव्यक्ति के वे विविध उपकरण उसे जुटाने पड़ते हैं जिनसे अभिव्यक्ति, सशक्त हो सके। अपने 'आत्म' को 'कथात्मक' स्वरूप देने के लिये लेखक प्रतीक, बिंब, उपमा, उदाहरण इत्यादि नाना भाषा उपकरणों का सहारा लेता है, कहीं वह भावों पर ज़ोर डालता है तो कहीं शैली पर। कहीं वह अपना अथाह शब्द–भण्डार खोल देता है तो कहीं अर्थ वैचित्र्य से कथन को पुष्ट करना चाहता है, मुख्य उद्देश्य अपनी अनुभूति का पाठक तक निर्विघ्न संप्रेषण रहता है तथा लेखक इसके लिये विषयानुकूल तथा प्रसंगानुकूल भाषा तथा शैली अपनाता है जिससे कारगर संप्रेषण हो सके।

अनुभूति को रूपायित करने के क्रम में स्मृति, अनुभव एवं विचार तीनों की भूमिका रहती है। महत्त्वपूर्ण स्मृतियाँ लेखक के मस्तिष्क–कोष में संचित रहती हैं। लेखक इन स्मृतियों को अनुभव और विचार के माध्यम से संपादित करके रचना के रूप में

रूपान्तरित करता है। रूपान्तरण की इस प्रक्रिया में भाषा–शैली, बिंब–प्रतीक इत्यादि उसके उपकरण रहते हैं।

प्रस्तुत योजना, बिंब एवं प्रतीक

रचनाकार अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त रूप देने के लिये विभिन्न भाषा–उपकरणों, प्रसाधनों–विधियों का सहारा लेता है। अनुभूति से अभिव्यक्ति के मध्य के विभिन्न स्तरों की वह एक योजना तैयार करता है। जीवन की महत्त्वपूर्ण स्थितियों, घटनाओं का वह अपनी स्मृति की सहायता से चयन करता है। फिर उनका वर्गीकरण तथा संपादन करता है एवं एक रूपाकार निर्धारित करता है। अपने मस्तिष्क–पटल पर बिंबित अनुभूतियों को वह भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। अनुभूति को अधिक सशक्त बनाने के लिये बिंब एवं प्रतीक का भी वह उपयोग करता है। यद्यपि बिंबों और प्रतीकों का प्रयोग मूलतः कविता के क्षेत्र में किया जाता है किंतु गद्य में भी सजग रचनाकार ऐसे जीवंत बिंबों की सृष्टि कर देता है जिससे समूचा वातावरण पाठक के समक्ष उपस्थित हो जाता है या ऐसे प्रतीकों की उद्‌भावना करता है जिससे अत्यंत विस्तृत विवेचन का भी संक्षेप में बोध हो जाता है।

'बिंब' अंग्रेजी के 'इमेज' शब्द का प्रतिशब्द है, बिंब का अर्थ चित्र, मानस चित्र या कल्पना चित्र भी है। यह अनुभूतियों और भावनाओं का मूर्तकरण हैं चित्रमयी भाषा पाठकों को सहजग्राह्य होती है, तथा जिस अर्थ को हम अभिधा द्वारा सहज ही आत्मसात नहीं कर सकते उसका बोध करने एवं कराने के लिये प्रतीक का उपयोग किया जाता है।

प्रतीक वस्तुतः व्यंजनात्मक रूप से अथवा भावात्मक रूप से समता के धरातल पर विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं। प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में भावना की अपेक्षा अधिक संप्रेषणीयता के लिये किया जाता है।

हिन्दी साहित्य में शुद्ध प्रतीकों या बिंबों की योजना मुख्य रूप से काव्य में ही हुई है किंतु गद्य में भी इनका प्रयोग मिलता है।

"बिंब और प्रतीक मन की स्थितियों को समझने में सहायक होते हैं। कई बार जिस मानसिक स्थिति को समझने के लिये पैरे और पृष्ठ रंगने की आवश्यकता होती है वह एक बिंब अथवा प्रतीक के माध्यम से समझा दी जाती है।"[1]

बिंबों और प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में अधिक संप्रेषणीयता के लिये किया जाता है। प्रतीकात्मक शब्दों में विशिष्ट अर्थ की व्यंजना निहित रहती है, इस कारण उनसे प्राप्त अर्थ की अनुभूति तीव्र हो जाती है । अतः आत्मकथाकार के लिये बिंबों और प्रतीकों का अत्यंत महत्त्व है, क्योंकि इनके सफल उपयोग से वह पाठक से सही तादात्म्य बैठा सकता है। प्रतीक जहाँ इतिवृत्तात्मकता एवं विस्तार से बचाते हैं वहीं भाषा में चित्रमयता बिंब विधान से ही आती है। लगभग सभी साहित्यकारों के गद्य में भी बिंबों, प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। बच्चन ने स्थानों के वर्णन में ऐसे चित्र खींचे हैं कि अपरिचित पाठक को स्थान का दृश्य साकार हो जाता है – "सहस्रधारा का पहला रूप ही अच्छा था, अब वहाँ थी जा–ब–जा चाय, पान, सिगरेट, पूरी–मिठाई की दुकानें और इनसे अनिवार्य रूप से सम्बद्ध गंदगी, जूठे पत्तल, दोने, कुल्हड़–कसोरे, सिगरेट, बीड़ी के जले टुकड़े, खाली डिब्बे और जहाँ–तहाँ पान की पीक।"[2] उनकी भाषा में बोलचाल के सामान्य प्रतीकों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है – जैसे 'पंडित पद्मकांत मालवीय ने 'मधुशाला' की प्रति मुझसे लेकर उसका 'अचार डाल दिया था।'[3] आगे बच्चन ने पूरे एक अनुच्छेद में यह भलीभांति व्याख्यायित किया है कि प्रकाशक पाण्डुलिपियों का अचार कैसे डालते हैं, अचार के मुहावरे के प्रतीकात्मक प्रयोग ने भाषा में रोचकता पैदा करदी है। रहबर जी की पुस्तक 'मेरे सात जन्म' यद्यपि विचारधारा से ओतप्रोत है किंतु भाषा के माध्यम से उन्होंने भी सजीव चित्रों की सृष्टि की है । एक कमरे का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं – "दीवार के साथ–साथ चारों ओर चिप्स की रंग–बिरंगी बेल, जो अजंता में बनी किसी बेल की प्रतिलिपि थी, बेल के चारों ओर एक सा फासला छोड़कर जो चौकोर बनता था, उसके आधे भाग में नृत्यरत मोर के पंख फैले थे और दूसरे भाग में चिप्स से बने फूल पौधे थे।

---

1. हिन्दी कहानी का शिल्प विधान – डॉ. राधेश्याम गुप्त, पृ. 200
2. नीड़ का निर्माण – बच्चन, पृ. 57
3. क्या भूलूं क्या याद करूं – बच्चन, पृ. 294

एक उद्यान का सा दृश्य दिखाई पड़ता था।"[1] इस वर्णन से पाठक के समक्ष उद्यान बिंबित हो जाता है।

बिंबों की रचना में नागर जी का खींचा हुआ स्व–चित्र एक सटीक उदाहरण बन पड़ा है। लेखक ने अपनी आत्मकथा में सबसे पहला अध्याय 'आईने के सामने शीर्षक से दिया है तथा उसमें अपना 'पोट्रेट' पाठक के सामने प्रस्तुत किया है। कुछ ही पंक्तियों में पाठक के सम्मुख नागर जी का एक 'स्केच' उभर आता है – "मेरे सर पर बाल घने हैं, काले हैं ... कपाल बहुत चौड़ा नहीं, बहुत संकरा भी नहीं ... गालों की हड्डियाँ उभरी हुई हैं, नाक नुकीली है, होंठ न पतले, न मोटे, मुँह छोटा, निचले होंठ पर तिल भी है – कान बड़े हैं, ठोड़ी नुकीली और आगे की ओर उभरी हुई है।"[2] इस नख–शिख वर्णन से पाठक के सामने नागर जी का हँसता हुआ चेहरा जैसे उपस्थित हो जाता है। बच्चन ने भी अपना शब्द चित्र इस प्रकार बनाया है –

सिर पर बाल घने घुंघराले, काले – कड़े बड़े बिखरे से।"[3]

भाखड़ा नांगल बांध के निर्माण के वर्णन में कार्यरत श्रमिकों को उन्होंने 'भगीरथ' के प्रतीक से नवाज़ा है, जिनके श्रम से 'सतलज' नदी शिवालिक की पहाड़ियों तक उतर आई है।

पद्मा सचदेव अपनी आत्मकथा में शब्दों के ऐसे बिंब खींचती है कि पाठक उनकी अनुभूति से तत्क्षण साक्षात्कार कर लेता है।

"आसमान पर एक बहुत बड़ा समुद्री जहाज न जाने कैसे संतुलन बनाए खड़ा था निश्चय, अटल–अडोल सिल–पत्थर सा, इस फीके बदरंग आसमान के एक हिस्से की तरह। सभी कुछ ठहरा हुआ, उदास, भयाक्रांत ...। अचानक वो पूरा परिवेश ऊपर उठा

---

1. मेरे सात जन्म (भाग–4) – हंसराज रहबर, पृ. 32
2. टुकड़े–टुकड़े दास्तान – अमृतलाल नागर, पृ. 11
3. बसेरे से दूर – बच्चन, पृ. 15

जैसे किसी ने तोते का पिंजरा ऊपर उठा लिया हो।"[1] इसी प्रकार अपनी किताबों को प्रकाशित करने तथा अनुवाद का कार्य पूरा करने को कहती है कि – "सबको ठिकाने लगाकर मुझे ऐसे ही लग रहा है जैसे माँ को बेटियाँ ब्याहने के बाद लगता है।"[2]

बेटियों के प्रतीक से लेखिका अपनी महती ज़िम्मेदारी का अनुभव पाठक को करा देती है, और पाठक लेखिका की भावना को समान धरातल पर समझ लेता है। इससे सम्प्रेषणीयता समृद्ध होती है।

प्रतीकात्मक शब्दों में विशिष्ट अर्थ की व्यंजना निहित होती है, इस कारण उनसे प्राप्त अर्थ से अनुभूति तीव्र हो जाती है। आत्मकथा में प्रतीक का उपयोग आत्मकथाकार अपनी अनुभूति को संकेतों के माध्यम से व्यक्त करने में करता है जोकि शिल्प का निश्चय ही प्रौढ़ रूप है।

कुसुम अंसल ने एक प्रसंग में अपनी अस्त व्यस्तता दिखाने के लिये लिखा है – "मैंने अपने कपड़ों पर दृष्टि डाली, रेत से लदी साड़ी, तेज़ हवा से उड़–उड़ कर गुच्छा हुए बाल, मैले हाथ–पैर, न ही मेरे पास पर्स था।"[3]

इस वर्णन से उनका एक तत्कालीन चित्र पाठक की दृष्टि में कौंध जाता है तथा प्रसंग के समय उनकी दशा को पाठक सहज ही समझ लेता है।

इसी प्रकार दलित आत्मकथाओं में दलित बस्तियों का जो चित्रण मिलता है वह पाठक के सम्मुख एक बिंब उपस्थित कर देता है।

---

1. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 7–8
2. – वही – पृ. 28
3. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल पृ. 118

भाषा

'शिल्प' और 'वस्तु' दोनों के सफल संबंध निर्वाह के लिये सबसे आवश्यक एवं सक्षम माध्यम है – भाषा ! लेखक से पाठक का साक्षात्कार भाषा के माध्यम से ही हो पाता है, अभिव्यंजना के विविध प्रसाधन भाषा के बिना मूक रह जाते हैं। यह भाषा का ही प्रभाव है कि सम्प्रेषणीयता लेखक से पाठक तक अपना संबंध आत्मीय स्तर पर बनाए चलती है। अतः सफल अभिव्यंजना के लिये सक्षम भाषा का माध्यम अति–आवश्यक हो जाता है।

आत्मकथा में भाषा का विशेष महत्त्व रहता है, क्योंकि यह व्यक्ति के जीवन की कथा है तथा भाषा व्यक्तित्व का आईना होती है। भाषा से लेखक का भाषा कौशल, भाषा संस्कार, भाषा पर अधिकार, भाषा क्षेत्र सभी कुछ पता चलता है। व्यक्ति का घर–परिवेश, शिक्षा, उसकी व्यक्तिगत रूचियाँ सभी भाषा को प्रभावित करती हैं। भाषागत वैशिष्ट्य से व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का पता बड़ी आसानी से लगाया जा सकता है। जहाँ साहित्य की अन्य विधाओं में कृत्रिम भाषा का प्रयोग किया जा सकता है तथा पात्रानुकूल शब्दचयन कर वास्तविकता से बचा जा सकता है वहीं आत्मकथा रचनाकार को ऐसी कोई छूट नहीं देती। जीवन की घटनाओं तथा परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण होने के कारण आत्मकथा की भाषा अकृत्रिम तथा जीवंत होती है। शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ यहाँ तक कि गालियाँ भी जो भी भाषा के अवयव व्यक्ति प्रयोग करता है वे उसके व्यक्तित्व के ही अवयव होते हैं। कहानी, कविता, उपन्यास आदि में भाषा पात्र की स्थिति के अनुसार परिवर्तित हो सकती है किंतु आत्मकथा में नहीं ! विभिन्न आत्मकथाकारों की भाषा का अनुशीलन करने पर हम अपने तथ्य को और पुष्ट कर सकते हैं। विभिन्न आत्मकथाकारों की भाषा का स्वरूप, शब्द भण्डार, उनके व्याकरण का हम इसमें अध्ययन करेंगे।

साहित्यकारों के लिये भाषा अनुवर्तिनी, वशवर्तिनी रहती है किंतु सत्याश्रित विधा आत्मकथा में भाषा का छल सत्य का हनन कर सकता है। अतः अपने बारे में लिखते हुए साहित्यकारों की भाषा साहित्य सजग नहीं वरन् आत्मपरक अधिक हो जाती है। परिनिष्ठता, प्रांजलता का गुण तो उनकी भाषा में रहता है किंतु स्वाभाविकता के साथ ! यही कारण है कि साहित्यकारों की आत्मकथाओं में भी देशज प्रभाव अवश्य ही मिलता है।

बच्चन की आत्मकथा में अगर तथ्यों या विषय ज्ञान पर ध्यान न भी दें तो मात्र भाषा का परिष्कार देखकर ही लेखक के बहुपठित होने का आभास हो जाता है। जहाँ शुद्ध परिनिष्ठित हिन्दी के शब्द एवं वाक्य विन्यास लेखक के हिन्दी ज्ञान के परिचायक हैं, वहीं बीच–बीच में अत्यंत प्रासंगिक एवं स्वाभाविक रूप से आई अंग्रेजी की उक्तियाँ उनके अंग्रेज़ी का विद्वान होने का परिचय भी कराती हैं। कहीं–कहीं हिन्दी–उर्दू का बेमेल जोड़ अवश्य ही अखरता है। यद्यपि लेखक उर्दू अज्ञान को स्वीकारता है – "कभी–कभी मुझे खेद होता है कि मैं उर्दू काफी नहीं जानता।"[1] पर फिर भी उर्दू का 'काफी' प्रयोग वह करता है। थकान को वे 'तकान'[2] लिखते हैं तो 'दवा' को 'दवा–दरमत'[3] कहीं–कहीं पूरी पंक्ति उर्दू में आते–आते अंत मे शुद्ध हिंदी पर उतर आती है – हर सूरत साक़ी की सूरत में परिवर्तित हो जाती।"[4] यहाँ उर्दू ही हिंदी में परिवर्तित हो गई है। 'अंगुश्तनुमाई'[5] और 'फर्जअदाई'[6] 'निर्दोष–नादानियत'[7] इत्यादि शब्द बीच में अस्वाभाविक लगते हैं।

इसी प्रकार बच्चन जी ने 'नीड़ का निर्माण' में एक अंग्रेज़ी का शब्द इस्तेमाल करने के लिये यद्यपि माफ़ी मांगी है – "क्षमा करेंगे एक अंग्रेज़ी का शब्द उपयोग करना चाहता हूँ।"[8] जबकि उनकी आत्मकथा के चारों खण्डों में अंग्रेज़ी के असंख्य शब्द एवं कहावतें मिल जाती हैं। साथ ही यह भी रोचक तथ्य है कि अवधी तथा इलाहाबाद की स्थानीय भाषा के शब्द भी बच्चन की भाषा में नीर–क्षीर के समान मिले हुए हैं। 'तिथ–त्योहार'[9] 'कोई पुछंता न मिला'[10] 'क्या लाफर लूट मची है'[11] जैसे देशज शब्दों–वाक्यों का बच्चन ने दिल खोलकर इस्तेमाल किया है। अंग्रेज़ी कहावतों के साथ ही अवधी की कहावतें भी प्रचुरता से मिलती हैं यथा – 'मूस मोटाई लोढ़ा होई।'[12]

---

1. क्या भूलूं क्या याद करूँ – बच्चन, पृ. 48
2. – वही – पृ. 280
3. – वही – पृ. 287
4. – वही – पृ. 287
5. दशद्वार से सोपान तक – बच्चन, पृ. 16
6. – वही – पृ. 54
7. – वही – पृ. 74
8. नीड़ का निर्माण – बच्चन, पृ. 154

9,10,11,12 क्या भूलूं क्या याद करूं – बच्चन, पृ. 287

बच्चन ने विदेश मंत्रालय में काम करते हुए वहाँ की वार्षिक रिपोर्ट के संबंध में जो नीति रखी थी वह अक्षरशः उनकी आत्मकथा पर भी सत्य उतरती है – "भाषा की शब्दराशि के संबंध में मैंने यह उदार नीति रखी कि वह संस्कृत, फारसी, अरबी, प्रांतीय भाषाओं, लोक बोलियों यहाँ तक कि अंग्रेज़ी से भी शब्द लेने में संकोच न करेगी।"[1] बच्चन की आत्मकथा में भी यह 'उदार नीति' काम करती दिखाई पड़ती है।

यह 'उदार नीति' कमोबेश सभी लेखकों ने अपनाई है क्योंकि भाषा का सौन्दर्य तथा समृद्धि इसी में है कि वह अनुदार हठधर्मिता को छोड़े।

जैसा कि हमने पूर्व में कहा है व्यक्ति का परिवेश एवं व्यक्तिगत रुचि दोनों ही भाषा पर प्रभाव डालते हैं इसीलिये हंसराज रहबर की भाषा में जहाँ विचारधारात्मक भारी–भरकम शब्द और उर्दू की शेरो–शायरी दोनों मिलती हैं वहीं वृंदावनलाल वर्मा में ऐसा नहीं है। रहबर जहाँ कामरेड, सर्वहारा, बुर्जुआ, पैटी बुर्जुआ जैसे शब्दों का बहुतायत से इस्तेमाल करते हैं वहीं 'तहफ़्फुज़'[2], 'तसल्सल'[3], 'दारुलख़िलाफा'[4] जैसे शब्दों का प्रयोग करने से भी नहीं कतराते। इस तरह इनकी भाषा का एक मिला–जुला स्वरूप सामने आता है। अंग्रेज़ी के शब्दों का इन्होंने कम प्रयोग किया है। कहावतें इनकी भाषा में भी स्वाभाविकता के साथ प्रयुक्त हुई हैं यथा – 'खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है'[5] या 'नया मुल्ला अल्ला–अल्ला ज़्यादा पुकारता है।'[6] वृन्दावनलाल वर्मा चूंकि भारतीय संस्कृति एवं जीवन मूल्यों से अधिक जुड़े हुए रचनाकार हैं अतः भाषा की अलंकारिकता पर वे अधिक ध्यान नहीं देते। अपनी भाषा के प्रति वे स्वयं लिखते हैं कि – "मैं अपनी बात साधारण पाठकों के पास पहुँचाना चाहता हूँ। संस्कृत लदी भाषा और घुमावदार लच्छों में मेरा विश्वास नहीं है। सिपाही की तलवार का लोहा सच्चा होना

---

1 दशद्वार से सोपान तक – बच्चन, पृ. 79
2 मेरे सात जन्म (भाग–4) – रहबर, पृ. 50
3 – वही – पृ. 50
4 – वही – पृ. 54
5 – वही – पृ. 150
6. – वही – पृ. 150

चाहिये और धार तेज़। तलवार का म्यान सादा।"[1] स्पष्ट है कि वृन्दावनलाल वर्मा जी कृत्रिम या अस्वाभाविक अलंकारिकता की बजाय सहज स्वाभाविक भाषा के ही पक्षधर हैं। अमृतलाल नागर जी की भाषा परिनिष्ठित, प्रांजल एवं साफ–सुथरी खड़ी बोली है। लखनऊ के निवासी होने पर भी नागर जी की भाषा में उर्दू का यर्तकिंचित भी अनावश्यक मिश्रण नहीं है। इन्होंने सामान्य खड़ी बोली का उपयोग किया है जिसमें कहीं–कहीं नागर जी अपनी विशिष्ट भाषा शैली में नए शब्द भी बना लेते हैं। जैसे 'हमारी पंद्रह मिनिटिया रेल यात्रा'[2] या 'पिकनिकिया कार्यक्रम'[3] इत्यादि ! मुहावरों का प्रयोग भी मिलता है जैसे 'पीर–बावर्ची भिश्ती–खर'[4] या 'छड़ी लगे छम–छम–विद्या आए धम–धम'[5] !

आचार्य नगेन्द्र की आत्मकथा 'अर्धकथा' भाषा के सन्दर्भ में सर्वथा अभिजात्यता का उदाहरण प्रस्तुत करती है। लेखक हिन्दी के मर्मज्ञ विद्वान, मनीषी हैं यह इनकी भाषा से तत्काल पता चल जाता है। इन्होंने पूर्णतः परिशुद्ध एवं साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग किया है – 'यह कालखण्ड असंख्य स्मृतियों का संचित कोष है। इस कालपात्र में राग–विराग, ईर्ष्या–द्वेष, स्वार्थ–परमार्थ, सद्भाव और क्षुद्रता, साहस और कायरता, विनय और दंभ के न जाने कितने अभिलेख अस्त–व्यस्त पड़े हैं"[6] डॉ. नगेन्द्र की भाषा के इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसी भाषा उन्होंने अपने इतिहासग्रंथ एवं काव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथों की रचना में उपयोग की है आत्मकथा में भी उनकी भाषा उस शास्त्रीयता से नीचे नहीं उतर सकी है। इसके विपरीत जहाँ तक दलित आत्मकथाकारों का प्रश्न है दलित आत्मकथाएं चूंकि उद्देश्य में ही अभिजात्यता से मुक्ति का संकल्प लिये हुए हैं अतः उनकी भाषा में औपचारिक अभिजात्यता का दूर–दूर तक समावेश नहीं मिलता हैं। 'जूठन' तथा 'अपने–अपने पिंजरे' दोनों ही आत्मकथाओं के लेखन में सामान्य बोलचाल की भाषा ही प्रयुक्त की गई है। जहाँ कहीं भी बातचीत दर्शाई गई है वहाँ भाषा

---

1 अपनी कहानी – वृंदावनलाल वर्मा, भूमिका
2. टुकड़े–टुकड़े दास्तान – अमृतलाल नागर, पृ. 73
3. – वही – पृ. 74
4. – वही – पृ. 73
5. – वही – पृ. 21
6. अर्धकथा – डॉ. नगेन्द्र, पृ. 170

पात्रानुकूल हो गई है। इसी से इनकी भाषा में कुछ वर्जित व असंस्कृत शब्दों का भी समावेश हो गया है। गालियाँ भी इनमें पात्रों के मुँह से सुनने को मिलती हैं। किंतु वे प्रसंगानुकूल होने से आरोपित या अप्रत्याशित नहीं प्रतीत होती हैं। व्यवस्था के प्रति आक्रोशमयी अभिव्यक्ति होने के कारण इन आत्मकथाओं में भाषा कहीं–कहीं अतिवादी हो गई है। किंतु 'जूठन' की भाषा 'अपने–अपने पिंजरे' से कहीं अधिक संयत है। गालियों, अपशब्दों या घृणित घटनाओं का वर्णन 'जूठन' में वहीं किया गया है जहाँ वे अपरिहार्य हैं अथवा प्रसंगानुकूल हैं जबकि 'अपने–अपने पिंजरे' में लगता है जैसे लेखक 'रण्डियों', 'भड़वों' या 'लौंडे' जैसे शब्दों का अभ्यस्त है जबकि समाज में यह शब्दावली उतनी प्रचलित नहीं है अतः प्रसंगानुकूल नहीं प्रतीत होती है तथा स्वाभाविकता की जगह जुगुप्सा पैदा करती है। एक अन्य दलित आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' भाषा के स्तर पर अत्यंत संतुलित है इसमें न तो अति साहित्यिक कुलीन शब्दावली भरने का प्रयत्न किया गया न ही व्यर्थ की गालियाँ मिलती हैं। गालियों का प्रयोग जहाँ एक ओर परिवेश को तथा पात्र की स्थिति को जीवंत बनाता है वहीं उनका अतिरेक कृति की भाषागत श्रेष्ठता को आघात भी पहुँचाता है। साहित्य में समाज का चित्रण उद्देश्यपूर्ण एवं सांकेतिक होता है, इसीलिये बिंब, प्रतीक या अलंकार भाषा में महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं क्योंकि इनके सफल प्रयोग से लेखक प्रकृतवाद से बच सकता है तथा विशेषतः आत्मकथा लेखन जैसी उद्देश्यपूर्ण विधा में भाषा का संतुलन बनाए रख सकता है। 'अपने–अपने पिंजरे' में अपशब्दों का प्रयोग जहाँ पात्रों–चरित्रों के मुँह से होता वहाँ वह स्वाभाविक हैं किंतु स्वयं लेखक की भाषा में अपशब्दों की भरमार कुण्ठित मनोवृत्ति को दर्शाती है तथा निरुद्देश्य है। जैसे 'रण्डियाँ अपनी सुतनियाँ संभालते हुए भीतर के कमरों में चली जाती थीं।'[1] या 'ताई माँ ने भी एक नामर्द को जन्मा था।'[2] या 'हमारी जात के और लोग लुगाई भी वहीं बैठकर पेट भरते थे।'[3] जहाँ लेखक पुस्तक का आरंभ काव्यमयी भाषा से करता है। 'शहर बहुत बड़ा न था। पर बड़ी थी उसकी बात परम्परा और संस्कृति। बड़ा था जिसका इतिहास समय–समय पर लोग जिसका गौरवगान किया करते थे। नेताओं के भाषण में

---

1. अपने–अपने पिंजरे – मोहनदास नेमिशराय, पृ. 21
2. – वही – पृ. 24
3. – वही – पृ. 26

अकसर इसी शहर की बखानगी होती थी।'[1] उसी लेखक की भाषा का विकृत रूप अखरता है।

महिलाओं की आत्मकथाओं में जहाँ 'बूंद बावड़ी' की भाषा में उर्दू शब्दों की बहुलता है वहीं 'जो कहा नहीं गया' में अंग्रेजी शब्दों की ! चित्रमयी भाषा का प्रयोग पद्मा सचदेव की लेखन शैली की विशेषता है। हिंदी और उर्दू के सम्मिश्रण से माहौल का एक चित्र इन्होंने ऐसे खींचा है – "धूमिल सा आसमां। बेरंग, बेनूर और उदास। कोई पक्षी नहीं उड़ रहा था। कोई पतंग नहीं डोल रही थी न ही बादलों के रंग असंख्य मूर्तियाँ बनाते हुए आ जा रहे थे। रात में तारों की मौजूदगी का कोई निशान बाकी न था। ठहरे हुए समुद्र या कैनवस पर मृत पड़ा कोई फीका सा चित्र।'[2] यहाँ यह भाषाई मिश्रण सुन्दर बन पड़ा है किंतु वही कहीं–कहीं पर यह खिचड़ी भी बन जाता है – "पिताजी बाज़ौक और दृढ़ निश्चय वाले व्यक्ति थे।"[3] 'बाज़ौक' के साथ 'दृढ़ निश्चय' शब्द की संगति नहीं बैठ पाती है। पर लेखिका की भाषा लापरवाह नदी सी चंचलता से बही जाती है उसके प्रवाह में ठहराव नहीं आता। कहीं 'भरवा करेलों की महक संध्याओं को लज़ीज़ कर जाती है'[4], तो कहीं 'काले बुरके से उसके गोरे चेहरे की रश्मियाँ मचल'[5] जाती हैं।

जम्मू प्रांत की स्थानीय भाषा के शब्द एवं मुहावरे भी पद्मा सचदेव ने बहुतायत में प्रयोग किये हैं। एक ओर इन प्रयोगों से जहाँ आंचलिकता झलकती है वहीं लेखिका की लोक सम्पृक्ति भी पता चलती है। डोगरी लोकगीतों को भी लेखिका ने बीच–बीच में प्रसंगवश दिया है।

चिट्टे चौल बटौदी दे ते मिट्ठी दाड़वां पीड़े दा।
केह हाल तेरे दुखै सुखै दा केह हाल तेरिये पीड़े दा।।[6]

---

1. अपने–अपने पिंजरे – मोहनदास नेमिशराय पृ. 9
2. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 7
3. – वही – पृ. 43
4. – वही – पृ. 46
5. – वही – पृ. 43
6. – वही – पृ. 49

अपनी मज़ाहिया शैली में वे मीठी चुस्की लेते हुए कई बार व्यंजना से बहुत गहरी बात भी कह जाती है जैसे – 'इन दिनों गुलकारी ख़ूब फैशन में थी – वो भी बंटवारे की भेंट चढ़ गई'[1] या अपने जन्म पर दादी की नाराजगी को वे लिखती हैं – 'दुनिया में अपनी आमद पर ऐसे जोरदार स्वागत की गाथा सुनकर मुझे आज भी हंसी आती है।'[2] भाषा में प्रवहमानता का गुण पाठक को कृति से जोड़े रखता है। वहीं कुसुम अंसल में भाषा की प्रवहमानता नहीं मिलती है। इसमें स्थानीय शब्दों का अभाव तथा अंग्रेजी शब्दों की प्रचुरता मिलती है। कहीं–कहीं हिन्दी शब्दों के साथ उनके अंग्रेज़ी पर्याय भी रोमन लिपि में दे दिये गए हैं जैसे – "बिना सोचे अपने बड़ों का आधिपत्य या dominance बर्दाश्त करते हैं और वही मजबूरी हमें उनकी अधीनता या dependence से बांधकर कब्रिस्तान तक पहुँचाती है।"[3] कहीं–कहीं ये पर्याय देवनागरी में ही लिखे गए हैं – 'उनके और मेरे बीच एक 'रिसेप्टिविटी' एक ग्राहकता निर्मित हो रही थी।'[4] इन अंग्रेज़ी पर्यायों की उपस्थिति भाषा की प्रभावान्विति को नष्ट करती हैं ऐसे उदाहरण कुसुम अंसल की पुस्तक में बीसियों जगह हैं। 'कालेजी सा लड़का' जैसा अटपटा प्रयोग भी मिलता है। भाषा में सहजता नहीं है तथा स्थानीय रंग भी नहीं मिलता है। वहीं कृष्णा अग्निहोत्री की भाषा साहित्यिक होने पर भी बातचीत का स्थानीय मुलम्मा लिये हुए है। जैसे – "हाथ पैर का मनई भर हो।"[5] या 'बड़नक्को बेटी'[6] अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग इनकी भाषा में भी मिलता है – 'हिन्दी अध्यापक के लिये पी.एस.सी. फेस करने की शर्त उस प्रपत्र में नहीं थी, डेट ऑफ जॉयनिंग से सीनीयरटी मिलती थी।'[7] या 'मैंने स्टालमेंट पर एक सीलिंग फैन ख़रीदा था।'[8] या 'उन्होंने मेरे पिता को प्रवोक किया।'[9] किंतु अंग्रेज़ी शब्दों

---

1. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 37
2. – वही – पृ. 37
3. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 45
4. – वही – पृ. 43
5. लगता नहीं दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 78
6. – वही – पृ. 79
7. – वही – पृ. 191
8. – वही – पृ. 199
9. – वही – पृ. 72

की बहुतायत इनमें नहीं मिलती है। कहीं–कहीं भाषा अटपटी अवश्य हो गई है – जैसे 'प्रवेशते'[1] या अप्रचलित कहावत का प्रयोग किया गया है जैसे – 'ब्राह्मण व हाथी एक दूसरे को नहीं देख सकते।'[2] भाषा के स्तर पर वांछित ऊँचाईयों को न छूने के बावजूद 'लगता नहीं है दिल मेरा' में सम्प्रेषणीयता अखण्ड रूप से बनी रहती है।

इन उदाहरणों से हम देखते हैं कि – आत्मकथा साहित्य में भाषा के विकास की परम्परा है। भाषा यहाँ सदैव कथाकार के अनुरूप ही नहीं रही है वरन् उसमें समयानुसार परिवर्तन, परिनिष्ठित बिम्ब योजना का निर्वाह, संवेदनशीलता तथा सूक्ष्म अर्थवत्ता आदि शक्तियों में वृद्धि हुई है।

प्रत्येक रचना पर रचनाकार के व्यक्तित्व की छाप रहती है। इसी कारण प्रत्येक की भाषा शैली में विविध रूपों के दर्शन होते हैं। प्रत्येक रचनाकार का अपना स्वतन्त्र शब्द चयन, वाक्य–विन्यास, भाषा–सौन्दर्य और चिंतन विवेचन होता है जिससे उसके शिल्प में विविधता आती है। बच्चन की भाषा अमृतलाल नागर से सर्वथा भिन्न है। गोपाल प्रसाद व्यास की भाषा में हास्य का पुट स्वाभाविक रूप से आ गया है तो दलित रचनाकारों तक आते–आते भाषा शैली में अनेक विशेषताओं का समावेश हो गया।

आज भाषा का शब्द–भण्डार एवं अभिव्यंजना शक्ति काफी समृद्ध है। भाषा की बुनावट, टैक्सचर, बिम्ब, सांकेतिकता, विन्यास बदल गये हैं।

आत्मकथाकार खड़ीबोली के साथ–साथ प्रान्तीय बोलियों के शब्दों का प्रयोग भी अपनी रचना में सजीवता, अलंकारिता सूक्ष्म अभिव्यंजना लाने के लिए करते हैं। साथ ही विदेशी जैसे – फारसी, तुर्की, अंग्रेजी के शब्द भी हिन्दी लिखते–लिखते कथा में स्वाभाविकता लाने के लिए आ जाते है। इन प्रयोगों से कथा में गत्यात्मकता आ जाती है। इन शब्दों को कहीं तत्सम रूप में अपना लिया गया है तो कहीं उनमें कुछ परिवर्तन कर साहित्य में स्थान दिया गया है।

---

1. लगता नहीं है दिलमेरा – कृष्णा अग्निहोत्री पृ. 72
2. – वही – पृ. 74

कथ्य में मनोरंजकता लाने के लिए ऐसे शब्दों का भी प्रयोग मिल जाता है। जिससे भाषा में ध्वन्यात्मकता उत्पन्न होती है। पाठक का ध्यान आकृष्ट करने के लिए नाटकीयता की सृष्टि भी रचनाकार कर देता है।

कहीं–कहीं लेखक भाषा को अधिक अलंकारिक , कवित्वपूर्ण, कलात्मक, लालित्य से आवृत्त करने का प्रयास करता है। कविता के क्षेत्र में यह प्रयास समीचीन है किंतु आत्मकथा जैसी सत्याश्रित विधा में यह प्रयास कथ्य की सत्यता को खण्डित कर सकता है। आंचलिक लोकगीत, मुहावरे व लोकोक्तियों का प्रयोग पाठक को लेखक के और निकट ले आता है। लोकभाषा के शब्दों का उपयोग वातावरण को सजीव बना देता है। इससे स्थानीयता का रंग तो आता ही है। लोक भाषा का सुन्दर रूप भी सामने आता है।

नीतिसूत्र, संदेश वाक्य–जीवन के गहन अनुभवों को व्यक्त करते हैं। भाषा में स्वाभाविक रूप से आ जाने वाले मुहावरे – लोकोक्तियाँ, भाषा और भाव दोनों को समृद्ध करते हैं।

आज के गतिपूर्ण जीवन में भाषा में सांकेतिकता का भी महत्त्व है अतः बिंब–प्रतीक या लक्षणा, व्यंजना का प्रयोग भी महत्त्व रहता है। विविध लेखकों का भाषागत वैशिष्ट्य आत्मकथा में उनके व्यक्तित्व प्रकाशन में अत्यंत सहायक सिद्ध हुआ है।

"बस्ती में ज़्यादा घर मिट्टी के थे। कुछ घास–फूंस की झोपड़ियाँ भी थीं परंतु बहुत कम। जो थोड़े पैसे वाले थे उनके मकान ईंट के बने थे। मिट्टी के घरों पर खपरैल थे।"[1]

या "जोहड़ी का रूप एक बड़े गड्ढे के समान था, जिसके एक ओर तगाओं के पक्के मकानों की ऊंची दीवारें थीं। जिनसे समकोण बनाती हुई झींवरों के दो–तीन परिवारों के कच्चे मकानों की दीवारें थी। उसके बाद फिर तगाओं के मकान थे।"[2]

---

1. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 30
2. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 11

या "जगह–जगह कूड़े के ऊंचे–ऊंचे पहाड़ सरीखे ढेर थे। उन पर तेनसिंह, हिलेरी की तरह एवरेस्ट विजय करने की सनक में सूअर अपनी–अपनी थूथनी से कूड़े के ढ़ेरों को बिखेरते हुए लौट आते। नज़दीक ही गन्दी नाली में मक्खी, मच्छरों के साथ तैरती बीमारियां और उसी परिवेश से घिरी मिठाई की दुकानें जिन पर तेली की तरह चिक्कट कपड़ों में भिनभिनाती मक्खियां उड़ाते थुलथुले बदन संभाले हलवाई। दुकानों के नीचे दूध के जूठे कुल्हड़ों पर लड़ते–झगड़ते पगलाये कुत्ते।"[1]

इन दृश्यांकनों से पाठक को दलित बस्तियों का परिचय सहज ही मिल जाता है। इन दृश्यों में दलित संस्कृति की गंध है। प्रचलित शब्दों, मुहावरों से भी यही संस्कृति की गंध मिलती है जो उस समाज से गहराई से परिचय करवाती हैं। 'अपने अपने पिंजरे में' दलित जाति के लिये 'चूहड़ा' तथा मुसलमान व्यक्ति के लिये 'कटवा' शब्द का इस्तेमाल किया गया है। इनसे आंचलिकता झलकती हैं भूत–प्रेतों के क़िस्सों से भी बस्ती की सांस्कृतिक मान्यताएं प्रतिबिंबित होती हैं।

'अपने–अपने पिंजरे' में गुलामी की केंचुली (पृ. 71) परम्पराओं की दलदल 'अपने–अपने पिंजरे' (पृ. 140) प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। शीर्षक से अभिव्यक्त होता है कि सब अपने–अपने सामाजिक दायरों में बंधे हुए हैं, ये दायरे पिंजरे की भांति हैं जिन्हें तोड़ना आसान नहीं हे। इसी प्रकार 'जूठन' में जूठन भी प्रतीकात्मक रूप से उस अवशिष्ट और त्याज्य की तरफ इंगित करती है, जिसे उच्च वर्ग अपने लिये हेय समझता है तथा निम्न वर्ग जिससे जीवनयापन करता है। लेखक की माँ द्वारा 'जूठन' वापस फेंक दिये जाने पर वह स्वाभिमान का प्रतीक भी बन जाती है। 'दोहरा अभिशाप' का शीर्षक भी 'नारीत्व और दलित्व' दोनों के कष्टों से त्रस्त एक स्त्री के जीवन के लिये प्रतीक है जिसे अपनी दोनो ही भूमिकाओं में अभिशप्तता मिलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुतः आत्मकथाओं में बिंब और प्रतीक पाठक को चमत्कृत करने अथवा किसी प्रकार की अलंकारिकता की सृष्टि करने के उद्देश्य से नहीं सृजित किये जाते हैं बल्कि जीवन की परिस्थितियों, घटनाओं को अधिक संप्रेष्य बनाने

---

3. अपने–अपने पिंजरे – मोहनदास नैमिशराय, पृ. 10

के लिये प्रयुक्त होते हैं। स्थूल रूप से तो भाषा का प्रत्येक शब्द ही अपने–आप में किसी न किसी भावात्मक या दृश्यात्मक सत्य को निहित रखता है किंतु जब भाव, आकृति, गुण एवं वर्ग विशेष के साम्य के आधार पर किसी विशेष शब्द को उसी भावना, विशेषता अथवा वर्ग विशेष के गुणों को व्यंजित करने का संकेत अथवा प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया जाता है तब उस शब्द से अपने शाब्दिक अर्थ से इतर भी एक विशेष अर्थ की ध्वनि प्रस्फुटित होती है।

इसी प्रकार किसी स्थान या व्यक्ति के वर्णन में लेखक अपने हृदय में संचित अनुभूति को, उस अनुभूति की मानस–छवि को अपनी रचना में इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठक के मस्तिष्क पर भी उसकी छवि अंकित हो जाती है तथा उन शब्दों से प्राप्त अर्थ की अनुभूति तीव्र हो जाती है।

आत्मकथा में बिंबों और प्रतीकों का प्रयोग भाषा को और सजीव, संपुष्ट एवं संप्रेष्य बनाने में सहायक होता है।

वक्र एवं वैचित्र्यपूर्ण अभिव्यक्ति

साहित्य में वक्र या वैचित्र्यपूर्ण भाषा का अपना महत्त्व है। साधारण वार्ता या तथ्य को भी साहित्यिकता प्रदान करने के लिये रचनाकार वक्र उक्ति का सहारा लेता है। अपने कथन को स्पष्ट एवं रोचक बनाने के लिये वह वाक्य में वैचित्र्य उतपन्न करता है जिससे उसकी अमूर्त अनुभूति अधिक रोचक रूप में पाठक तक पहुंच सकती है। वक्रोक्ति का शब्दार्थ है – वक्र + उक्ति अर्थात टेढ़ा कथन या टेढ़ी उक्ति।

वक्रोक्ति का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि यह भारतीय काव्यशास्त्र में एक अलग सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठापित है।

इस सिद्धांत के प्रतिष्ठापक आचार्य कुंतक हैं। इन्होंने वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्य–भंगी–भणिति'[1] कहा है। वैदग्ध्य का अर्थ है निपुण कवि के काव्य निर्माण करने

---

1. वक्रोक्ति जीवितम – कुंतक, 1/10
(वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य – भंगी – भणिति रूच्यते)

का कौशल, भंगी का अर्थ है – चमत्कार, चारूता, शोभा और भणिति से तात्पर्य होता है वर्णन शैली।

इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ हुआ – काव्य कौशल से उत्पन्न चमत्कारपूर्ण वर्णन या कथन कुंतक ने वक्रोक्ति को विचित्र कथन भी कहा है। "विचित्रैवाभिधा वत्रेक्तिरित्युच्यते"[1]

इस प्रकार वक्रोक्ति शास्त्र में, लोक व्यवहार में प्रचलित शब्द के अभिधेय अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण विलक्षण या चिचित्र उक्ति भी है। कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। गद्य में भी भाषा में केवल अभिधा का अस्तित्व हो, लक्षणा व्यंजना का कोई स्थान न हो, ऐसा संभव नहीं है। गतिपूर्ण जीवन में मात्र इतिवृत्तात्मकता या अभिधेय वर्णन से शिल्प सुगठित नहीं हो सकता अतः संकेतात्मकता या प्रतीकात्मकता श्रेष्ठ अभिव्यक्ति के गुण माने जाते हैं। विभिन्न आत्मकथाओं में जहाँ इनका निर्वाह किया गया है वहाँ अभिव्यक्ति अधिक रोचक एवं पठनीय है तथा जहाँ इतिवृत्त आरंभ होता है वहाँ पठनीयता एवं प्रभावान्विति भंग होती है। आत्मकथाओं में हमें दोनों ही प्रकार के उदाहरण मिल जाते हैं। बच्चन जी ने पंत, निराला तथा महादेवी को एक नदी तथा उसके घाट बताया है। "इस साहित्यिक नदी के दो पुराने बड़े घाट थे, पंत और निराला – एक दूसरे से भिन्न ही नहीं एक दूसरे से ध्रुव विपरीत, महादेवी जी इन दोनों घाटों के बीच में एक पुल थीं।"[2] इसी प्रकार रहबर की भाषा भी कहीं–कहीं विचित्र भाव पैदा कर देती है ' "वह दिन समीप आ रहा है, जब संसार के कोने–कोने में हवन–यज्ञ हुआ करेंगे जार्ज पंचम के सिर पर चोटी होगी और ऊँ का झण्डा बरमिंघम पैलेस पर लहराएगा"[3] इन उद्धरणों को पढ़कर पाठक को अपनी बुद्धि के घोड़े दौड़ाने पड़ते हैं कि लेखक का मंतव्य क्या है।

अमृतलाल नागर की भाषा में भी उक्ति वैचित्र अपने स्वाभाविक अंदाज में मिल जाता है – "यह भी ज़रूरी नहीं था कि अगर वे आज मुझे फूंची, शिमंत या घोंघा वसंत

---

1. वक्रोक्ति जीवितम – कुंतक, 1/10
2. बसेरे से दूर – बच्चन, पृ. 167
3. मेरे सात जन्म – रहबर, पृ. 123

कह रहे हैं तो कल भी इसी नाम से पुकारें ... घोंचू फैल मचाता है, ओ फूंची जरा बेंत तो निकालो अलमारी से इसकी टॉप टिन्नक करवाऊँगा।"[1] इस प्रकार भी अटपटी शब्दावली अपने एक शिक्षक की यादों को सजीव करते हुए उन्होंने लिखी है। वस्तुतः यह शब्दावली उन्होंने छात्रों के प्रति शिक्षक का रवैया व्यक्त करने के लिये प्रयोग की है। वैचित्र्य की उद्‌भावना कभी कथानक की जटिल अभिव्यक्ति के लिये की जाती है तो कभी जटिल अनुभवों को पाठकों तक पहुँचाने के प्रयास में भाषा जटिल हो जाती है।

कुसुम अंसल की आत्मकथा में भाषा की ऐसी दुरूहता प्राप्त होती है – "मेरी अभिव्यक्ति के दो पहलू हैं या यों कहूँ विभाजित हो गई है आत्मा और शरीर जिनके माध्यम से एक भावोल्लासमयी उड़ान को स्थायी श्रद्धा में रूपान्तरित करने के प्रयास में जुटी हूँ। मेरी चेतना किसी क्षण अपने प्रति सजग होकर कभी कोई चुनाव करती है तो कभी कोई।"[2] इस सारे वर्णन से पाठक समझ नहीं पाता है कि भावोल्लास क्या है तथा आत्मा और शरीर का विभाजन क्या है। यद्यपि यह प्रयोग आत्मकथाओं में शिल्प के स्र पर नहीं भाषा के स्तर पर ही दिखाई देता है किंतु भाषा में भी दर्शन, मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण शास्त्र के भारी–भरकम शब्द अथवा सिद्धांत रखने से अभिव्यक्ति दुरूह हो जाती है। डॉ. नगेन्द्र ने उक्ति वैचित्र्य को 'गोरखधंधा' कहा है। "लेखक एक ओर तो विज्ञान–दर्शन–मनोविज्ञान बाजार, गाँव, गली–कूचें सभी जगह से शबद एकत्र करता हुआ अपने शब्द भण्डार को व्यापक बनाता है, दूसरे शब्दों का विचित्र और सर्वथा अनर्गल प्रयोग करता है और तीसरे अपने अप्रस्तुत विधान को अत्यंत असाधारण रूप देने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त वह भाषा की व्यंजना और समास शक्ति पर भी इतना भार लादने की चेष्टा करता है कि वह अस्तव्यस्त हो जाती है और उनकी अर्थव्यंजना जवाब दे जाती है और उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के लिये भाषा के साधन अपर्याप्त ठहरने हैं, निदान उसे इतर साधनों की शरण लेनी पड़ती है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों, अंकों और सीधी तिरछी लकीरो, छोटे–बड़े टाइप, सीधे उल्टे अक्षरों, लोगों और स्थानों के नाम अधूरे वाक्यों की शरण लेनी पड़ती

---

1. टुकड़े–टुकड़े दास्तान – अमृतलाल नागर, पृ. 25
2. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 13

है या फिर वह विदेश के प्रभाववादी, मूर्तिवादी आदि प्रयोगों का जाने अनजाने में अनुकरण करता हुआ पाठक के सामने एक 'गोरखधंधा' उपस्थित कर देता है।"[1]

आत्मकथाओं के सन्दर्भ में उक्ति वैचित्र्य से हमारा तात्पर्य कथन के उस अनूठे ढंग से है जो कथन की ओर पाठक को आकर्षित करता है तथा कथ्य को प्रभावशील बना देता है। ऐसी उक्तियों में लक्षणा–व्यंजना का आश्रय लिया जाता है।

यथा 'बूंद बावड़ी' में पद्मा सचदेव लिखती हैं कि – "मौत की गुफा से निकल कर जब मनुष्य जी जाता है तब ये जानकर भी कितना दुख होता है कि हम मरने लगे थे।"[2] या अपनी एक बुआ की बुराई वे इन शब्दों में करती है कि उन्होंने अपना ननद का धर्म निबाहते हुए मेरी माँ की पिताजी से शिकायत कर दी।"[3] यहाँ 'ननद का धर्म' में व्यंग्य है जो ननदों के स्वभाव को इंगित करता है तथा पाठक में रस की अनुभूति होती है। किंतु कभी–कभी वक्रोक्ति से संप्रेषण गड़बड़ा भी जाता है जब कुसुम अंसल कहती है कि – "मैं किसी भी लेखक या कलाकार की मनःस्थिति को कितना समझ पाई पता नहीं। मेरी बुद्धिजीविता थी या मेरी विक्षिप्तता कौन किसका कारण थी, अत्यंत आदिम, अत्यंत विकसित समाज के ऐसा भौतिक नकार अवश्य ही में मेरे चेहरे पर सवालिया निशान लगा जाता होगा।"[4] तो पाठक को भाषा बोझिल प्रतीत होती है।

कृष्णा अग्निहोत्री अपनी आत्मकथा में सत्य पर अडिक रहने की अभिव्यक्ति कुछ इस प्रकार करती हैं 'मेरा बयान नंगा रहे ... एक दम ... प्राकृतिक ... साफ। अहसासों की परतें कुछ इस तरह उघड़ती जाएं कि उनकी बारीक रेखाऐं भी पढ़त से बाहर न रहें।"[5] बयान के प्राकृतिक रूप से नग्न रहने से आशय पाठक को उनके लेखन की सत्यता का विश्वास दिलाना है। इस प्रकार वक्रोक्ति पाठक को शब्दों के अथवा वाक्य विन्यास के विपरीत जाकर अर्थ देती है जिससे वह बात जो साधारण वार्ता से प्रकट नहीं होती है

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ – डॉ. नगेन्द्र, पृ. 119
2. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 16
3. – वही – पृ. 38
4. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 122
5. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 11

या सीधे–सीधे लिख देने से अभिव्यक्ति में जो शक्ति नहीं आ पाती है वह 'वक्र' रूप से विन्यस्त करने पर आ जाती है तथा तथ्य को साहित्यिकता प्रदान करती है। लेखक अपने कथन को सपाटबयानी से बचाने के लिये, उसे अधिक स्पष्ट एवं रोधक बनाने के लिये वक्रोक्ति का प्रयोग करता है जिसमें कभी–कभी भारी भरकम शब्दावली या अर्थ वैचित्र्य से कथन अस्पष्ट एवं दुरूह भी हो जाता है किंतु अगर इसका संतुलित रूप प्रयुक्त होता है तो पाठक को इसकी अनुभूति होती है।

इस प्रकार पद्य में ही नहीं गद्य में भी रचनाविधान प्रस्तुतिकरण की योजना, बिंबों, प्रतीकों का सार्थक प्रयोग तथा कथन की वक्रता भाषा को अधिक सामर्थ्य प्रदान करते हैं। लेखक की अनुभूति को पाठक तक रसपूर्ण रूप में संप्रेषित करते हैं एवं कथन को रोचकता प्रदान करते हैं। भाषा की साहित्यिक प्रौढ़ता–प्रांजलता में अभिव्यंजना के विभिन्न प्रसाधन अहम भूमिका निभाते हैं।

शैली

शैली का अर्थ है ढंग, रीति, प्रकार या प्रणाली। 'शैली' तत्व का अध्ययन संस्कृत काव्य शास्त्र में 'रीति संप्रदाय' के माध्यम से हुआ है। "अंग्रेज़ी में शैली का अर्थ है 'स्टाइल'। इसकी उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'स्टाइलस' अर्थात लेखनी से हुई है। किसी भी व्यक्ति के अक्षरों की बनावट को 'स्टाइल' कहा जाता था, अक्षरों की बनावट चूंकि भाव तथा अनुभूति से जुड़ी होती है इसलिये धीरे–धीरे 'स्टाइल' शब्द भावाभिव्यक्ति के माध्यम से व्यक्तित्व से जुड़ गया तथा 'स्टाइल' शब्द को व्यक्तित्व का पर्याय माना जाने लगा। इसी तरह यह मुहावना प्रचलन में आ गया कि – 'स्टाइल इज़ द मैन !' शैली ही व्यक्ति है।"[1]

प्रमाणिक हिन्दी कोश के अनुसार शैली शब्द का संबंध व्यक्ति के व्यक्तित्व की अपेक्षा रचना–कौशल की विशिष्टता से अधिक है इसके अनुसार शैली का अर्थ है – "चाल, रीति, प्रणाली, वाक्य रचना की विशिष्टता।"[2]

---

1. आत्मकथाकार बच्चन – डॉ. स्नेहलता शर्मा, पृ.151
2. प्रमाणिक हिंदी कोश – रामचंद्र वर्मा

अभिव्यंजना के विविध प्रसाधनों का उपयोग करने की रीति का ही नाम शैली हैं यदि शिल्प अभिव्यक्ति का साधन है तो शैली शिल्प का साधन है। कला पक्ष के अंतर्गत यह एक महत्त्वपूर्ण तत्व है।

अध्ययन की दृष्टि से 'शैली' के हम दो पक्ष कर सकते हैं –

(1) रूप विधान पक्ष
(2) भाषा पक्ष

विभिन्न आत्मकथाकारों की भाषा–शैली पर हम पूर्व में चर्चा कर चुके हैं अतः यहाँ हम रूप विधान की दृष्टि से आत्मकथाओं में 'शैली' तत्व का विश्लेषण करेंगे।

विभिन्न लेखकों की आत्मकथाएं पढ़ते हुए उनमें अलग–अलग शैली के अनेक प्रकार प्राप्त होते हैं यथा – वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, काव्यात्मक या औपन्यासिक शैली। कहीं बातचीत का पुट देती हुई वार्ता शैली मिलती है तो कहीं नाटकीयता का आभास कराती हुई नाटकीय शैली के दर्शन होते हैं।

अतः शैली की दृष्टि से आत्मकथाएं विविधता का सम्मिश्रण होती हैं। एक ही आत्मकथा मे कई–कई शैलियाँ भी मिल जाती हैं। कहीं सीधी–सादी विवरणात्मक शैली जीवन का विवरण मिलता है तो कहीं फ्लैशबैक (पूर्वदीप्त शैली) में लेखक अपनी भूली–बिसरी बातें याद करने बैठ जाता है।

हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा के चार वृहद भाग हैं, इसमें लेखक ने समग्र जीवन का चित्रण किया है। वृहदता एवं लंबे कालखण्ड में फैली होने के कारण इसमें कई शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं। आत्मकथा के प्रथम खण्ड (क्या भूलूं क्या याद करूँ) में ही किसी पुरानी इतिहासकथा के समान आरंभ कर अपने मूल क्षेत्र का, जाति वंश–गोत्र का, जाति के अन्य लोगों का लंबा–चौड़ा परिचय विवरणात्मक शैली में दिया है। बाद में भी उन्होंने अपने अध्ययन का रोज़गार का, विवाह इत्यादि का विवरण दिया है किंतु यहाँ शैली किंचित परिवर्तित है। विवरणात्मक होने पर भी उसमें जीवन के विश्लेषण की दृष्टि भी निहित है। कहीं–कहीं घटनाओं पर चिंतन भी किया गया है। अपने 'शैली' संबंधी विचार

उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किये हैं – "थोरो से किसी ने पूछा, शैली क्या है ? उसने कहा बंदूक का घोड़ा दबाना। पर घोड़ा दबाना तभी प्रभावशाली सार्थक हो सकता है जब बंदूक भरी हो और नली निशाने पर सधी। मेरा तो लक्ष्य यही रहा है कि मेरी बंदूक भरी हो ... शायद मैंने अपने काव्य जीवन भर यही किया भी है यह और बात है कि कभी मेरी बंदूक में थ्रो–सेवन–फाइव की गोली रही हो, कभी थ्री–नॉट–थ्री की, कभी छर्रे हों और शायद कभी सूखी या गीली बारूद भी रही हो !"[1] अपनी 'शैली' के बारे में यह लिखकर लेखक यह स्पष्ट कर देता है कि सर्वदा एक ही शैली अपनाना संभव नहीं है। बच्चन की सम्पूर्ण आत्मकथा में विवरणात्मक, विश्लेषणात्मक शैली साथ–साथ चलती रही है। धाराप्रवाह होना इनकी शैली की एक अन्य विशेषता है, जिससे पठनीयता खण्डित नही हो, लेखक का मूल 'कविरूप' भी इस आत्मकथा में बराबर जाग्रत रहा है आत्मकथा के बीच–बीच में आई पद्यात्मक पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं –

"मैं गाऊँ तो मेरा कण्ठ स्वर
दबे न औरों के स्वर से
मैं जीऊँ तो मेरे जीवन की हो
सबसे अलग रवानी।"[2]

व्यक्तित्व से प्रभावित होना शैली की विशेषता भी है और विवशता भी। व्यक्ति के चिंतन–मनन, विचारधारा शैली में सहज ही प्रतिबिंबित हो उठते हैं। हंसराज रहबर की जीवन कहानी पर विचारधारा का गहरा प्रभाव इसका प्रमाण है। रहबर चूंकि मूलतः कम्युनिस्ट हैं अतः उनकी आत्मकथा में विचारधारा ही प्रमुख रही है एवं प्रत्येक घटना का वर्णन उन्होंने उसी दृष्टि से किया हैं इसमें तथ्यात्मक शैली अपनाई गई है। वैचारिक विरोधियों के प्रति लेखक ने आक्रामक शैली का भी इस्तेमाल किया है – 'माकपा के नेतृत्व का अवसरवादी चेहरा स्पष्ट रूप से सामने आया इसमें पार्टी के भीतर जो असंतोष फैला, उसका विस्फोट नक्सलबाड़ी में हुआ। ... कांग्रेस को अपदस्थ करके संदिव की जो

---

1. क्या भूलूं क्या याद करूँ – बच्चन, पृ. 270
2. बसेरे से दूर – बच्चन, पृ. 162

सरकारें बनी थी उन्होंने जनहित का कोई काम करने की बजाय आया राम – गया राम की फसल उगाई।'[1]

वृहद् आत्मकथाओं में विश्लेषणात्मक या वर्णनात्मक, विवरणात्मक शैली अपनाई जा सकती है। किंतु अधिकतर लेखकों की आत्मकथाएं एक ही खण्ड में प्रकाशित हुई हैं अतः उनमें विवरणात्मक शैली का उपयोग न करे संस्मरणात्मक शैली ही प्रयुक्त की गई है। अमृतलाल नागर, इस्मत चुग़ताई, नगेन्द्र, कमलादास, डॉ. देवराज उपाध्याय या गोपाल प्रसाद व्यास इत्यादि की आत्मकथाओं का मूल कलेवर संस्मरणों पर आधारित है। अपनी आत्मकथा को इन आत्मकथाकारों ने पृथक–पृथक संस्मरणत्मक निबंधों में बांटा है। अमृतलाल नागर अपनी आत्मकथा को 'दास्तानों का संकलन'[2] कहते हैं। इसमें सैंतीस दास्तानें संकलित हैं जिनमें आपस में कोई सूत्र नहीं है। डॉ. नगेन्द्र तथा डॉ. देवराज उपाध्याय की आत्मकथाएं 'अर्धकथा' तथा 'यौवन के द्वार पर' तीन–तीन खण्डों में विभक्त हैं। डॉ. नगेन्द्र अपनी आत्मकथा के आरंभ में ही यह घोषणा कर देते हैं कि 'यह मेरे जीवन का अर्धसत्य मात्र है, पूर्ण सत्य नहीं'[3] तथा 'व्यक्ति खण्ड, 'शैक्षिक जीवन' और 'साहित्ययात्रा' शीर्षक से जीवन घटना क्रम का मात्र स्थूल विवरण ही प्रस्तुत करते हैं। यह आत्मकथा वस्तुनिष्ठ शैली में लिखी गई है।

डॉ. देवराज ने 'चलचित्र और स्मृतियाँ', 'जवानी की राह पर' तथा 'क्वचिदन्यतोऽपि' शीर्षक के तीन निबंधो में आत्मकथा को बांटा है। इनकी शैली में बहुत सी असम्बद्ध बातें होते हुए भी प्रवहमानता का गुण है। "मैं चला हूँ अपनी बात कहने पर देखता हूँ कि बात होती जाती है दूसरों की। पर मैं अकेला तो हूँ नहीं। मेरे निर्माण में न जाने न कितनी असंख्य शक्तियों ने काम किया है और कर रही हैं और जब मैंने अतीत का चलचित्र खोला है तो ये बारी–बारी से चित्रपट पर आने के लिये बेताब हो रही हैं।"[3] बातचीत

---

1. मेरे सात जन्म (खण्ड–4) – हंसराज रहबर पृ. 115
2. टुकड़े–टुकड़े दास्तान – अमृतलाल नागर, भूमिका
3. यौवन के द्वार पर – डॉ. देवराज उपाध्याय, पृ. 95

वाली वार्ता शैली इस कृति का आकर्षण है, स्वयं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए विश्लेषणात्मक शैली भी लेखक ने कहीं कहीं अपनाई है।

(हास्य कवियों/लेखकों की मात्र दो आत्मकथाएं प्राप्त होती हैं। 1976 में प्रकाशित 'काका हाथरसी' की 'आत्मकथ्य' तथा 1994 में प्रकाशित गोपाल प्रसाद व्यास की आत्मकथा 'कहो व्यास कैसी कटी ?' काका हाथरसी की आत्मकथा मूलतः उन पर छपा अभिनन्दन ग्रंथ है जो कि चार सौ पचास पृष्ठों का है और इसके आरंभ में काकाजी का संक्षिप्त आत्मकथ्य दिया हुआ है।) हास्य कवि काका हाथरसी ने हास्य व्यंग्यपूर्ण शैली ही अपनाई है। (गोपाल प्रसाद व्यास की आत्मकथा छः सौ छिहत्तर (676) पृष्ठों का वृहद् ग्रंथ है) तो गोपाल प्रसाद व्यास ने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर लतीफाबाज़ी व व्यंग्यात्मक शैली में प्रकाश डाला है। समूची पुस्तक हास्य का पुट लिये हुए है, गंभीर तथा दुखमूलक प्रसंगों का भी लेखक चुटीली शैली में ही वर्णन करता है। अपनी आँखों की रोशनी चले जाने तथा श्रवण शक्ति क्षीण हो जाने पर लेखक का विचार है कि – "सोचता हूँ कि बहुत देख लिया, बहुत सुन लिया, अब आत्मा के दर्शन करो। बुरा मत देखो, बुरा मत सुनो का मंत्र स्वतः सिद्ध हो गया।"[1] 'मैं' शैली में लिखी गई इस आत्मकथा का शीर्षक भी लेखक की शैली को अभिव्यक्त करता है।

वृंदावनलाल वर्मा 'अपनी कहानी' का प्रारंभ भी कथात्मक शैली में करते हैं। कृति के आरंभ में उन्होंने बचपन की उस घटना का चित्रात्मक अंकन किया है जिसमें वे 'तांबे के दो मोटे पैसे' चुराकर सो गए थे तथा उन्हें सपने में अपनी माँ की मृत्यु दिखाई दी थी। यह घटना उनके अवचेतन में ऐसी बैठ जाती है कि हर ग़लत काम के साथ ही माँ का मृत चेहरा उनकी आँखों में घूम जाता था। इस घटना का कथात्मक चित्रण करके लेखक अपने संपूर्ण जीवन मूल्यों एवं आदर्शों पर प्रकाश डालता है। अपनी रचनाओं के विभिन्न पात्रों का परिचय लेखक ने इतिवृत्तात्मक शैली में दिया है।

शैली व्यक्तित्व का प्रकाशन करती है इसलिये दलित आत्मकथाओं में उद्देश्य के अनुरूप जहाँ दलित जीवन को विवरण प्रस्तुत करने में विवरणात्मक शैली मिलती है "हम

---

1. कहो ब्यास कैसी कटी – गोपाल प्रसाद व्यास, पृ. 233

लंबे समय से अपमान सहते अजन्मे, पर गुनहगार हम न थे। हम हारे हुए लोग थे जिन्हें आर्यों ने जीत कर हाशिये पर डाल दिया था हमरे पास अंग्रेज़ों के द्वारा दिये गए तमगे मेडल पुरस्कार न थे। हमारे पास था सिर्फ़ कड़वा अतीत और जख़्मी अनुभव।"[1] वही व्यवस्था के प्रति विद्रोह प्रकट करने में आक्रोशपूर्ण शैली तथा समाज की विसंगतियों का वर्णन करने में तथ्यपूर्ण शैली भी प्राप्त होती है – "जाति–पांति बनाने वाले का मुँह नोच लेने का मन करता है।"[2]

"जाति ही जहाँ मान–सम्मान और योग्यता का आधार हो, सामाजिक श्रेष्ठता के लिये महत्त्वपूर्ण कारक हो, वहाँ यह लड़ाई एक दिन में नहीं लड़ी जा सकती है।"[3]

महिलाओं की आत्मकथाओं में संवेदनात्मक वर्णन अधिक मिलते हैं। पद्मा सचदेव की आत्मकथा काव्यात्मक प्रवाह से युक्त है, चूंकि लेखिका मूलतः डोगरी भाषा की कवियित्री है अतः भाषा–शैली में काव्यात्मकता का गुण स्वतः ही आ गया है – "मेरी आशा को अब पंख लग गए थे। ये कोमल, मासूम और बीमार पांव मेरी ज़िंदगी का बोझ उठाने को तैयार थे। मैंने अपने कमज़ोर पावों को देखा और बड़े प्यार से उन्हें सहलाते हुए कहा – "जब तुम मेरी देह का बोझ उठाओगे तो मैं मेहंदी रचाकर पाजेब पहन कर चलूंगी।"[4]

यह आत्मकथा 'फ्लैश बैक' यानी पूर्वदीप्त शैली में लिखी गई है। इस शैली में पहले वर्तमान का वर्णन कर फिर भूतकाल का ज़िक्र किया जाता है तथा दोनों का संबंध सूत्र जोड़ा जाता है। भूमिका में ही लेखिका कहती है – "इस पड़ाव पर अगर घूमकर पीछे देखूँ तो वो सभी चेहरे याद आते हैं।"[5] अपने वर्तमान का उनतीस पृष्ठों तक वर्णन करने के बाद लेखका अपने बाल्यकाल पर ध्यान केन्द्रित करती हैं। 'फ्लैश बैक' अंदाज़ में वे लिखती हैं – "सोच रही हूँ पहले उस उम्र के लम्हें बांट लूँ फिर आगे

---

1. दोहरा अभिशाप – कौशल्या बैसंत्री, पृ. 47
2. अपने–अपने पिंजरे – मोहनदास नेमिशराय, पृ. 18
3. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि – पृ. 158
4. अपने–अपने पिंजरे – मोहनदास नेमिशराय, पृ. 18
5. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 141

बढें।"[1] इसके बाद लेखिका अपनी जीवन कथा को अपने ग्राम, माता–पिता तथा अपने जन्म से जोड़ती है।

कुसुम अंसल ने भी 'फ्लैश बैक' शैली को अपनाया है। प्रथम अध्याय के आरंभ में ही वे पीछे लौटने की चाह अभिव्यक्त करती हैं – "जीवन की राह पर चलते–चलते, पता नहीं क्यों एक अपावर्तन, पीछे लौटने की सी संवेदना, अनुभूतियों में सरसराने लगती है। ... मैं आज उसी पल के धुंधलके की चादर लपेटे बैठी हूँ, प्रयास में हूँ कि खोए हुए स्वरों की अनुगूंज कोरे काग़जों पर उतार सकूं।"[2] भूमिका में भी वे कहती हैं कि – "मेरे भीतर मेरी स्मृतियों के कुछ 'इंग्रेन्ड' पलों का टेप अब चल ही पड़ा है तो उसे रोकने की चेष्टा क्यों की जाए – लेट मी रीलिव।" जहाँ पद्मा सचदेव की आत्मकथा में एक लयात्मकता आद्योपांत मिलती है वहीं कुसुम अंसल की आत्मकथा में जीवनानुभूति की खण्ड–खण्ड अभिव्यक्ति मिलती है। अपना, परिवार या समाज का विश्लेषण करके मैं उबाऊ विश्लेषणात्मक शैली अपनाई है। कहीं–कहीं रचनात्कता पर दार्शनिकता भी छा गई है "जब भी दर्पण में अपने प्रतिबिंब से मेरा साक्षात्कार होता तो लगता, अपने आपको चेहरे को, नाम को किसी को भी तो पसंद कर पाने में असमर्थ सिद्ध हो रही हूँ। मेरी भौतिकता मुझे कुछ नए अनुभव दे रही थी। ... परंतु मनुष्य का Survival या उत्तरजीविता हाशिये तक रुकी एकमात्र अपनी समस्या है, वास्तविक नहीं। वास्तविक समस्या है अपूर्णता और मेरी अपूर्णता को तो पूर्ण नहीं किया जा सकता ... हाँ संशोधन के सहारे अपनी यथातथ्यता को जाना जा सकता है।"[3] दर्पण में अपनी छवि देखने का वर्णन करती हुई लेखिका किस पूर्ण–अपूर्ण के गुह्य रहस्य तक पहुँच गई पाठक समझ ही नहीं पाता।

लगता है लेखिका अपने ही भावजगत में डूब–उतरा रही है। पाठक तक उसका संप्रेषण नहीं हो पा रहा है। इनकी शैली के बारे में समीक्षक की राय है कि – "कुसुम अंसल आत्मकथा में निजी अनुभवों की शुष्कता को अनुभूति के रस से संसिक्त नहीं कर

---

1. बूंद बावड़ी – पद्मा सचदेव, पृ. 30
2. जो कहा नहीं गया – कुसुम अंसल, पृ. 17
3. – वही – पृ. 35

पाई हैं, तथ्य वर्णन अधिक है, चाहे वह वृन्दावन में कुंजबिहारी का मंदिर हो, अथवा गंगा का तट हर जगह दार्शनिक विवेचन और दार्शनिकों अथवा अन्य लेखकों के लंबे–लंबे उद्धरण इसके कथारस को बाधित करते हैं।"[1]

पाठकों से तादात्म्य स्थापित किये बिना लिखते चले जाने से निबंधात्मक शैली बन जाती है जो पठनीयता को खण्डित करती है। कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा बहुत सी वैचारिक विसंगतियों को लेकर भी इन मायनों में पठनीय है। लेखिका ने सहज सम्प्रेष्य शैली में अपने आपको अभिव्यक्त किया है – "खिलखिलाहट में गुज़रता बचपन, मिशन स्कूल में कक्षा दो तक की पढ़ाई। एक दृश्य ! सात वर्ष की मैं स्टेज पर कोई गीत गा रही थी कुछ ऐसे शब्द थे – गुलशन में ..... ताई जी सामने पंक्ति में बैठे सिहरा रहे थे उनके बगल में बैठे अतिथि को माला पहनाते समय मैं लड़खड़ाई ..... पिता जी ने उठकर कहा ..... कोई बात नहीं।"[2]

हालांकि पुस्तक के शीर्षक से ही ज़ाहिर होता है कि लेखिका परिवेश से उकता चुकी है, और इस उकताहट की अभिव्यक्ति उन्होंने अपने समकालीनों या परिचितो के प्रति रोष भरी शैली में ही है किंतु उनकी यह उकताहट भरी शैली भी भरपूर रोचक है एवं पाठक को उकताहट नहीं होने देती है। लेखिका ने अपने जीवन के बारे में खुलकर अभिव्यक्ति की है अतः पाठक की दिलचस्पी बनी रहती है।

स्मृति तत्व चूंकि आत्मकथा लेखन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कारक हैं अतः 'स्मृति' शैली भी आत्मकथाओं में देखने को मिलती है।

आत्मकथा चूंकि पूरे जीवन की कथा होती है अतएव दुख–सुख, उपलब्धि–अनउपलब्धि, सफलता–विफलता, बचपन–यौवन–वृद्धावस्था आदि की अनुभव विविधता के कारण एक ही आत्मकथा में विभिन्न शैलियों की प्राप्ति संभव है। इसी प्रकार एक ही व्यक्तित्व के दो पहलू भी होते हैं। अतः एक ही व्यक्तित्व की आत्मकथा में दो भिन्न–भिन्न प्रकार की शैलियाँ भी मिलती हैं। बच्चन ने तो अपनी आत्मकथा को 'कविता

---

1. हंस – मार्च 2000, संपा. राजेन्द्र यादव, आलेख अपने आईने में : आत्मकथाएं – निशा नाग
2. लगता नहीं है दिल मेरा – कृष्णा अग्निहोत्री, पृ. 20

संस्कारी' कहा ही है यानी कथात्मक के साथ–साथ काव्यात्मक शैली वे स्वयं ही स्वीकार करते हैं। हंसराज रहबर भी चूंकि साहित्यकार तथा पार्टी कार्यकर्ता दोनों थे अतः एक ओर उनकी भाषा में जहाँ साहित्यिक परिनिष्ठता झलकती है वहीं विचारधारामक गंभीर शैली भी।

'दोहरा अभिशाप' की लेखिका कौशल्या बैसंत्री ने जहाँ सामाजिक व्यवस्था की विसंगतियों के वर्णन में विवरणात्मक शैली अपनाई है वहीं उन विसंगतियों के कारण ढूंढते हुए विश्लेषणात्मक शैली भी प्राप्त होती है।

लेखक के अनुरूप ही शैली बदलती रहती है जहाँ साहित्यकारों की आत्मकथाओं में कलात्मक, परिनिष्ठित शैली के दर्शन होते हैं। नीरस प्रसंगों का भी रोचक प्रस्तुतिकरण मिल जाता है वहीं राजनेताओं, इतिहास निर्माताओं के लिये नीरस विवरण को अलंकृत बनाना दुष्कर कार्य होता है। वे अपने चिंतन को गंभीर शैली में ही अभिव्यक्त कर पाते हैं। किसी विशिष्ट आंदोलन, सम्प्रदाय, अभियान अथवा क्रांति से जुड़े व्यक्तियों की आत्मकथा में चूंकि क्षेत्र–विशेष के अनुभव रहते हैं अतः उसमें बौद्धिकतापूर्ण गांभीर्ययुक्त एवं एकरस शैली अनायास ही आ जाती है। जैसे धर्मेन्द्र गौड़ की आत्मकथा – 'मैं अंग्रेज़ों का जासूस था।' क्षेत्र विशेष के अनुभवों की कहानी है।

महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, बाबू राजेन्द्र प्रसाद इत्यादि महान नेताओं की आत्मकथा आत्मचित्रण और इतिहास चित्रण के मिश्रित दस्तावेज़ हैं, इसलिये इनमें विवरणात्मक, तथ्यात्मक एवं संस्मरणात्मक शैलियों का मिश्रण दिखाई देता है।

वस्तुतः शैली की आत्मकथा लेखन में भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि विशिष्ट शैली के कारण ही आत्मकथा में लेखक और पाठक के मध्य अंतरंग और आत्मीय संबंध बन पाता है। आत्मकथा पढ़कर पाठक लेखक से मुलाकात का अनुभव करता है क्योंकि यह 'मैं' शैली में लिखी जाती है। वही डायरी, संस्मरण या जीवन से वह तादात्म्य स्थापित नहीं हो पाता। चूंकि आत्मकथा मे लेखक का उद्देश्य अपने व्यक्तित्व की अभिव्यंजना करना रहता है अतः उसके द्वारा अपनाई गई शैली का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

विभिन्न आत्मकथाओ के शिल्प का विश्लेषण करने के उपरात यह तथ्य सहज ही स्पष्ट होता है कि आत्मकथा में जहाँ वस्तुगत सत्य आवश्यक होता है वहीं शिल्पगत सौन्दर्य भी। शिल्प भेद ही आत्मपरक विधाओं को संस्मरण, डायरी या रोजनामचा, आत्मकथ्य अथवा आत्मकथा की संज्ञा से अभिहित करता है। अतः साहित्य की अन्य विधाओं में जहाँ शिल्प के ज़रा से भी विचलन से विधा परिवर्तन की संभावनाएं कम होती हैं वहीं आत्मकथा लेखन में ये संभावनाएं बढ़ जाती हैं क्योंकि अन्य समानधर्मी विधाओ से आत्मकथा कथ्य के स्तर पर कम और शिल्प के स्तर पर अधिक पृथक्कृत होती है। शिल्प मे भाषा की संरचना उसका विन्यास जितना महत्त्वपूर्ण है, भाषा के प्रयोग में अपनाई गई शैली भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती है। हेनरी हैवलॉक एलिस ने आत्मकथा के सन्दर्भ में कहा है कि – "हर कलाकार अपनी ही आत्मकथा लिखता है, कुछ कलाकार आत्मकथा न लिखकर भी कलाकार रहते हैं और बहुत से 'आत्मकथा– लिखने के बावजूद "कलाकार नहीं हो पाते"[1] वह तत्त्व जो हर सृजन मे कलाकार के 'आत्म' का समावेश करता है अथवा आत्मकथा मे से भी आत्म का उच्छेद कर देता है वस्तुतः शैली ही है। संस्कृत मे प्रचलित एक बोधकथा में शैली का महत्त्व इस प्रकार दर्शाया गया है जब गुरू अपने शिष्यों को एक रूखा ठूंठ पत्र विहीन वृक्ष दिखा कर उसका वर्णन करने को कहते हैं तो एक शिष्य कहता है – "शुष्कं वृक्षं तिष्ठति अग्रे।" दूसरा कहा है – "शुष्कं काष्ठं तिष्ठति तत्र।" अधिकांश शिष्य इसी प्रकार उस शुष्क वृक्ष को शुष्क वृक्ष ही व्याख्यायित करते हैं। किंतु एक कवि हृदय शिष्य कहता है – 'निर्‌रस तरूरहि विलसति अग्रे'। अर्थात् वह वृक्ष जो कभी रस से भरा हुआ था, वह आज अपना रस खोकर, नीरस बन के वहाँ खड़ा है। "तात्पर्य यह कि एक ही दृश्य के प्रति अत्यंत संक्षिप्त वर्णन में भी शैली भिन्नता से शुष्कता या कलात्मकता पैदा की जा सकती है।"

यही बात भाषा के सन्दर्भ में भी सत्य है। उचित और प्रसंगानुकूल भाषा संप्रेषण में सहायक होती है। रोचक, चुटीली और प्रवहमान भाषा आत्मकथा से पाठको का तादात्म्य जोड़े रखती हैं आत्मकथा चूंकि दूसरे के जीवन की कथा है अतः निजी प्रसंगों के महत्त्व को पाठक को लेखक के स्तर से समझाने के लिये यह अत्यंत आवश्यक है।

---

1. औरत अस्तित्व और अस्मिता – अरविन्द जैन पृ. 125

भाषा तथा शैली उबाऊ न हो अन्यथा पाठक अपने से इतर कथा से जुड़ नहीं सकेगा। साथ ही आत्मकथा में प्रस्तुत योजना, प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, बिंब विधान, वक्र कथन इत्यादि का भी समुचित आवश्यकता होती है क्योंकि जीवन का यथातथ्य वर्णन आत्मकथा में कथात्मकता के साथ ही पठनीय होता है अन्यथा पाठक की इतिवृत्त आख्यान से रुचि भंग हो सकती है। पात्रों, घटनाओं से पाठक परिचित नहीं होता है, उनके परिचय में लेखक काल्पनिकता का आश्रय भी नहीं ले सकता अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि प्रतीकों, चित्रमयी भाषा या भाषा संकेतों के माध्यम से संक्षिप्त सारगर्भित एवं सौन्दर्यपूर्ण जीवन कहानी कहे अन्यथा वे घटनाएं भी जो उसके जीवन में अत्यंत असाधारण रही हों शैली के ग़लत प्रयोग से पाठक को अति साधारण एवं 'व्यर्थ का वर्णन'प्रतीत हो सकती हैं।

आत्मकथा साहित्य में शैली की एक विकास परम्परा मिलती है। जहाँ आदि आत्मकथाकार बनारसीदास जैन ने अपनी आत्मकथा पद्यात्मक शैली में दोहे–चौपाईयों में लिखी वहीं, भारतेंदु युग में भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, भाई परमानंद आदि ने वर्णनात्मक शैली में अपना परिचय लिखा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व की आत्मकथाओं तथा स्वातंत्र्योत्तर मिलने वाली आत्मकथाओं में युगानुरूप भाषा तथा शैली बदलती चली गई। 1969 में बच्चन ने अलंकृत, कलात्मक एवं संवेदनापूर्ण शैली में आत्मकथा लिखी जो कि आत्मकथा की विकासयात्रा में नवीन कीर्तिमान का प्रतीक बनी।

आज विभिन्न कथाकारों, कवियों, उपन्यासकारों द्वारा आत्मकथाएं लिखी जा रही हैं इन सभी की व्यक्तिगत भिन्नताओं के अनुरूप विभिन्न शैलियों की आत्मकथाएं हिन्दी साहित्य में आ रही हैं इनमें से कुछ में जीवन का समग्र चित्रण है तो कुछ आकार में वृहद् होते हुए भी संस्मरणों का संकलन मात्र ही है। शिल्प का भेद आत्मकथा का मर्म बदल सकता है अतः श्रेष्ठ आत्मकथाकार के लिये जितना इस बात का महत्त्व है कि वह ऐतिहासिक सत्य के समान अपने जीवन का प्रमाणिक वर्णन करें उतना ही यह भी आवश्यक है कि वह उचित शिल्प का प्रयोग करें अथवा उसका जीवन वर्णन डायरी हो

सकता है। इतिहास हो सकता है, वह उसका बायोडाटा तथा उसके परिवार की वंशावलि भी समझा जा सकता है। आत्मकथा नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज आत्मकथा ने अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं जिनमें चिंतन तथा कथ्य इत्यादि के साथ ही शिल्प का भी अपना विशिष्ट स्थान है। शिल्प के माध्यम से ही आत्मकथा साहित्य का सजीव एवं सक्रिय अग है।

प्रत्येक रचनाकार की एक शैली या रचनाविधि होती है जिससे वह सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक सभी प्रकार की अवधारणाओं की छाप रचना पर छोड़ता है। आत्मकथा में लेखक और पाठक के बीच जो अंतरंगता और आत्मीयता स्थापित हो पाती है उसका कारण शैली ही है। आत्मकथा एक ऐसी विधा है जिसे उत्तम पुरुष, एक वचन में प्रस्तुत किया जाता है यह लेखक का निजी दस्तावेज़ है इसलिये इसमें लेखक के देशज संस्कार, उसकी विचारधारा, उसकी वर्गीय चेतना उसका दृष्टिकोण सभी कुछ अपनी विशिष्टता से उभर कर आते हैं। इसीलिये कहा भी जाता है कि शैली ही व्यक्ति है। जिस प्रकार किसी परिचित व्यक्ति को हम अंधकार में भी मात्र शरीराकृति या हिलने–डुलने के ढंग से पहचान लेते हैं उसी प्रकार किसी भी लेखक के शब्द–चयन वाक्य संयोजन, भाषागत वैशिष्ट्य एवं रचनागठन को देखकर यह अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है कि यह रचना अमुख साहित्यकार की है।

इस प्रकार भाषा–शैली व्यक्ति के समूचे रचनाकर्म का पता देती है।

आत्मकथा के विकासक्रम में हमें शिल्पगत विकासक्रम का स्पष्ट ही पता चलता है जहाँ बनारसीदास जैन ने पद्यात्मक शैली में अपनी आत्मकथा छंदबद्ध की थी वही आधुनिक युग में प्राप्त होने आत्मकथाएं युगानुरूप प्रभाव से गद्य में मिलती हैं। भाषा भी लेखकों के कार्यक्षेत्र, रुचि इत्यादि के अनुसार परिवर्तित होती रही हैं। आज आत्मकथा में निर्धारित शिल्पगत सीमा नहीं है। जीवन की सूक्ष्म एवं गहन अनुभूति, जीवन संघर्ष जटिल भाव बोध ने उन पुरानी शिल्पगत मान्यताओं घटनाओं की प्रधानता, चरित्र चित्रण का प्रभुत्व अलंकारिक एवं चमत्कृत कर देने वाली भाषा आदि को उतार फेंका है। अभिव्यंजना के विविध प्रसाधनों को नवीन जीवन दृष्टि ने नवीन रूप में स्वीकार किया

है। परम्परागत तरीक़े से शिल्प की कृत्रिमता अब अरुचिकर हो गई है। अतः परम्परागत बिम्ब विधान या प्रतीकों का अब स्वरूप बदल गया है। डायरी शैली, फ्लैश बैक शैली या औपन्यासिक शैली से कथावस्तु का संप्रेषण कहीं अधिक सुगम हो गया है। जीवन की कथा को सार्थक सम्प्रेषणीयता देने के लिये अब लेखक शिल्प के प्रति कहीं अधिक सजग एवं सचेत है। आत्मकथा में शिल्पगत उपलब्धि का एक विशिष्ट महत्त्व है।

उपसंहार

उपसंहार

हिन्दी आत्मकथा लेखन में साहित्यकारों की आत्मकथाओं के समकालीन परिदृश्य का अवलोकन करने के पश्चात बहुत से ऐसे तथ्य सामने आए हैं जो यह स्थापित करते हैं कि अपने शिल्पगत एवं स्वरूपगत वैशिष्ट्य के कारण आत्मकथा लेखक के जीवन का रसात्मक इतिहास मात्र नहीं होती बल्कि उसमें युगीन परिदृश्य भी एक स्पष्ट रूप आकार लेने में सक्षम होता है।

एक श्रेष्ठ आत्मकथाकार सामाजिक प्रतिबद्धता को भी समझता है। अतएव वह आत्मोद्घाटन की प्रक्रिया में अपने जीवन के केवल उन्हीं प्रसंगों का वर्णन करता है जो न केवल उसके लिये बल्कि सामाजिक दृष्टि में भी महत्त्वपूर्ण होते हैं, इस तरह आत्मकथा समाज और साहित्य दोनों के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करती है।

अन्य आत्मपरक विधाओं से आत्मकथा कहीं अधिक सुस्पष्ट एवं प्रमाणिक होती है। इसीलिये यह जीवनी, संस्मरण, डायरी या यात्रावृत्तांत आदि आत्मपरक विधाओं से श्रेष्ठ भी होती है।

यद्यपि जीवन का समग्रता से चित्रण जीवनी में ही संभव है क्योंकि आत्मकथा जीवन की समाप्ति से पूर्व लिखी जाती है। अतः बहुत संभव होता है कि उसमें जीवन की कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं या उपलब्धियाँ दर्ज़ होने से रह जाएं, जबकि जीवनी दूसरे के द्वारा लिखी जाने के कारण जीवन की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं (मृत्यु सहित) को अपने में समेट लेती है। फिर भी जीवनी में घटनाओं की प्रमाणिकता सदैव संदिग्ध ही रहती है, क्योंकि उन पर कर्त्ता एवं भोक्ता की स्वीकृति की मुहर नहीं होती है। जीवनी लेखक जीवन की सतही बातों का ही वर्णन कर सकता है, अंतरंग प्रसंगों का नहीं एवं ऐसे वर्णन का उसे अधिकार भी नहीं होता है।

संस्मरण या यात्रावृत्तांत, शिकार कथा, जेल कथा इत्यादि जीवन की खण्डशः अभिव्यक्तियां हैं। इनमें न विस्तार होता है न समग्रता ये जीवन कथा का एक या दो पृष्ठ

हो सकते हैं, संपूर्ण कथा नहीं। यही बात डायरी के सन्दर्भ में भी सत्य है। दिनांक के साथ प्रमाणप्रभूत जानकारी उपलब्ध करवाने पर भी डायरी जीवन का विश्लेषण नहीं करती है। वह आत्मकथा लेखन में बेहतर सामग्री तो बन सकती है जीवनकथा नहीं। आत्मकथात्मक उपन्यास चूंकि कल्पना और इतिहास का मिश्रण होते हैं ऐसे में पाठक को यह निर्णय करना मुश्किल हो जाता है कि वह किस घटना को सत्य समझे, किसे काल्पनिक। लेखक के जीवन से प्रेरणा लेने में भी इसी शंका के कारण दुविधा में रहता है जिन घटनाओं से लेखक का व्यक्तित्व उच्च सिद्ध होता हो वे उसकी कल्पनाशीलता का प्रमाण भी हो सकती हैं। अतः वस्तु और शिल्प के स्तर पर कितनी ही श्रेष्ठता लिये होने पर भी आत्मकथात्मक उपन्यास आत्मकथा के समकक्ष नहीं हो सकते। पत्र लेखन या पत्र–पत्रिकाओं में रचना के साथ या अलग से प्रकाशित होने वाले आत्मकथ्य भी लेखक के व्यक्तित्व का हल्का सा परिचय मात्र करवाते हैं। अतः अन्य आत्मपरक विधाएं आत्मकथा के समान प्रतीत होने पर भी समकक्ष नहीं हो सकतीं। क्योंकि उनका उद्देश्य साहित्य के माध्यम से अपना विश्लेषण, निरीक्षण, परीक्षण करना नहीं होता है। साहित्य की अन्य विधाएं भले ही निरुद्देश्य लिखी जा सकती हों किंतु आत्मकथा एक ऐसी विधा है जो कभी भी निरुद्देश्य नहीं लिखी जा सकती। वस्तुतः अपने जीवन से दूसरों को अवगत कराने की इच्छा का प्रस्फुटन होते ही सामाजिक उद्देश्य आरंभ हो जाता है। एक तो लेखक अपने जीवन से दूसरों को प्रेरणा देना चाहता हो अथवा वह अपने संबंध में फैली हुई कुछ भ्रांतियों को दूर करना चाहता हो अथवा यश–प्रतिष्ठा एवं धनार्जन ही उसके उद्देश्य रहे हों, कहने का आशय यह कि आत्मकथा लेखन समाज सापेक्ष होता है तथा उसका विषय 'लेखक' होता है। स्पष्ट है कि आत्मकथा सिर्फ आत्मप्रदर्शन की कला मात्र नहीं है यह आत्म निरीक्षण, आत्म, परीक्षण और आत्मविश्लेषण का बेहतर अध्ययन भी हैं इसे आत्मआविष्कार भी कह सकते हैं।

हिन्दी साहित्य में आत्मकथा उपेक्षित विधाओं में से एक है क्योंकि भारतीय परम्परा में आरंभ से ही 'स्व' का प्रकाशन, प्रदर्शन बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है तथा इसे परनिंदा से भी निकृष्ट माना जाता रहा है। यही कारण है कि ईश्वर या आश्रयदाता की स्तुति में उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना करने वाले रचनाकार उनमें स्वयं अपने

बारे में बहुत कम लिखते रहे या कई बार तो नामोल्लेख भी नहीं करते हैं। आत्म निषेध की इस भावना ने हिन्दी साहित्य से आत्मकथा के बीज ही लुप्त कर दिये। अतएव आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल श्रेष्ठ कालजयी रचनाओं से समृद्ध होने पर भी आत्मकथा साहित्य से रहित मिलते हैं।

इन स्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए 1641 ई. लिखित बनारसीदास जैन की आत्मकथा अपने आप में अद्‌भुत साहसी प्रयास प्रतीत होती है। इसका महत्त्व न सिर्फ़ इसलिये है कि यह हिन्दी साहित्य की प्रथम आत्मकथा है बल्कि यह इसलिये भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें लेखक ने बिना किसी प्रकार की सामाजिक परवाह किये अपने व्यक्तित्व का निर्भीक एवं निष्पक्ष चित्रण किया है। आजतक भी यह आत्मकथा लेखन के क्षेत्र में आदर्श आत्मकथा का प्रतिमान है।

'अर्धकथानक' के बाद 1879 ई. में महर्षि दयानंद सरस्वती की आत्मकथा प्राप्त होती है। इससे पूर्व तुर्की–फारसी में तो बाबर, जहाँगीर, मीर–तकी–मीर आदि के जीवन–चरित्र प्राप्त होते हैं किंतु हिंदी में नहीं। साथ ही यह भी संभव है कि इस बीच अगर कोई आत्मकथा लिखी गई हो तो वह हमें प्राप्त नहीं होती है, किंतु उस काल के मिलने वाले अन्य साहित्य में भी किसी जीवन चरित के लिखे जाने के उल्लेख नहीं मिलते हैं। अतः संभवतः 'अर्धकथानक' के बाद हिन्दी में दो सौ अड़तीस वर्षों तक आत्मकथा नहीं लिखी गई। सन् 1879 ई. में आई स्वामी दयानंद सरस्वती की आत्मकथा हिन्दी की दूसरी लिखित तथा प्रथम प्रकाशित आत्मकथा है।

भारतेंदु युग तथा द्विवेदी युग में चूंकि शिक्षा–दीक्षा और विज्ञान के बढ़ते प्रभाव से हिन्दी साहित्य में यथार्थपरक लेखन की प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी। अतः आत्मकथा लेखन ने भी गति पकड़ी। भारतेंदु हरिश्चंद, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि ने आत्मकथा लिखी। ये संक्षिप्त तथा अपूर्ण आत्मकथाएं आत्मकथा लेखन के बीज कण कहे जा सकते हैं। सन् 1901 ई. में अंबिकादत्त व्यास ने छप्पन पृष्ठीय 'निजवृत्तांत' लिखा। स्वामी श्रद्धानंद (कल्याण मार्ग का पथिक), सत्यानंद अग्निहोत्री (मुझमें देव जीवन का विकास), भाई परमानंद (आपबीती), रामप्रसाद बिस्मिल (आत्मकथा) इत्यादि की आत्मकथाएं इसी युग में आईं।

1932 ई. में प्रेमचंद द्वारा संपादित 'हंस' का जनवरी–फरवरी संयुक्त अंक आत्मकथा विशेषांक के रूप में निकाल कर लेखकों की झिझक तोड़ने का उल्लेखनीय कार्य किया। उनके इस प्रभाव को यद्यपि विरोध के स्वर भी झेलने पड़े पर उसके बाद तो आत्मकथा लेखन के क्षेत्र में मानो बाढ़ ही आ गई। विरोध होने पर भी इस विधा में लिखने वालों के लिये प्रेरणा स्रोत रहा।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (आत्मकथा), राहुल सांकृत्यायन (मेरा जीवन वृत्तांत), यशपाल (सिंहावलोकन), देवेन्द्र सत्यार्थी (चांद सूरज के बीरन), वियोगी हरि (मेरा जीवन प्रवाह), सेठ गोविंददास (आत्मनिरीक्षण), पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी (मेरी अपनी कथा) आदि की आत्मकथाएं प्रसिद्ध हैं। परिणामतः हिन्दी का आत्मकथा साहित्य संख्यात्मक एवं गुणात्मक दोनों दृष्टियों से दिनों–दिन सम्पन्न होता गया।

मौलिक के साथ ही अनूदित आत्मकथाओं की भी हिन्दी में कमी नहीं रही। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी, शचीन्द्र नाथ सान्याल, जोश मलीहाबादी, इस्मत चुगताई, अमृता प्रीतम, अजीत कौर, हंसा वाडेकर इत्यादि की आत्मकथाएं आज हिन्दी साहित्य की निधि हैं।

इस शोध प्रबंध में सन् 1969 से 1999 तक की कालावधि में प्रकाशित आत्मकथाओं में से प्रतिनिधि आत्मकथाओं का चयन किया गया है। इनमें बच्चन (चार भागों में प्रकाशित) हंसराज रहबर (चार भाग), अमृतलाल नागर (टुकड़े–टुकड़े दास्तान), नगेन्द्र (अर्धकथा), गोपाल प्रसाद व्यास (कहो व्यास कैसी कटी), मोहनदास नेमिषराय (अपने–अपने पिंजरे) तथा ओमप्रकाश वाल्मीकि (जूठन) की आत्मकथाएं शामिल हैं। साथ ही हमने कुसुम अंसल (जो कहा नहीं गया), कृष्णा अग्निहोत्री (लगता नहीं है दिल मेरा), पद्मा सचदेव (बूंद बावड़ी) तथा कौशल्या बैसंत्री (दोहरा अभिशाप) की आत्मकथाएं भी इसमें शामिल की हैं।

चयन का आधार कवि, उपन्यासकार, ऐतिहासिक उपन्यासकार, मनोवैज्ञानिक लेखक, शिक्षाविद् सभी की आत्मकथाओं को प्रतिनिधि तौर पर शामिल करना रहा है।

नब्बे के दशक में दलित तथा महिला लेखन का प्रभाव साहित्य जगत में विशेष रूप से पड़ा। अन्य विधाओं के साथ–साथ अब दलित वर्ग एवं महिला वर्ग ने आत्मकथाएं भी लिखीं ! चूंकि ये प्रयास बहुत कम साहित्यकारों द्वारा किये गए) अतः हमने अभी तक उपलब्ध समस्त प्रकाशित आत्मकथाकारों को सम्मिलित किया है। इनमें दो दलित आत्मकथाएं हैं – मोहनदास नेमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' तथा ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन'। महिलाओं द्वारा रचित आत्मकथाएं ली गई हैं। उल्लेखनीय है कि इन महिला आत्मकथाकारों में चारों लेखिकाएं भिन्न–भिन्न प्रदेशों तथा भिन्न–भिन्न वर्गों से हैं। इनमें उ.प्र. की कुसुम अंसल अति धनाढ्य वर्ग से हैं, तो महाराष्ट्र की कौशल्या बैसंत्री दलित तथा निम्न वर्ग की प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार जम्मू की पद्मा सचदेव मूलतः कवियित्री हैं तो म.प्र. की कृष्णा अग्निहोत्री कथाकार हैं। इन आत्मकथाओं का हमने 'जीवन संघर्ष,' 'दुनिया और साहित्यिक दुनिया का द्वन्द' तथा 'ज्ञापन और गोपन' तीन शीर्षकों से विवेचन–विश्लेषण किया है। इन तीन स्तरों पर हमने लेखक के व्यक्तिगत जीवन, उसके साहित्यिक जीवन तथा आत्मकथा में उसके जीवनानुभव की अभिव्यक्ति के स्वरूप का मूल्यांकन करने का प्रयास किया है।

इन आत्मकथाओं में एक रोचक तथ्य यह भी है कि इनके शीर्षक से ही लेखक के जीवनानुभव प्रतिबिंबित हो जाते हैं। 'क्या भूलूं क्या याद करूं' में बच्चन जी जहाँ अतीत का, बचपन का, किशोरवय की घटनाओं का स्मरण करते हैं, जिनमें कुछ खेद जनक, कुछ शोक जनक घटनाएं शामिल हैं अतः लेखक द्वन्द में है कि क्या भूला जाए क्या लिखा जाएं, वहीं 'नीड़ का निर्माण फिर' में दोबारा शादी का वर्णन है। 'बसेरे से दूर' में विदेश प्रवास का प्रसंग है तो 'दशद्वार से सोपान तक' में इलाहाबाद के मकान 'दशद्वार' को छोड़कर आने तथा दिल्ली में 'सोपान' नामक मकान बनवाने तक की कालावधि एवं मकानों से जुड़े प्रसंगों का वर्णन है।

हंसराज रहबर की आत्मकथा के चारों भागों का शीर्षक 'मेरे सात जन्म' है। क्योंकि लेखक अपने संपूर्ण जीवन में सात बार पुनर्जन्म का वर्णन करता है, जोकि क्रमशः घटित होते हैं। इन्हीं सातों जन्मों की व्याख्या इस पुस्तक में है अमृतलाल नागर की आत्मकथा में वे सैंतीस प्रसंग संकलित हैं जो आकाशवाणी वगैरह से हुई मांग पर लेखक

ने भिन्न–भिन्न समय में लिखे हैं, अतः यह निश्चय ही 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' है। गोपाल प्रसाद व्यास अपनी चुटीली शैली में मानो स्वयं से पूछते हैं – 'कहो व्यास कैसी कटी' ? और जीवन की विभिन्न घटनाओं को स्मरण कर उन पर प्रसन्नता अथवा खेद व्यक्त करते चलते हैं।

नगेन्द्र आत्मकथा का शीर्षक देते हैं – 'अर्धकथा' तथा साथ ही भूमिका में ही स्पष्ट भी कर देते हैं कि पाठक इस आत्मकथा से जीवन की अंतरंग जानकारी की आशा न रखें, यह मात्र जीवन के आधे स्वरूप की कथा है। वृन्दावन लाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार होने के नाते जीवन का इतिहास इतिवृत्तात्मक शैली में 'अपनी कहानी' शीर्षक से सुनाते हैं तो डॉ. देवराज उपाध्याय मनोवैज्ञानिक होने के नाते 'यौवन के द्वार पर' में मात्र यौवन की चिंताओं, महत्वकांक्षाओं और समस्याओं का ही मनौवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं।

दलित आत्मकथाओं में 'अपने–अपने पिंजरे' (मोहनदास नेमिशराय) में 'पिंजरे' अपनी–अपनी मान्यताओं, रीतिरिवाज़ों के बंधन के प्रतीक के रूप में है तो 'जूठन' (ओमप्रकाश वाल्मीकि) में 'जूठन' बचपन में जूठन को लेकर हुए अपमान की एक ग्रंथि के रूप में रचनाकार के अवचेतन पर प्रभावशील है।

महिला आत्मकथाकारों में कुसुम अंसल कहती हैं कि – 'जो कहा नहीं गया' वह आत्मकथा में कह दिया। पद्मा सचदेव 'समष्टि' को बावड़ी तथा 'व्यष्टि' को बूंद बनाकर एक बूंद में बावड़ी भर लेने की इच्छा जताती है। कृष्णा अग्निहोत्री अपने जीवन में मिले संघर्षों, प्रतिकूल परिस्थितियों से उकताहट व्यक्त करती है तथा आत्मकथा का अंत ही इन शब्दों में करती है – 'लगता नहीं है दिल मेरा'। इसी प्रकार कौशल्या बैसंत्री अपने जीवन को 'दोहरा अभिशाप' मानते हुए अपने दलित रूप एवं नारीत्व दोनों को ही अभिशप्त करार देती है।

इन आत्मकथाओं में कुछ आत्मकथाऐं ऐसी भी हैं जो आत्मकथा के निकष पर खरी नहीं उतरती हैं। अमृतलाल नागर ने अपनी आत्मकथा 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान' में जीवन के विविध प्रसंगों के वर्णन सैंतीस संस्मरणों में दिये हैं, जिनमें एकसूत्रता की कमी

अखरती है। यही बात डॉक्टर देवराज उपाध्याय की आत्मकथा 'यौवन के द्वार पर' के संबंध में भी कही जा सकती है, उसमें सिर्फ़ यौवन की महत्त्वकांक्षाओं, कुण्ठाओं का ही चित्रण है, जीवन का समग्र अवलोकन नहीं।

डॉ. नगेन्द्र की आत्मकथा 'अर्धकथा' शीर्षक के अनुरूप ही उनके जीवन के आधे पक्ष को दर्शाती हैं।

गोपाल प्रसाद व्यास की आत्मकथा 'कहो व्यास कैसी कटी' चूंकि हास्य व्यंग्य प्रधान शैली की एकमात्र प्रतिनिधि कृति है। अतः अपना महत्त्व तो रखती, है किंतु छह सौ सड़सठ पृष्ठों में अपना जीवन वर्णन समेटने के उपरांत भी लेखक इसमें जीवन कथा का समग्र विवरण नहीं दे पाया है। जबकि बच्चन तथा हंसराज रहबर की आत्मकथाओं में जन्म से लेकर शिक्षा–दीक्षा, व्यवसाय इत्यादि का समग्रता से विवरण मिलता है।

दलित लेखकों मोहनदास नेमिशराय (अपने–अपने पिंजरे) तथा ओमप्रकाश वाल्मीकि (जूठन) की आत्मकथाएं दलित चेतना आंदोलन में प्रकाश स्तंभ की तरह कार्य करती हैं, किंतु 'अपने–अपने पिंजरे' में दलित समाज का ही चित्रण प्रमुख हो गया है, स्वयं लेखक का चित्रण कम है।

महिलाओं की आत्मकथाओं में कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' (सन् 1996) इसलिये ऐतिहासिक महत्त्व भी रखती है कि क्योंकि यह किसी भी महिला की हिन्दी में प्रकाशित प्रथम आत्मकथा है। इसमें लेखिका की वह मानसिक दुविधा दिखाई गई है जो उसे एक 'धनाढ्य महिला' होने के नाते अपना 'लेखिका' रूप स्थापित करने में झेलनी पड़ी है। इसमें जीवन का विश्लेषण आंशिक तौर पर है।

पद्मा सचदेव की आत्मकथा 'बूंद बावड़ी' फ्लैश बैक शैली में लिखी काव्यात्मक प्रवाह से ओत–प्रोत पुस्तक है। इसमें भी लेखिका ने अपना विश्लेषण नहीं किया है। लता मंगेशकर के वर्णन को अनावश्यक विस्तार देना (लगभग सौ पृष्ठ) पाठक को अखर जाता है।

कृष्णा अग्निहोत्री आत्मकथा (लगता नहीं है दिल मेरा) लिखने में अतिवादिता का

शिकार हो गई है। महिला लेखन के नाम पर अपनी व्यक्तिगत चिंताएं, व्यक्तित्व विश्लेषण की जगह सौन्दर्य विश्लेषण तथा व्यष्टि–समष्टि संबंधों की जगह स्त्री–पुरुष संबंधों की विवेचना इस पुस्तक का प्रतिपाद्य है।

इन तीनों स्थापित लेखिकाओं से कहीं अधिक अर्थपूर्ण आत्मकथा उस स्त्री की है जो न तो स्वयं को 'लेखिका' मानती है न ही 'साहित्यिक' (पृ. 8, दोहरा अभिशाप)। कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में स्त्री जीवन तथा दलित जीवन दोनों के संघर्ष मुखरित हुए हैं। दोनों ही रूपों में झेली गई यंत्रणा, संत्रास एवं अभिशाप का लेखिका ने वर्णन किया है तथा अपनी समस्या को व्यक्तिगत न मानते हुए उन समस्याओं का सामाजिक कारण भी ढूंढने की कोशिश की है, जो व्यवस्था में विषमता पैदा करती है।

बच्चन तथा हंसराज रहबर की आत्मकथाएं जीवन को समग्र दृष्टिकोण से विश्लेषित करने के कारण महत्त्वपूर्ण मानी गई है किंतु एक स्पष्ट अंतर दोनों को भावजगत के स्तर पर पृथक्कृत करता है, वह है बच्चन की आत्मकथा का 'कविता संस्कारी' (पृ. 7 बसेरे से दूर) होना, जबकि हंसराज रहबर की आत्मकथा का कम्युनिज़्म की विचारधारा में पगा होना।

बच्चन की आत्मकथा ने लोकप्रियता के उच्च शिखर को छुआ है। यह जीवन की सतही घटनाओं का संकलन मात्र नहीं है, बल्कि इसमें वस्तु के स्तर पर घटनाएं, क्रमानुसार सुव्यवस्थित एवं प्रभावोत्पादक बन पड़ी हैं। सभी समीक्षकों ने इसे हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ आत्मकथा स्वीकार किया है।

किंतु एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि आत्म तत्व प्रधान रचना होने के बावजूद बच्चन की आत्मकथा में भी अन्य आत्मकथाओं की तरह आत्मविश्लेषण का अभाव है। लेखक इसमें जीवन के कमज़ोर क्षणों की आत्मस्वीकृति तो करता है पर आत्मनिरीक्षण या आत्मविश्लेषण नहीं।

बच्चन की आत्मकथा ने यद्यपि निस्संदेह आधुनिक हिंदी साहित्य में आत्मकथा विधा को लोकप्रियता प्रदान की है, किंतु बच्चन द्वारा यशपाल की पत्नी एवं क्रांतिकारी

महिला प्रकाशवती पर लगाए गए आरोपों ने हिंदी साहित्य में यह चर्चा भी छेड़ दी है कि क्या आत्मकथाकार को अपने से इतर दूसरे व्यक्तियों के चरित्र पर इस प्रकार टिप्पणी करने का अधिकार है ? प्रकाशवती ने अपनी पुस्तक 'लाहौर से लखनऊ तक' में बच्चन के तमाम आरोपों का सप्रमाण खण्डन भी किया है। ऐसे में भाषा–शैली, शिल्प के स्तर पर बेहतर आत्मकथा होते हुए भी बच्चन की आत्मकथा में कथ्य तथा तथ्य की ईमानदारी पर प्रश्नचिन्ह लगना स्वाभाविक है।

इस प्रकार परम्परा के आलोक में इन आत्मकथाओं का अनुशीलन करने पर यह पता चलता है कि हिंदी का आत्मकथा साहित्य आरम्भ में भले ही उच्च कोटि का ना रहा हो किंतु उसमें विषय, भाषा, शैली, शिल्प सभी आज विविधता तथा स्तरीयता लिये हुए हैं। शिल्प के स्तर पर भी जहां प्रथम आत्मकथा 'अर्धकथानक' पद्यात्मक शैली में लिखी गई थी वहीं अब पद्यात्मक आत्मकथा प्रचलन में नहीं है। अब काव्यात्मक, इतिहास शैली मे, औपन्यासिक रूप लिये या हास्यव्यंग्य प्रधान सभी शैलियों की आत्मकथाएं मिलती हैं। दलित आत्मकथाओं का प्रणयन जहां सामाजिक संचेतना का द्योतक है वहीं समाज के अध्ययन में भी सहायक है।

महिला आत्मकथा लेखन से महिलाओं द्वारा अब अप्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति को छोड़कर प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति को माध्यम अपनाने की सूचना मिलती है। यह बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का संकेत है।

आज साहित्यकारों से लेकर नेता, अभिनेता, पुलिस अफसर सभी आत्मकथा लिख रहे हैं। यह एक शुभ संकेत है।

अपने वैविध्यमय स्वरूप में ये आत्मकथाएं न केवल साहित्य भण्डार में वृद्धि करती हैं बल्कि भारत का सामाजिक इतिहास लिखने में भी महत्त्वपूर्ण सामग्री बन सकती हैं। शिल्प की दृष्टि से इनमें कथा, संस्मरण तथा इतिहास का सम्मिलित रूप मिलता है और पढ़ने में ये उपन्यास का सा आनंद देती हैं।

हम आशा करते हैं कि भविष्य में रचनात्मकता की दृष्टि से और भी बेहतर

आत्मकथाएं आएंगी। उन पर विभिन्न कोणों से शोध होगा। अभी भी अपने क्षेत्र विशेष में विशिष्ट व्यक्ति ही आत्मकथाएं लिख रहे हैं। सामान्य जन की प्रतिष्ठा इसमें होनी बाकी है। यह झिझक खत्म होगी तो संख्यात्मक एवं गुणात्मक दृष्टि से आत्मकथा साहित्य में और वृद्धि होगी तब निश्चय ही समीक्षकों, विचारकों, आलोचकों का ध्यान भी इस पर जाएगा। आत्मकथा कोश प्रकाशित होंगे। हिन्दी आत्मकथा साहित्य की विश्व के रचनात्मक साहित्य में गणना होगी।

– अस्तु !

परिशिष्ट

मूलस्रोत

1.	अंसल कुसुम	जो कहा नहीं गया राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1996
2.	अग्निहोत्री कृष्णा	लगता नहीं है दिल मेरा इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 1998
3.	डॉ. देवराज उपाध्याय	यौवन के द्वार पर सौभाग्य प्रकाशक, उदयपुर, 1970
4.	नगेन्द्र	अर्द्धकथा नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1988
5.	नागर अमृतलाल	टुकड़े–टुकड़े दास्तान राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1986
6.	नेमिशराय मोहनदास	अपने–अपने पिंजरे वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1995
7.	बच्चन हरिवंशराय	क्या भूलूँ क्या याद करूं राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1969
8.	बच्चन हरिवंशराय	नीड़ का निर्माण फिर राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1970
9.	बच्चन हरिवंशराय	बसेरे से दूर राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1977
10.	बच्चन हरिवंशराय	दशद्वार से सोपान तक राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1977

11.	बैसन्त्री कौशल्या	दोहरा अभिशाप परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 1999
12.	रहबर हंसराज	मेरे सात जन्म, भाग–1, 1985 वाणी प्रका - दिल्ली
13.	रहबर हंसराज	मेरे सात जन्म, भाग–2, 1987 "
14.	रहबर हंसराज	मेरे सात जन्म, भाग–3, 1990 "
15.	रहबर हंसराज	मेरे सात जन्म, भाग–4, 1991 "
16.	व्यास गोपाल प्रसाद	कहो व्यास कैसी कटी नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23, दरियागंज, दिल्ली, 1994
17.	वर्मा वृंदावनलाल	अपनी कहानी मयूर प्रकाशन, प्रा.लि., दतिया, मध्यप्रदेश, 1999
18.	वाल्मीकि ओमप्रकाश	जूठन राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1997
19.	सचदेव पद्मा	बूंद बावड़ी वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

सन्दर्भ ग्रन्थ

अग्रवाल विनीता – हिन्दी आत्मकथाएँ : सिद्धांत एवं स्वरूप विश्लेषण
सचिन प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

अग्रवाल साधना – वर्तमान हिन्दी महिला कथालेखन और दाम्पत्य जीवन
वाणी प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 1995

अनामिका – स्त्रीत्व का मानचित्र
सारांश प्रकाशन, मयूर विहार फेज–1, दिल्ली,
प्रथम संस्करण 1999

कबीर – कबीर ग्रन्थावली
सम्पा. राजकिशोर शर्मा, लोक भारती प्रकाशन,
इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 2002

कमलेश्वर – यादों के चिराग़
राजपाल एण्ड संस दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000

कार्ल मार्क्स – भारत सम्बन्धी लेख (अनु. ओमप्रकाश संगल)
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 1983

केलर हेलन – मेरी जीवन गाथा (अनु. द्वारकानाथ चतुर्वेदी)
ओरिएन्ट लौंगमन्स, आसफ अली रोड़ दिल्ली,
प्रथम प्रकाशन 1967

गांधी मोहनदास कर्मचंद – सत्य के मेरे प्रयोग (अनु. काशीनाथ त्रिवेदी)
नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, प्र.आवृत्ति 1957

गुप्त गणपतिचंद्र – हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक इतिहास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सप्तम् संस्करण 1999

गुप्त राधेश्याम – हिन्दी कहानी का शिल्प विधान
हिन्दी साहित्य संस्थान, अजमेर, 1977

गुप्ता रमणिका – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र
वाणी प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2000

गोरखपुरी फिराक़ – उर्दू साहित्य का इतिहास
उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वि.सं. 1979

चतुर्वेदी रामस्वरूप – हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, आठवां संस्करण 1998

चुग़ताई इस्मत – काग़ज़ी है पैरहन (लिप्यांतरण इफ़्तेख़ार अंजुम)
राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998

जैन अरविंद – औरत अस्तित्व और अस्मिता
सारांश प्रकाशन, मयूर विहार दिल्ली, प्र.सं. 2000

जैन बनारसीदास – अर्धकथानक
संपादक – माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद् प्रयाग,
प्र.सं. मार्च 1943 ई.

तुलसीदास – (1) कवितावली
गीता प्रेस, गोरखपुर, इकतालीसवां संस्करण
(2) रामचरित मानस (विनायकी टीका),
पं. विनायक राव, म.प्र. हिंदी साहित्य सम्मेलन

टालस्टाय लियो – मेरी मुक्ति की कहानी
(अनु. रामनाथ 'सुमन', परमेश्वरी दयाल विद्यार्थी)
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली, 2001

दास कमला – मेरी कहानी (अनु. सुदर्शन चोपड़ा)
सरस्वती विहार प्रकाशन, 21, दरियागंज दिल्ली,
प्रथम संस्करण 1977

दास श्यामसुंदर – मेरी आत्मकहानी
इण्डियन प्रेस, लि. प्रयाग, प्रथम संस्करण 1941

दिनेशराम – दलित मुक्ति का प्रश्न और दलित साहित्य
श्री साहित्यिक कला संस्थान लोनी बार्डर, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2002

द्विवेदी हज़ारीप्रसाद – कबीर
(i) राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छात्र प्रकाशन 1990
(ii) हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण, 1990

नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास 1993
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,

नगेन्द्र – समसामयिक हिंदी साहित्य
(सं. समिति, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. बच्चन, भारतभूषण अग्रवाल)
साहित्य अकादमी, नई दिल्ली

नसरीन तस्लीमा – औरत के हक में (अनु. मुनमुन सरकार)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999

नागार्जुन – नागार्जुन की श्रेष्ठ कविताएं
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, विद्यार्थी संस्करण, 1996

नायक डी.जी. – आर्ट ऑव ऑटोबायग्राफी
आरनोल्ड हनीमैन पब्लिशर, नई दिल्ली, 1981

निराला सूर्यकांत त्रिपाठी – निराला की आत्मकथा (प्रस्तोता – सूर्यप्रसाद दीक्षित)
भारती प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1970

नेहरू जवाहरलाल – मेरी कहानी (अनु. हरिभाऊ उपाध्याय)
सस्ता साहित्य मण्डल प्रका. दिल्ली, 13वाँ संस्करण, 1993

पाण्डेय मैनेजर – भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993

पाल प्रकाशवती – लाहौर से लखनऊ तक
विप्लव कार्यालय, 335–बी, महानगर लखनऊ, प्रथम संस्करण 1994

पास्कल राय – डिजाइन एण्ड ट्रुथ इन ऑटोबायग्राफी
कॉलिन्स क्लीयर टाइप प्रेस, लंदन एण्ड ग्लास्गो

पुष्पा मैत्रेयी – इदन्नमम्
परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1994

प्रसाद राजेन्द्र – आत्मकथा
सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 1962

प्रियंवदा उषा – पचपन खंभे लाल दीवारें
चेतना पब्लिकेशन, दिल्ली , 1962

प्रीतम अमृता – रसीदी टिकट
हिन्द पाकेट बुक्स
शाहदरा, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 1990

बाणभट्ट – हर्ष चरितम्
(हिंदी व्याख्याकार – पं. जगन्नाथ पाठक)
विद्या भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1972

बिस्मिल रामप्रसाद – आत्मकथा
संवाद प्रकाशन मेरठ, प्रथम संस्करण 2000

भटनागर प्रेम – हिंदी उर्दू उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य
अर्चना प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 1996

माता प्रसाद – झोपड़ी से राजभवन
नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002

मुकर्जी राधाकुमुद – अशोका
मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली, 1986

मुक्तिबोध – चाँद का मुँह टेढ़ा है
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पंचम संस्करण 1980

राजकिशोर – स्त्री के लिये जगह (संकलित)
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994

लिंबाले शरण कुमार – (1) दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र
(अनु. रमणिका गुप्ता)
वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2000

(2) अक्करमाशी (अनु. सूर्यनारायण रणसुभे)
ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, प्र.सं. 1991

लुधियानवी साहिर – तल्ख़ियाँ
पुस्तक महल, दिल्ली, 1991

वार्ष्णेय लक्ष्मी सागर – आधुनिक हिंदी साहित्य
हिंदी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय,
चतुर्थ संस्करण 1971

शर्मा मथुरालाल – तुज़ुके जहाँगीरी
राधा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000

शर्मा मथुरालाल – तुज़ुके बाबरी
राधा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000

शर्मा नासिरा – ख़ुदा की वापसी
भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली,
द्वितीय संस्करण 1999

शर्मा स्नेहलता – आत्मकथाकार बच्चन : काव्यात्मक मूल्यांकन
आर्य बुक डिपो, करोल बाग, दिल्ली, प्र.सं. 1986

शास्त्री विश्वबंधु – हिंदी का आत्मकथा साहित्य
राधा प्रकाशन, सीताराम बाजार, दिल्ली, प्र.सं. 1984

शुक्ल रामचंद्र – हिंदी साहित्य का इतिहास
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 22वाँ सं. संवत् 2045

सत्यार्थी देवेन्द्र – चांदसूरज के बीरन
एशिया प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1953

सत्यार्थी देवेन्द्र – नीलयक्षिणी
पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1985

सिंह नामवर – छायावाद
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1955
(छात्र संस्करण 1997)

—>

सिंह बच्चन – हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1997

सिंह वासुदेव – हिंदी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास (आधुनिककाल)
संजय बुक सेंटर, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1983

सिंह श्यौराज, चौबे देवेन्द्र (संपादक) – चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य
नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, बिहार

सीमोन द बोउवार – स्त्री उपेक्षिता (अनु. प्रभा खेतान)
हिंद पाकेट बुक्स, दिल्ली, संस्करण 1998

सूरदास – भ्रमरगीत
सं. रामचंद्र शुक्ल, रामचंद्र पोरवाल एण्ड संस,
शारदा साहित्य सदन वाराणसी

सोबती कृष्णा – मित्रो मरजानी
राजकमल पेपर बैक्स, चतुर्थ संस्करण, 1994

सोबती कृष्णा – सूरजमुखी अंधेरे के
राजकमल पेपर बैक्स, 1997

वर्मा महादेवी – श्रृंखला की कड़ियाँ
भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1942

हरिश्चंद्र भारतेंदु – भारतेंदु ग्रंथावली (तीसरा खण्ड)
संकलन एवं संपादन – ब्रजरत्नदास
काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र.सं. संवत् 2010

त्रिपाठी विश्वनाथ – हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
राष्ट्रीय अनुसंधान एवं शैक्षणिक परिषद्, नई दिल्ली
चतुर्थ संस्करण – 1992

पत्र–पत्रिकाएँ

1. अंगुत्तर – सम्पादक – भगवानदास (अप्रैल, मई, जून)
2. अम्बेडकर इन इण्डिया, जुलाई 2000, सम्पादक – दयानाथ निगम
3. आजकल – स्वर्ण जयंती अंक, मई–जून 1994, प्रकाशन विभाग दिल्ली
4. आजकल – जुलाई 2001, प्रकाशन विभाग दिल्ली
5. आलोचना – जन–मार्च 2001, प्र.सं. नामवर सिंह, राजकमल प्रका. दिल्ली
6. इण्डिया टुडे – 15 मार्च 2000, संपा. प्रभू चावला
7. इतिहास बोध – अप्रैल–जून 2003, संपा. लाल बहादुर वर्मा
8. कल के लिए – दलित साहित्य विशेषांक, दिसम्बर 1998, संपा. डॉ. जयनारायण
9. धर्मयुग – नवम्बर 1995, अंक–14, संपा. विश्व, सच.
10. नयापथ – जनवरी 1998, प्रधान संपा. शिवकुमार मिश्र
11. मड़ई – रावत नाच महोत्वस समिति, बिलासपुर, अंक–1, वर्ष–1, 1999
12. मनस्वी – मार्च 2000, संपा. सरोज कुमार
13. रविवार – 6–12 नवम्बर 1977श आनंद बाजार प्रकाशन
14. हस्तक्षेप – राष्ट्रीय सहारा – सहारा प्रकाशन नोएडा
15. हंस – आत्मकथांक, जनवरी–फरवरी 1932, संपा. प्रेमचंद
16. वंचित वाणी – वर्ष–2, अंक–10, फरवरी 2003, सम्पा. राजेश्वर प्रसाद
17. कार्यवृत्त – आत्मकथा, जीवनी और संस्मरण गोष्ठी, अगस्त 10–11, 1986, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली
18. भारत – 16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्व विद्यालय

Jawaharlal Nehru University Library

कोश

1. आक्सफोर्ड डिक्शनरी – वॉल्यूम–1
2. आदर्श हिन्दी कोश – प्रथम संस्करण, संपा. रामचन्द्र पाठक
3. भागर्व शब्दकोश – भार्गव बुक डिपो, वाराणसी, सं. 2000.
4. वृहद् हिंदी कोश – ज्ञानमण्डल लि. 1969, बनारस
5. समान्तर कोश – अरविंद कुमार–कुसुम कुमार
6. हिन्दी शब्द सागर, पांचवा संस्करण
7. हिन्दी साहित्यकोश – भाग–2, संपा. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी, सं 2000
8. हिन्दी साहित्य शब्द कोश – संपा. देवेन्द्रनाथ शर्मा, गोपाल राय, ग्रन्थ निकेतन, पटना–6, प्रथम संस्करण, जुलाई 1970